स्पन्दकारिका

श्रीभट्टकल्लटवृत्तिसहिता

प्रो॰ नीलकंठ गुरुट्टू
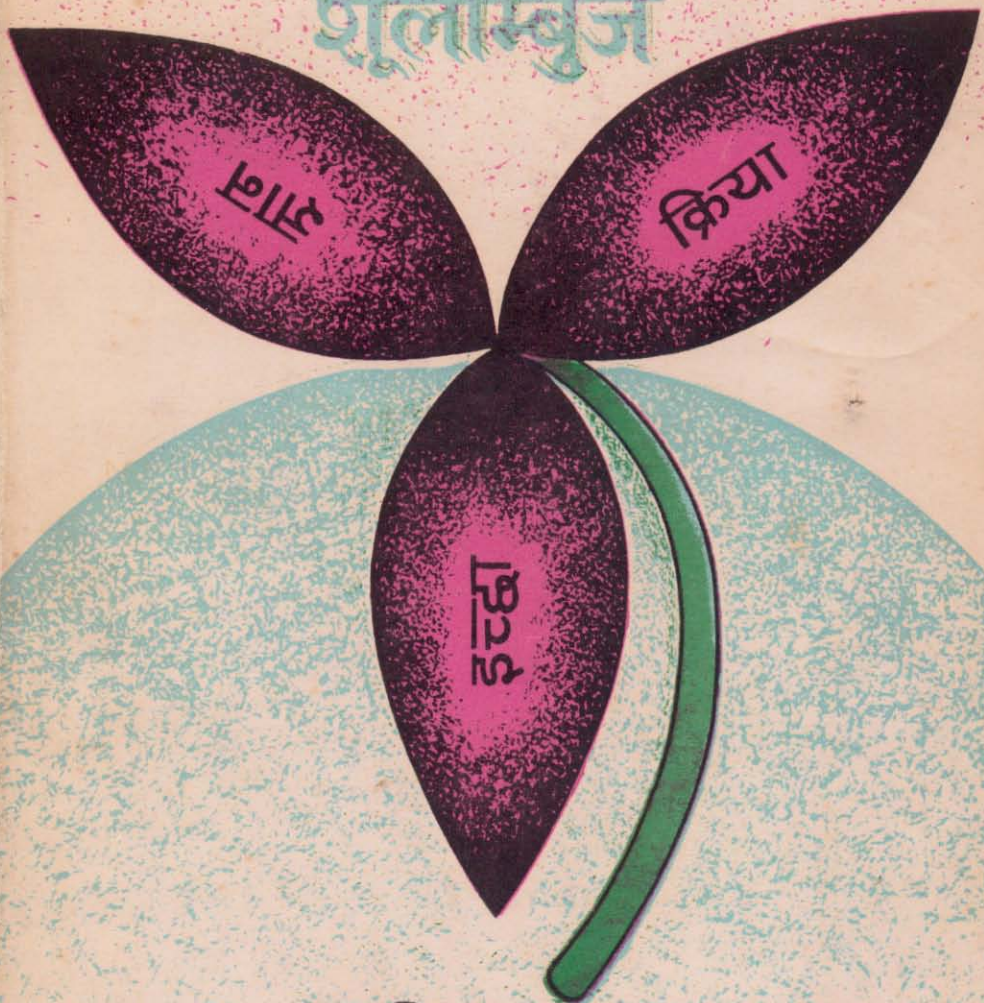
चिदानन्द

स्पन्द-कारिका

भट्टकल्लटाचार्य विरचित वृत्ति सहित

प्रो० नीलकंठ गुरुटू

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

स्पन्द-कारिका

भट्टकल्लटाचार्य विरचित वृत्ति सहित

हिन्दी अनुवाद और सूत्रों पर स्वतन्त्र विवरण

प्रो० नीलकंठ गुरुटू

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

समर्पण

आदरणीय सद्-गुरु
भगवत्पाद श्री स्वामी ईश्वर-स्वरूप को,
जिनकी पवित्र प्रेरणा से प्रस्तुत आंतरिक संकल्प
बाह्य साकारता को प्राप्त कर सका है ।
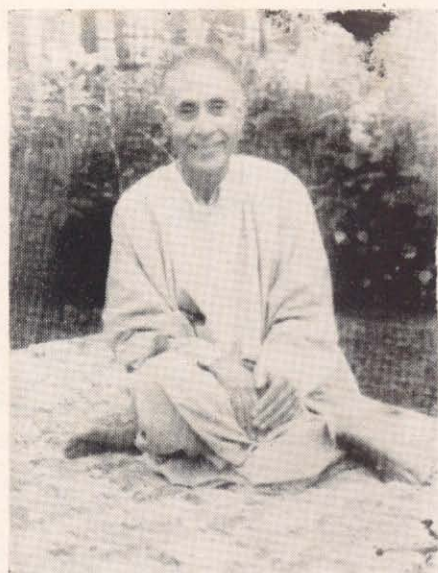
भगवत्पाद ईश्वरस्वरूप जी महाराज
(लक्ष्मण जी ब्रह्मचारी)

प्रातः स्मरणीय ईश्वर-स्वरूप जी महाराज का आशीर्वाद

श्री वसुगुप्ताचार्य के प्रधान शिष्य श्री भट्ट-कल्लट की स्पन्द-वृत्ति का हिन्दी अनुवाद, जिसे श्री गुरुटू जी ने अति प्रयास से किया है, देखकर हमारा मन अति प्रसन्न हुआ। स्पन्द-शास्त्र का विषय स्वभावतः अति गहन है। स्पन्द उस निर्विकल्प स्थिति को कहते हैं, जिसमें सारा विश्व त्वरितगति से चलायमान होने पर भी सामान्य अस्पन्दरूपता में ही अवस्थित है। विशेष-स्पन्द तो भेददृष्टि से देखने में आता है किंतु सामान्य-स्पन्द की भित्ति पर ही वह विशेष-स्पन्द की स्थिति आधारित है। यह सामान्य-स्पन्द अन्तरात्मा की वह दशा है जिसमें सभी गति, स्वरूप में ही होती रहती है, अतः इसे अस्पन्द-रूप स्पन्द यदि कहें तो अत्युक्ति न होगी।

श्री गुरुटू जी ने हमें अपना अनूदित ग्रन्थ दिखाया। इन्होंने अपने गहन शैव-संप्रदाय के ग्रन्थों का अध्ययन करने के उपरान्त यह अनुवाद किया है। इसमें सभी शैवी गुत्थियों को सुलझाया गया है। शैव सिद्धान्त के प्रेमियों के सम्मुख यह नवीन ग्रन्थ उनकी बरसों की पिपासा को शान्त करेगा—ऐसी धारणा है। ऐसा सुन्दर ग्रन्थ हिन्दी भाषा प्रेमियों के लिए अति उपयोगी सिद्ध होगा। हमारा हार्दिक आशीर्वाद है कि श्री गुरुटूजी आगे भी शैवी ग्रन्थों का इसी प्रकार का अनुवाद करके संस्कृत से अनभिज्ञ हिन्दी-प्रेमियों को लाभान्वित करेंगे। ऐसा यदि होगा तो उनका प्रयास सफल सिद्ध होगा।

लक्ष्मण जी ब्रह्मचारी,
गुप्त गंगा, काश्मीर
२१ अक्तूबर १९७९

स्वामी मुक्तानन्द

आदरणीय स्वामी मुक्तानन्द जी का आशीर्वाद

स्पन्द-कारिका काश्मीर शैव-सिद्धान्त का एक उत्तम ग्रन्थ है। स्पन्द-शास्त्र वैज्ञानिक है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने ऐसा पता लगाया है कि जगत् की उत्पत्ति एक बड़े प्रथम स्फोट के स्पन्दन से हुई है, जो अभी भी स्पन्दित हो रहा है और विश्व का विकास चालू है। लेकिन वे लोग अभी तक स्पन्द के मूल का पता नहीं लगा सके हैं। किन्तु हज़ारों वर्ष पूर्व के काश्मीर के शैव-सिद्धान्त के स्पन्द-शास्त्र ने बताया है कि परम तत्त्व की चैतन्य-शक्ति का स्फुरण ही वह स्पन्द है। इस चेतनामय प्रकाश-विमर्श-रूप परमेश्वर शिवजी के संकल्परूप उन्मेषमात्र से जगत् की उत्पत्ति हुई है। ज्ञानेश्वर महाराज ने परमेश्वर की यह सतत-स्थिति का वर्णन 'विश्वविकसित मुद्रा' के शब्दों से किया है। इस रहस्य को प्रकट करनेवाला यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, जानकर बड़ी खुशी हुई।

आधुनिक वैज्ञानिक अपने ज्ञान को आगे बढ़ाने के लिए इस ग्रन्थ का उपयोग अवश्य करेंगे। अमेरिका में वैज्ञानिकों की सभा में मैं स्पन्द-शास्त्र का ज़िक्र हमेशा करता हूं और वे इस विषय में उत्साहित रहते हैं और इसके बारे में ग्रन्थ पढ़ना चाहते हैं।

इस उत्तम काश्मीरीय दर्शन का प्रसार करने में श्री नीलकण्ठ गुरटू जो योगदान दे रहे हैं इसका मैं स्वागत करता हूं। वे महापुरुषों की संगति में तत्त्वान्वेषण करके सत्य का ज्ञान पाये हुए पुरुष हैं।

इस ग्रन्थ में प्रतिपादित सत्य-दर्शन के ज्ञान द्वारा विश्व की जनता का कल्याण हो इति आशीर्वाद।

स्वामी मुक्तानन्द

भगवती शारिका का आशीर्वाद

श्रद्धासम्पन्न श्री गुरुटू जी को स्पन्द-शक्ति-मय शिव आजीवन सफलता प्रदान करें ।

शुभाशीर्वाद सहित
शारिका

ग्रामुख

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।

प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥

परिपूर्ण अनुत्तर-भाव प्रकाश एवं विमर्श की नीरक्षीरात्मक समरसता की अवस्था है। वह न तो एकान्तिक चित् ग्रौर न एकान्तिक आनन्द, अपितु दोनों के मिश्रित रूप चिदानन्द का एक ऐसा पारावार है जो कि इच्छात्मक, ज्ञानात्मक ग्रौर क्रियात्मक स्फुरणा के रूप में प्रतिसमय हिलकोरें लेता रहता है। अहं विमर्श ही उस पर-तत्त्व में विश्वात्मक चेतना के रूप में नित्य अवस्थित रहनेवाली स्पन्द-शक्ति है। यही उस आलोकपुञ्ज का सारसर्वस्व, हृदय ग्रौर उसमें प्रवेश पाने का लोकोत्तर सिंहद्वार है। इस विश्वात्मक स्फुरणा में ही विश्वमयता की हलचल अर्थात् इसके बहिर्मुखीन प्रसार, विश्वरूप में अवस्थिति ग्रौर अन्तर्मुखीन अनुत्तर-धाम में ही पार्यन्तिक विश्रान्ति का रहस्य भरा हुआ है। यदि यह न होती तो कुछ न होता ग्रौर शायद इस 'कुछ न होने' की जैसी कल्पना का भी नितान्त अभाव ही होता। प्रस्तुत कारिकाग्रों में इसी स्पन्द नामवाली पारमेश्वरी शक्ति का विश्लेषण एवं विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

जहां एक ग्रोर भगवान सोमानन्द जैसे अनुभवी सिद्धों एवं प्रत्यभिज्ञा-शास्त्रियों ने पर-तत्त्व के प्रकाशपक्ष का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया, वहां दूसरी ग्रोर स्पन्द-शास्त्रियों ने उसके विमर्शपक्ष का विश्लेषण करके, विश्वमयता में ही उसके परिपूर्ण रूप का दर्शन करवाया, हां केवल उस दिव्य आभा का दर्शन करने के लिए आंखें चाहियें।

कश्मीर शैव-दर्शन का अमर सन्देश हिन्दी संसार तक पहुंचाने की कामना से, स्पन्द-कारिका ग्रौर उस पर श्री भट्टकल्लटाचार्य के द्वारा लिखी गई वृत्ति का हिन्दी अनुवाद पहली बार प्रस्तुत किया जा रहा है। अनुवाद के अलावा कारिकाग्रों के साथ अपनी ग्रोर से अलग-अलग विवरण भी जोड़ दिये गये हैं। आशा है कि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ परन्तु शैव-सिद्धान्त की मोटी-मोटी बातों को समझने के इच्छुक पाठक इस प्रयास से अवश्य लाभान्वित हो सकेंगे।

स्पन्द-कारिकाग्रों पर श्रीभट्टकल्लटाचार्य के अतिरिक्त अन्य कतिपय आचार्यों ने भी टीकायें लिखी हैं परन्तु आचार्यजी की लेखनी में गम्भीर आध्यात्मिक विषयों को, अत्यन्त सरल शब्दों में ग्रौर व्यावहारिक उदाहरणों के द्वारा

बोधगम्य बनाने का जैसा अनोखा जादू भरा हुआ है वैसा दूसरे टीकाकारों में अप्राप्य है। इसी कारण से प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद के लिए आचार्य जी की वृत्ति को ही चुना गया है।

पाठकों की सुगमता के लिए इस पुस्तक की भूमिका में भी कुछेक विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है।

नीलकंठ गुरुटू

सत्थू शीतलनाथ
श्रीनगर—कश्मीर
८-११-१९७९

विषयानुक्रमणिका

पहला-निःष्यन्द

भूमिका

देवि प्रपन्नवरदे गुणगौरि गौरि
यद्गौरियं परिमितं स्रवतीह किञ्चित्।
तत्स्वामिने समुचिते समये सुपाक-
माकूतवेदिनि निवेदयितुं प्रसीद ॥

(कश्मीरिक श्रीजगद्धर भट्ट)

प्रस्तुत प्रयास में जो कुछ भी अंकित हुआ है उसके विषय में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह प्रातःस्मरणीय भगवत्पाद ईश्वरस्वरूप जी महाराज की अन्तः-प्रेरणा का साकार रूपमात्र है। अपना तो कुछ नहीं है। अकिञ्चन के पास होता भी क्या है ?

कई वर्ष पहले एक दिन अकस्मात् भगवत्पाद के द्वारा, ईश्वराश्रम ('इशबर' श्रीनगर-काश्मीर) में नियमित रूप से चलनेवाली, रविवासरीय बैठकों में श्री भट्टकल्लट की वृत्ति के सहित स्पन्द-सूत्र को पढ़ाने का आदेश मिला। आदेश सुनते ही अन्तर्हृदय में किसी अननुभूतपूर्व धड़कन का आभास होने लगा। ऐसी बात नहीं थी कि इन बैठकों में कोई शैव ग्रन्थ पढ़ाने का यह पहला अवसर था, परन्तु भगवत्पाद के सामने स्पन्दसूत्र जैसे गम्भीर एवं अनुभूतिपरक विषय पर कुछ कहना मुझ जैसे अनाड़ी के लिए हृत्कम्प का कारण बन जाना स्वाभाविक ही था। अस्तु, आदेश तो आदेश ही था। इसमें अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। बिल्कुल आदेशानुसार कार्य का आरम्भ करना पडा। कुछेक शैवग्रन्थों का, स्पन्द के परिप्रेक्ष्य में, फिर से अध्ययन करना पड़ा परन्तु यथार्थ तो यह है कि इन सारे प्रयत्नों को आगे बढाने में, भगवत्पाद की दयादृष्टि का सबल संबल ही मूल प्रेरणादायक तत्त्व था। यह संबल भी किसी अलक्षित रूप में स्वयं ही प्राप्त होता रहा।

मन में, इसी बीच, अकस्मात् एक दिन यह संकल्प उठा कि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ परन्तु सत्शास्त्रों में रुचि रखनेवाले पाठकों के लिये, मूल-सूत्रों और वृत्ति का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जाये। अपने कई हितैषी मित्रों के समक्ष इस संकल्प को अभिव्यक्त किया। प्रत्युत्तर में उन्होंने इस दिशा में तुरन्त आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित किया और साथ ही यह सुझाव भी दिया कि मूलग्रंथ के भाषानुवाद के साथ-साथ हर एक सूत्र पर अलग-अलग विवरण भी लिखा जाये ताकि रुचिसम्पन्न पाठकों को सूत्रों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली शैव मान्यताओं को समझने में सहायता मिले। मित्रवर्ग के इस सहानुभूतिपूर्ण आग्रह को भी टालते न बना।

सम्भवतः इतनी सी पूर्वपीठिका से यह बात स्वयं स्पष्ट हो जाती है कि प्रस्तुत प्रयास शैवशास्त्र के धुरन्धर एवं उद्भट विद्वानों के लिये कोई अर्थ नहीं रखता है। एक लघुदीपक मध्याह्न के प्रखर सहस्रकिरण को क्या प्रकाश दे सकता है ? तथापि मन में इस बात का पूर्ण विश्वास है कि इसको देखकर कम से कम उनके मन में निराशा के भाव का उदय नहीं होगा क्योंकि वर्तमान युग के चतुर्दिक् क्षुब्ध वातावरण में, मानवमात्र को हार्दिक शान्ति प्रदान करनेवाली, इस भारतीय पूर्वजों की थाती को आगे बढ़ाने की दिशा में, जितना भी और जो कुछ भी किया जाये बहुत कम है। फलतः यदि उल्लिखित बन्धुवर्ग को प्रस्तुत प्रयास के द्वारा अल्पमात्रा में भी हार्दिक संतोष प्राप्त होगा तो वह पारमेश्वर शक्तिपात का ही अलौकिक चमत्कार समझा जायेगा।

स्पन्द-सूत्रों का वर्ण्य विषय सततस्पन्दमयी पारमेश्वरी विमर्शशक्ति होने के कारण, प्रस्तुत अनुवाद-कार्य ईश्वराश्रम में रहनेवाली तपस्विनी भगवती शारिकादेवी के ही एक जन्मदिवस पर आरम्भ करके, दो वर्षों के पश्चात् आनेवाले दूसरे जन्मदिवस के अवसर पर, समाप्त भी किया गया। इस पुनीत दिवस पर जहां आश्रम में आनेवाले भक्तजन, भगवती के सामने स्वादिष्ट मिष्ठान्नों के ढेरों के ढेर एकत्रित कर लेते हैं, वहाँ किसी रिक्त कोने में अकिञ्चन की यह तुच्छ भेंट भी शायद अपना स्थान बनाने में सफल होगी।

यहाँ पर पाठकों की उत्सुकता को शान्त करने के लिये भगवती शारिकादेवी का परिचय देना आवश्यक है। त्याग और तपस्या की साक्षात् मूर्ति भगवती शारिकादेवी श्रीसद्गुरुमहाराज की मुख्य शिष्या हैं। जन्म १६१४ की मार्ग शुक्ल द्वितीया को एक समृद्धिशाली कश्मीरी पण्डित घराने में हुआ। पिता का नाम श्री जियालाल सोपोरी और माता का नाम सुश्री राधिकारानी था। आप में जन्मकाल से ही आध्यात्मिक भावनायें प्रस्फुटित थीं अतः आपने सांसारिक प्रलोभनों के बन्धनों में फँसना स्वीकार नहीं किया। केवल पंद्रह वर्ष की अवस्था ही में आपको सद्गुरुमहाराज से दीक्षा मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तब से ही आपने अपने अत्यन्त कठिन त्यागमय और साधनामय जीवन का लक्ष्य स्वरूपलाभ ही बनाया है। बाह्य-जगत् के क्षुब्ध एवं कोलाहलपूर्ण वातावरण में भी, आप, प्रतिसमय मौन एवं शान्त रहकर, तन-मन से गुरुभक्ति एवं परमार्थ-विचार में ही लीन रहती हैं।

स्पन्द-सम्प्रदाय

कश्मीर के सभी शैवक्षेत्रों में, प्राचीनकाल से ही चली आ रही एक जनश्रुति के अनुसार, नवीं शताब्दी ईसा से पहले की कई शताब्दियाँ, यहाँ के दार्शनिक संसार का अंधकार-युग माना जाता है। इस समय में नागबोधि जैसे

प्रचण्ड बौद्ध आचार्यों और अन्य मतावलम्बियों ने, यहाँ के दार्शनिक क्षेत्र में द्वैत-मूलक सिद्धान्तों की स्थापना करके, सर्वसाधारण जनता को वास्तविकता से बहुत दूर ले जाकर, भ्रान्ति के गड्ढे में ढकेल दिया था। ऐसी अवस्था में पड़े हुए लोगों का उद्धार करने की इच्छा से, अनुग्रहैकमूर्ति भगवान भूतनाथ ने, वसुगुप्त नामक सिद्ध को स्वप्नदशा में स्वयं दीक्षित करके, महादेव पर्वत की तलहटी (वर्तमान दाछीगाम) में विद्यमान एक उपल (वर्तमान शङ्कर-पल) पर उत्कीर्ण, अद्वैत शैव-सिद्धान्त के सूत्रों का पता बता दिया और उनमें अन्तर्निहित रहस्य को भी समझा दिया। साथ ही यह आदेश भी दिया कि वह वहाँ से उन सूत्रों का संग्रह करके, उनमें निहित रहस्य को अन्धकारावृत लोगों को समझा कर, उनका उद्धार करे। सिद्ध वसुगुप्त ने भगवान के आदेशानुसार वहाँ से उन सूत्रों का संग्रह किया और श्रीभट्ट-कल्लट आदि सद्-शिष्यों को उनका यथावत् अध्ययन भी कराया। साथ ही स्वयं उन सूत्रों में वर्तमान, शक्तिमान और शक्ति के पूर्ण अभेदसिद्धान्त का सार, इकावन कारिकाओं में संग्रहीत भी किया। आगे चलकर उन्हीं इकावन कारिकाओं को स्पन्दकारिका, स्पन्दसूत्र या शक्तिसूत्र की संज्ञा दी गई।

श्रीभट्टकल्लट ने परतत्त्व की विमर्शप्रधानता के सिद्धान्त को अपनाकर इन स्पन्द-सूत्रों पर अपनी वृत्ति लिखी और स्पन्द-सम्प्रदाय का शिलान्यास किया। ऊपर उल्लेख किया गया है कि सिद्ध वसुगुप्त के द्वारा अद्वैत शैव-दर्शन का पुनरुद्धार हुआ। वास्तव में उस समय इस दर्शन का दूसरी बार पुनरुद्धार हुआ। सिद्ध वसुगुप्त से पहले बहुत प्राचीनकाल में भी, प्रतिकूल विचारधाराओं के प्रचण्ड प्रहारों से, इसका उच्छेद हो चुका था। उस काल में भी भगवान आशुतोष ने, अंधकार में पड़े हुये लोगों का उद्धार करने की इच्छा से, श्रीकण्ठ की मूर्ति धारण करके, भगवान दुर्वासा के द्वारा इसका पुनरुद्धार करवाया था। इस घटना का उल्लेख भगवान अभिनव-गुप्त ने अपने तंत्रालोक के प्रथम आह्निक में विस्तारपूर्वक किया है।

स्पन्द-सम्प्रदाय का उपलब्ध साहित्य

जिसप्रकार सिद्ध वसुगुप्त के अनन्तर श्रीसोमानन्द और उसकी शिष्य-परम्परा ने एक से एक बढ़कर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना करके विशाल प्रत्यभिज्ञा-साहित्य की सर्जना की उस प्रकार स्पन्द-सम्प्रदाय में ऐसे किसी मौलिक लेखक का नाम नहीं मिलता है जो इस विषय पर स्पन्दकारिका के अतिरिक्त अन्य किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना करता। इसका कारण क्या है, यह कुछ समझ में नहीं आता है। यह सोंचना भी गलत है कि ऐसे ग्रन्थ लिखे तो गये होंगे परन्तु बाद में राजनैतिक विषमताओं के कारण काल-

कवलित हो गये। यदि ऐसा ही हुआ होता तो प्रत्यभिज्ञा-साहित्य या शैव-दर्शन के दूसरे प्राचीन आगम-ग्रन्थ या स्वयं स्पन्द-सूत्र ही उन विषमताओं के कठोर प्रहारों से कैसे बच सकते ? अतः स्पष्ट है कि स्पन्द विषय पर सिद्ध वसुगुप्त के अनन्तर, स्पन्द-कारिकाओं के अतिरिक्त, कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं लिखा गया। इस विचार में भी कोई सार नहीं दिखता है कि कश्मीर में अधिकतर संख्या शैवों की ही रही है शाक्तों की नहीं। आजकल भी यहाँ शाक्त-क्रम पर चलनेवाले लोगों की कमी नहीं है। फिर इसमें क्या कारण हो सकता है, यह स्वयं शिवभट्टारक ही जानते हैं।

स्पन्द-सूत्रों पर बहुत सी वृत्तियाँ या टीकायें अवश्य लिखी गईं। इनमें से कई आज भी उपलब्ध हैं और कइयों का केवल उल्लेख मिलता है। अभिनवगुप्तपाद के प्रधान शिष्य श्रीक्षेमराजाचार्य ने अपने स्पन्द-निर्णय में अनेकों विवृत्तियों का उल्लेख किया है :—

'यद्यप्यस्मिन् विवृत्तिगणना विद्यते नैव शास्त्रे'॥

उन्होंने विशेषतः सूत्राङ्क १७ और १८ की व्याख्या में भट्टलोल्लट की वृत्ति और अन्य टीकाकारों की टीकाओं का उल्लेख किया है। ये वृत्तियाँ या टीकायें उनके समय में उपलब्ध रही होंगी परन्तु दुर्भाग्य से आजकल उपलब्ध नहीं हैं। आजकल जो वृत्तियाँ या टीकायें उपलब्ध हैं उनका ब्यौरा निम्नलिखित प्रकार से है :—

I. श्रीभट्टकल्लट की स्पन्दकारिकावृत्ति। पाठकों के हाथों में इसी वृत्ति का भाषानुवाद है।
II. श्री क्षेमराज का स्पन्द-सन्दोह। यह केवल पहले ही स्पन्द-सूत्र पर लिखी गई एक विस्तृत टीका है और इसी में अन्य सारे सूत्रों का सार संगृहीत किया गया है।
III. श्री क्षेमराज का ही स्पन्द-निर्णय। इसमें सारे स्पन्द-सूत्रों की अलग-अलग टीका लिखी गई है।
IV. श्री रामकंठ की स्पन्दकारिका-विवृत्ति। यह विवृति श्रीभट्टकल्लट की वृत्ति का आशय पूर्णतया प्रकाश में लाने के अभिप्राय से लिखी गई है।
V. श्री उत्पल (वैष्णव) की स्पन्द-प्रदीपिका। यह भी सारे स्पन्द-सूत्रों पर लिखी गई विस्तृत टीका है। श्री उत्पल (वैष्णव) के विषय में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह व्यक्ति ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के लेखक भगवान उत्पलदेव से भिन्न कोई दूसरा व्यक्ति था।

इस उपलब्ध साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह तथ्य भली-भाँति समझ में आता है कि इन टीकाकारों में बहुधा पारस्परिक मतभेद

और दृष्टिकोणों की भिन्नता रही है। प्रत्येक लेखक ने किसी विशेष आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाकर ही सूत्रों की व्याख्या की है।

सिद्ध वसुगुप्त और श्री भट्टकल्लट का समय

इसमें न तो किसी प्रकार का खेद है और न कोई आश्चर्य है कि इन दोनों सिद्ध पुरुषों ने अपने जीवनवृत्त या वंशावली के विषय में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है क्योंकि ऐसा करने में इन्होंने विशुद्ध भारतीय मर्यादा का ही पालन किया है। परवर्ती लेखकों ने भी इनके विषय में जितना उल्लेख किया है उससे केवल इतना ज्ञात होता है कि अर्वाचीन शैवक्षेत्र इनको सिद्ध गुरुओं के रूप में स्मरण करते आये हैं। क्षेमराजाचार्य ने स्पन्द-निर्णयके उपोद्घात में, उल्लिखित जनश्रुति का उल्लेख करने के अवसर पर, जहाँ सिद्ध वसुगुप्त का मात्र नामनिर्देश किया है वहाँ श्रीभट्टकल्लट की प्रासङ्गिक चर्चा भी नहीं की है। आचार्यजी ने केवल शिवसूत्र-विमर्शिनी के उपोद्घातमें सिद्ध वसुगुप्त को महामाहेश्वर सिद्धगुरु और श्रीभट्टकल्लट को उनके अन्यतम शिष्य के रूप में स्वीकार किया है। इसके प्रतिकूल कश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी में, मुख्यरूप में, श्रीभट्टकल्लट का ही नाम लेकर, उसके समकालीन अन्य सिद्धों का 'आदि' शब्द से गौणरूप में ही निर्देश किया है :-

अनुग्रहाय लोकानां भट्टश्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन् ॥

(राजतरङ्गिणी; ५, ६६)

इन दोनों के अतिरिक्त दूसरे शैवलेखकों ने भी अपनी कृतियों में इन दोनों का, गुरु और शिष्य के रूप में, केवल नामोल्लेख किया है। अतः इस विषय में तबतक मौन का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है जबतक इसपर अलग शोध न किया जाये।

जहाँतक इन दोनों के समय का सम्बन्ध है, हमें श्री कल्हण का परम आभार स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि उन्होंने इस समस्या का समाधान करके रखा है। अभी ऊपर जो राजतरङ्गिणी का पद्य उद्धृत किया गया है उसके अनुसार श्रीभट्टकल्लट और अन्य कई सिद्धों ने, लोगों पर अनुग्रह करने के लिये, कश्मीर के प्रसिद्ध राजा अवन्तिवर्मन् के शासनकाल में, पृथिवीपर अवतार लिया था। श्री कल्हण ने राजतरङ्गिणी के ही एक अन्य पद्य में अवन्तिवर्मन् के राज्याधिरोहण का काल लौकिक संवत् २६०० बताया है। श्लोक इसप्रकार है :—

एकोनत्रिंशे स वर्षेऽथ प्रजाविप्लवशान्तये।
विनिवार्योत्पलापीडं तमेव नृपतिं व्यधात् ॥

(राजतरङ्गिणीः ४, ७१६)

यह संवत् श्री स्टैन महोदय की गणना के अनुसार ईस्वी ८५५/५६ बैठता है। अवन्तीवर्मन् का राज्यकाल ३१ वर्ष का रहा है अतः ईस्वी सन् ८८६/८७ अवन्तीवर्मन् के समय की अपर सीमा है। सिद्ध वसुगुप्त और श्रीभट्टकल्लट आपस में गुरु और शिष्य रहे हैं अतः उनके समकालीन होने में तनिक भी संशय नहीं है। दूसरी ओर कल्हण ने श्रीभट्टकल्लट को सिद्ध के रूप में स्मरण किया है। उसको सिद्धावस्था प्राप्त करने में कम से कम पचास वर्ष तो लगे ही होंगे। अतः यदि उसके प्रादुर्भाव का समय नवीं शताब्दी का आरम्भ माना जाये तो सिद्ध वसुगुप्त के प्रादुर्भाव का समय बीस वर्ष प्रति पीढ़ी के हिसाब से पीछे लेकर आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त होगा।

स्पन्द-सूत्रों का वास्तविक लेखक

इस सम्बन्ध में भी प्राचीनकाल से ही यहाँ के शैव आचार्यों में पारस्परिक मत-भेद चलता आ रहा है। आजतक भी यह प्रश्न विवादग्रस्त ही है और इसका कोई निश्चित एवं संतोषजनक समाधान प्राप्त नहीं हो सका है। कई आचार्यों के विचार में मूल सूत्रों की रचना स्वयं सिद्ध वसुगुप्त ने ही की है और श्री भट्टकल्लट ने, गुरु की सूत्रात्मक भाषा का आशय समझाने के लिये, इनपर वृत्ति लिखी है। आजकल भी यहाँ के शैव-क्षेत्रों में बहुमत इसी मान्यता का समर्थन कर रहा है। इसके प्रतिकूल कई आचार्यों का मत यह है कि मूलसूत्रों की रचना श्री भट्टकल्लट ने की है और अपनी ही भाषा का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये इन पर स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है।

इस दूसरी मान्यता के समर्थकों में स्पन्दप्रदीपिका के लेखक श्री उत्पल (वैष्णव) और शिवसूत्रवार्तिक के लेखक श्री भास्कराचार्य प्रमुख हैं। श्री उत्पल का कथन है कि श्री भट्टकल्लट को तत्त्वदर्शी गुरु (वसुगुप्त) से यह रहस्य मिला और उसने इसको श्लोकबद्ध किया—

वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः।
रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लटः॥

(स्प० प्र० ५३ वां पद्य)

श्री भास्कराचार्य ने, अपने शिवसूत्रवार्तिक के उपोद्घात में पूर्वोक्त जन-श्रुति का उल्लेख करते हुये, अपनी यह मान्यता प्रस्तुत की है कि प्राचीन समय में गुरु वसुगुप्त को, किसी सिद्ध के आदेश से महादेव पर्वत पर शिव-सूत्र मिले थे। उसने वे सूत्र और उनका रहस्य श्री भट्टकल्लट को दे दिया। सूत्र चार खण्डों में विभक्त थे। श्री भट्टकल्लट ने इनमें से पहले तीन खण्डों की व्याख्या अपने स्पन्द-सूत्रों में और, अन्तिम खण्ड की व्याख्या अपनी 'तत्त्वार्थ-चिन्तामणि' नामक टीका में की। श्री भास्कराचार्य के शब्द इस प्रकार हैं—

श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा ।
सिद्धादेशात्प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि ॥
सरहस्यान्यतः सोऽपि प्रदाद्भट्टाय सूरये ।
श्रीकल्लटाय सोऽप्येवं चतुःखण्डानि तान्यथ ॥
व्याकरोत्त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः ।
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिमम् ॥

(शिवसूत्रवार्तिक उपोद्घात)

श्रीउत्पल (वैष्णव) और श्रीभास्कर की इस मान्यता का आधार क्या है, इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है और न इन्होंने स्वयं ही इस विषय में कुछ कहा है ।

श्री क्षेमराजाचार्य का मत है कि सूत्रों की रचना स्वयं सिद्ध वसुगुप्त ने ही की है । उन्होंने अपनी इस मान्यता को, स्पन्दनिर्णय के अन्त में अपनी ओर से जोड़े हुये एक पद्य में अभिव्यक्त किया है । वह पद्य इस प्रकार है—

लब्ध्वाप्यलभ्यमेतज्ज्ञानधनं हृद्गुहान्तकृतनिहितेः ।
वसुगुप्तवच्छिवाय हि भवति सदा सर्वलोकस्य ॥

(स्पन्द निर्णय ४,२)

जहाँतक श्री रामकण्ठाचार्य की विवृति का सम्बन्ध है उससे भी, पाठक को, किसी अन्तिम एवं निश्चित निर्णय पर पहुँचने में कोई सहायता नहीं मिलती है । यहाँ के रिसर्च कार्यालय द्वारा प्रकाशित विवृति (संवत् १९६९ संस्करण) के पृष्ठाङ्क ३ पर उल्लिखित 'केनापि ग्रथितां प्रसारणधिया ………' इत्यादि उपोद्घातात्मक पद्य में श्रीरामकण्ठाचार्य ने सूत्रावली को ग्रथन करनेवाले किसी निश्चित व्यक्ति का नाम नहीं लिया है । इसी पद्यपर लिखी हुई टिप्पणी में स्पष्ट शब्दों में लिखा हुआ है कि श्री वसुगुप्तपाद ने ही सर्वप्रथम सूत्रावली की रचना की है—'प्रथमं वसुगुप्तपादैः सूत्रावलिः दृब्धा' । यह टिप्पणी चाहे किसी ने भी लिखी हो, परन्तु किस आधार पर लिखी है इसका सूत्र कहीं भी प्राप्य नहीं है । दूसरी ओर आचार्य जी ने 'अगाधसंशया………' इत्यादि अन्तिम पद्य की विवृत्ति में गुरु वसुगुप्त का नाम तो लिया है परन्तु स्पष्ट शब्दों में उसको सूत्रकार उद्घोषित नहीं किया है । यदि यह माना भी जाये कि आचार्य जी श्री भट्टकल्लट को ही मूल सूत्रकार मानने के पक्ष में थे, तो भी इस शङ्का का समाधान नहीं होने पाता है कि उन्होंने फिर यह बात किसी स्थान पर स्पष्ट शब्दों में क्यों नहीं लिखी ? साथ ही आचार्य जी के इन शब्दों से यह स्थिति भी पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो जाती है कि क्या गुरु वसुगुप्त ने अपने शिष्य को अद्वैत-सिद्धान्त का रहस्य सूत्ररूप में दिया था या मौखिक उपदेश के रूप में ?

आज से कुछ दिन पहले प्रस्तुत लेखक के परम आदरणीय गुरुवर्य डा० बलजिन्नाथ पण्डित शिमला से यहाँ पधारे थे। ईश्वरआश्रम में श्री सद्‌गुरु ईश्वर स्वरूप जी महाराज के समक्ष ही सौभाग्यवश उनसे भेंट हुई और प्रस्तुत विषय की चर्चा भी छिड़ गई। डा० महोदय श्री भट्टकल्लट को ही मूल सूत्रकार मानने के पक्ष में हैं। इस विषय में वे उल्लिखित श्रीभास्कराचार्य की मान्यता को ही श्री क्षेमराजाचार्य की मान्यता की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक मानते हैं। साथ ही उनका कथन है कि उनके गुरुमहाराज प्रातः स्मरणीय श्री अमृतवाग्भवाचार्य महाराज का मत भी यही है। इसके प्रतिकूल श्री सद्‌गुरु ईश्वरस्वरूप जी महाराज अपने गुरुक्रम से चली आ रही परम्परा के आधार पर, सिद्ध वसुगुप्त को मूलसूत्रकार मानते हैं। अस्तु, परमेश्वरस्वरूप गुरुओं की बातें गुरु ही जानें। प्रस्तुत लेखक को, उनकी मान्यताओं को उचित या अनुचित ठहराने का न तो कोई अधिकार है और न उसमें ऐसा साहस है। केवल अपनी ओर से इतना नम्र निवेदन है कि यदि श्री भट्टकल्लट के अपने ही पद्य—

अगाधसंशाम्बोधि समुत्तरणतारिणीम्।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम्॥

(स्पन्दकारिका वृत्ति ५२ वाँ पद्य)

के अर्थ पर निष्पक्षता से विचार किया जाये, तो सहज ही में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वास्तव में सूत्रकार होने का श्रेय सिद्ध वसु गुप्त को ही प्राप्त है। मूल स्पन्दसूत्रों की संख्या ५१ है। श्रीक्षेमराजाचार्य ने भी स्पन्दनिर्णय के उपोद्घात में मूलसूत्रों की यही संख्या बताई है। इससे यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि उल्लिखित कारिका श्री भट्टकल्लट ने मूलसूत्रों पर वृत्ति लिखने के अनन्तर, गुरुभारती की वन्दना करने के लिये, अपनी ओर से जोड़ दी है। यदि मूलसूत्र भी उनके अपने ही शब्द होते तो सम्भवतः उनको यह कारिका लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कोई भी विवेकशाली व्यक्ति, अपने ही शब्दों को 'गुरुभारती' का नाम देकर और कारिका में वर्णित विशेषणों से सजाकर, स्वयं ही उनकी वन्दना करता हुआ देखा नहीं जाता है। अतः सिद्धवसुगुप्त के ही मूलसूत्रकार होने की मान्यता स्वयं वृत्तिकार के ही शब्दों से प्रमाणित होती है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत अनुवाद के ही मूल पुस्तक, यहाँ के रिसर्च कार्यालय द्वारा प्रकाशित स्पन्दकारिका (श्री कल्लटाचार्य वृत्ति-संवत् १८७० संस्करण) के अन्त में, तीन श्लोकों का एक अलग परिशिष्ट जैसा छपाया गया है। ये तीन श्लोक श्री भट्टकल्लट ने लिखे हैं अथवा किसी और ने, कुछ पता नहीं है। इनमें से दूसरा श्लोक इस प्रकार है—

इत्थं महादेवगिरौ महेशस्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धोः ।
स्पन्दामृतं यद्वसुगुप्तपादैः श्रीकल्लटस्तत्प्रकटीचकार ॥

उल्लिखित श्लोकों की रचना चाहे जिस किसी व्यक्ति ने की हो परन्तु यहाँ पर उद्धृत श्लोक, स्पष्ट शब्दों में, वसुगुप्तपाद को ही सूत्रकार और श्री भट्टकल्लट को वृत्तिकार उद्घोषित करता है।

अस्तु, यद्यपि बहुमत इसी मान्यता के पक्ष में है तथापि इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने लिये निष्पक्ष शोधकार्य की आवश्यकता है।

स्पन्द क्या है ?

शिवशक्तिसामरस्य ही, सदाशिव तत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्वतक, सारे जड-चेतनात्मक विश्व का आधार-भूत एवं शाश्वत यथार्थ है। स्पन्दशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में इसी को चिन्मात्ररूप आत्मसत्ता भी कहते हैं। इस सामरस्य में शिव प्रकाश है और, शक्ति उसका विमर्श है। शिव और शक्ति अथवा प्रकाश और विमर्श यह केवल कहने–सुनने के लिये मात्र औपचारिक द्वित्व है। वास्तव में यह नीरक्षीरात्मक सामरस्य है। अस्तु, विमर्श प्रकाश की स्पन्दना है और स्पन्दना होने के कारण प्रकाश का प्राण है। यदि प्रकाश में प्राणभूत स्पन्दना न हो तो प्रकाश की सत्ता ही क्या ? शक्तिहीन शिव की कल्पना शव की कल्पना से कुछ अधिक नहीं है। फलतः प्रकाशरूप शिव की, निजी अभिन्न, अहंविमर्शरूपा शक्ति ही स्पन्द है और स्पन्दना ही शिव का स्वातन्त्र्य है।

स्पन्दशक्ति में ज्ञातृता और कर्तृतारूप स्वातन्त्र्य

शक्ति के पाँच मुख हैं—'चित्, निर्वृत्ति (आनन्द), इच्छा, ज्ञान और क्रिया'। इनमें से चित्ता और आनन्दता शिव के साथ इस रूप में घुली-मिली हैं कि इनका मात्र कल्पनात्मक पार्थक्य भी सम्भव नहीं है। इच्छा यद्यपि इनका ही स्थूलरूप है तथापि शिवभूमिका पर उसका वैसा रूप नहीं है जैसा पशुभूमिका पर है। शिव पशु के समान, स्थूल रूप में, न कभी आम खाना चाहता है और न कभी पेड़ ही गिनना चाहता है। शैव-मान्यता के अनुसार, उस भूमिका पर इच्छा का रूप चित्ता और आनन्दता का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभ्युपगममात्र (शिवत्व में इन दोनों की वर्तमानता का स्वीकार) है। इस अभ्युपगम में भी, बहिर्मुखीन उन्मुखता न होने के कारण, इच्छा भी शिवत्व में ही विश्रान्त अवस्था में वर्तमान है। शेष रह जाते हैं ज्ञान और क्रिया। इन्ही दो रूपों में शाश्वत् शाक्त-स्पन्दना, पतिभूमिका और पशुभूमिका पर युगपत् ही, स्पन्दायमान है। फलतः ज्ञातृता और तदनुकूल कर्तृता (सब कुछ जानने और करने का स्वातन्त्र्य = पूर्णकर्तृत्व) यही स्पन्दशक्ति का स्वरूप है

और यही उसमें स्वातन्त्र्य है। इसी स्वातन्त्र्य के द्वारा वह गृहीता-भूमिका, ग्रहण-भूमिका और ग्राह्य-भूमिका पर युगपत् ही स्पन्दायमान है।

शक्ति के पाँच मुखों का यह अभिप्राय नहीं है कि ये पाँच प्रकार की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं। वास्तव में शक्ति एक ही है। इसका मूलरूप स्वतन्त्र चित्ता (चिन्मात्ररूपता) है। यह शक्तिमान से अभिन्न है। चित्ता का ही स्थूल रूप आनन्द, आनन्द का ही स्थूलरूप इच्छा, इच्छा का ही स्थूलरूप ज्ञान और ज्ञान का ही स्थूलरूप क्रिया है। शिव, सृष्टि संहार आदि पाँच कृत्य करता है क्योंकि उसमें ज्ञान है; वह जानता है क्योंकि उसमें इच्छा है, वह चाहता है क्योंकि उसमें आनन्द है, वह आनन्दमय है क्योंकि वह पूर्णचैतन्य है। फलतः चित्ता ही शिव हैं और शिव ही चित्ता है। केवल 'शिवशक्तिसामरस्य' है।

स्वस्वभाव[१] या स्वभाव

संसार-भूमिका पर किसी भी प्राणिविशेष या वस्तुविशेष में, उत्पत्ति से लेकर अन्त तक प्रायः एक ही रूप में रहनेवाले, किसी विशिष्ट गुण या प्रकृति को **स्वभाव** कहा जाता है। इस भूमिका पर, प्रत्येक पदार्थ के विशिष्ट एवं अन्य पदार्थों से भिन्न होने के कारण, यह **स्वभाव** भी विशिष्ट एवं विभिन्न प्रकार का होता है अतः इसको समष्टिरूप नहीं अपितु व्यष्टिरूप ही कहा जा सकता है। इसके प्रतिकूल अध्यात्म-भूमिका पर **स्वभाव या स्वस्वभाव** शब्द से उस सामान्यरूप मौलिक तत्त्व का अभिप्राय है जो विश्व के प्रत्येक जड़ अथवा चेतन पदार्थ में, एक ही मौलिक सत्ता के रूप में अनुस्यूत होकर अवस्थित है। वह तत्त्व उन विभिन्न वेद्यपदार्थों के प्रकाशन, स्थिति और संहार का मूलकारण होने से कर्तृभूत सत्ता है और स्वयं कार्यभूत प्रमेयता के स्पर्शमात्र से भी बहुत दूर है। वह निरवच्छिन्न, अकालकलित और स्वतन्त्र होने के कारण विशुद्ध चिन्मात्ररूप है। वही तत्त्व प्रस्तुत स्पन्द-सूत्रों में वर्णित आत्मसत्ता है और **स्वरूप** अथवा **स्वस्वरूप** जैसे अन्य पारिभाषिक शब्द भी उसी को अभिव्यक्त करते हैं।

स्पन्दशास्त्र में अवस्थायुगल

यदि शैवदर्शन के मूलमन्त्र पूर्ण-अभेद के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाये

---

१. स्पन्दशास्त्र में स्वस्वभाव या स्वस्वरूप जैसे शब्दों में 'स्व' शब्द की पुनरुक्ति का दोष नगण्य है क्योंकि इस दर्शन में इस पुनरुक्ति के द्वारा आत्मतत्त्व की मौलिकता, मलहीनता और शाश्वतिक वर्तमानता अभि-व्यक्त की गई है। भाषा के नियमों को दृष्टिपथ में रखकर प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद में इस पुनरुक्ति के परिहार का प्रयत्न तो किया गया है परन्तु कुछेक स्थानों पर इसका प्रयोग अनिवार्य बन गया।

तो यही तथ्य समझ में आता है कि विश्व के कण कण में अथवा विश्वोत्तीर्ण रूप में मात्र स्पन्दमयी आत्मसत्ता की विद्यमानता है। उसको अवस्था विशेषों की सीमाओं में बन्द करना महती भ्रान्ति है। अस्तु, इसके बिना कोई चारा भी नहीं हैं क्योंकि संसारभूमिका का निर्वाह भेददृष्टि को अपनाने के बिना नहीं हो सकता है। भेद तो अभेद का ही बहिर्मुखीन विकास है अतः इसको कैसे झुठलाया भी जा सकता है ?

परतत्त्व शक्तिमान होने के कारण, अपनी निर्बाध एवं स्वतन्त्र शक्ति-विजृम्भणा के द्वारा, स्वयं ही कर्तृता-अवस्था और कार्यता-अवस्था में अवभासमान होकर, विश्व के उत्थान एवं पतन की क्रीडा करता रहता है। इन दो अवस्थाओं में से कार्यता-अवस्था स्वरूप–विकास और कर्तृता-अवस्था स्वरूप-विश्रान्ति है। कार्यता केवल उपाधि है क्योंकि वह कर्तृता के प्रकाश पर उपजीवित है और बोध–प्राप्ति के तत्काल ही विलीन हो जाती है। इसके प्रतिकूल कर्तृता-अवस्था, नित्योदित-बोधरूपा होने के कारण, शाश्वत वास्तविकता है। आत्मकल्याण चाहनेवाले व्यक्तियों के लिये कर्तृता उपादेय और कार्यता हेय है। भारत के लगभग समूचे दार्शनिक संसार में स्वतन्त्र कर्तृता को 'अहंता' और परतन्त्र कार्यता को 'इदन्ता' शब्दों से अभिव्यक्त किया जाता है।

स्पन्दशास्त्र में प्रमाता के भेद

स्पन्दशास्त्र की मान्यता के अनुसार मूलतः पूर्णचेतन स्वस्वभाव, ऊपर से नीचे तक, एक ही प्रमाता है। स्वतन्त्र एवं आनन्दमय होने के कारण वह दो रूपों में अवस्थित है। पहला पतिप्रमाता और दूसरा पशुप्रमाता। पति-प्रमाता के रूप में वह, विश्वमय विकास का विश्वोत्तीर्ण रूप है अतः इस रूप में उस के अवान्तर भेदों की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। पशुप्रमाता के रूप में वह विश्वोत्तीर्ण का विश्वमय विकास है। इस रूप में वह व्यष्टिरूप और विशिष्ट है। अतः उसके भेद, उपभेद और आकार–प्रकारात्मक वैचित्र्य इतने हैं कि उनकी गणना मानव की संकुचित कल्पना में नही आ सकती है। पाञ्चभौतिक काया को धारण करनेवाला प्रत्येक जङ्गमरूप या स्थावररूप प्राणी 'पशुप्रमाता' है। प्रत्यभिज्ञा के आचार्यों ने अहँता और इदन्ता के उतार-चढ़ाव के आधार पर, विश्व को शुद्ध-मार्ग और अशुद्ध-मार्ग में बाँटकर, इन पर अवस्थित प्रमाताओं के विभिन्न एवं विविध स्तरों का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है परन्तु, स्पन्द-शास्त्रियों के मतानुसार शिवप्रमाता के अतिरिक्त अन्य सारे प्रमाता पशुप्रमाता हैं चाहे वे सदाशिव-कोटि या पृथिवीकोटि पर अवस्थित हों। हाँ उन्होंने केवल इनमें पाये जानेवाले बोधात्मक संकोच या विस्तार के आधार पर इनको अबुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध इन चार

श्रेणियों में बाँटकर रखा है। आगे सूत्राङ्क १७ के विवरण में इन चारों श्रेणियों पर यथासम्भव प्रकाश डाला गया है।

प्रमाताओं के ग्राह्यविषय

पतिप्रमाता के लिये समूचा जड़-चेतनात्मक विश्व अभिन्न अहं-रूप में ही ग्राह्य है। पशुप्रमाताओं के ग्राह्यविषय दो प्रकार के हैं—१. आभ्यन्तर और २. बाह्य। आभ्यन्तर ग्राह्यविषयों में सुखिता, दुःखिता और मूढता इन तीनों अन्तःकरण-धर्मों के साथ सम्बन्धित भावनात्मक और, बाह्य ग्राह्यविषयों में शब्दात्मक, स्पर्शात्मक, रूपात्मक, रसात्मक और गन्धात्मक स्थूल पदार्थ अन्तर्भूत हो जाते हैं। आभ्यन्तर विषय मानसिक अनुभूति के द्वारा और बाह्यविषय पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य हैं। इस सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि पतिप्रमाता की अपेक्षा से पशुप्रमाता स्वयं भी ग्राह्यकोटि में ही पड़ जाता है।

पाश कौन सा है ?

प्रत्येक पशु के हृत्मंडल में, निगूढ़ रूप में अवस्थित ज्ञान-क्रियात्मक स्पन्दशक्ति के वास्तविक स्वतन्त्र एवं सामान्य रूप का अपरिचय ही, उसके लिये पाश है। संसार की भूमिका पर अवस्थित सारे जड़ या चेतन पदार्थ सामान्य शक्ति के ही विशिष्ट रूप हैं। विशिष्ट होने के कारण आपस में भिन्न और पारस्परिक भिन्नता के कारण परस्पर-सापेक्ष हैं। यह पारस्परिक सापेक्षता ही भौतिक द्वन्द्वात्मकता है। द्वन्द्वों की चक्की के दो पाटों में फँसा हुआ जीव लगातार पिसा जा रहा है और युग-युगों तक (जबतक उसको पारमेश्वर शक्तिपात का स्पर्श न हो जाये) आवागमन के चक्कर में पड़ा ही रहता है। साधारण शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि विश्वात्मक एकत्व को भूलकर वैयक्तिक अनेकत्व की गहराइयों में खो जाना ही एक ऐसा बन्धन है जो जीवात्मा के साथ जोंक की तरह चिपका रहता है। इस जोंक से पिंड छुड़ाना केवल धीर पुरुषों का काम है।

मुक्ति क्या है ?

साधारण रूप में यदि मुक्ति जैसे किसी पृथक् पदार्थ की कल्पना की जाये तो यह सापेक्ष बन जाती है। आखिर मुक्ति किससे ? ऐसी परिस्थिति में इसके लिये किसी पूर्ववर्ती बन्धन जैसे पृथक् पदार्थ के सद्भाव की आवश्यकता है। जहाँ तक **स्वस्वभाव** का सम्बन्ध है वह तो निरपेक्ष है। फलतः उस भूमिका पर न कोई बन्धन है और न किसी से मुक्त होना है। स्वभाव स्वभाव ही है, न कम और न ज्यादा।

पशुभूमिका पर सब कुछ सापेक्ष है। अतः बन्धन और मुक्ति जैसी

कल्पनायें भी विद्यमान हैं। अभी ऊपर कहा गया कि आत्मशक्ति के वास्तविक स्वरूप की विस्मृति ही बन्धन है, अतः यह स्पष्ट बात है कि उसकी पूर्ण और सच्ची स्मृति (ढोंग-धतूरा छोड़कर) ही मुक्ति है। इस स्मृति को ही शास्त्रीय शब्दों में तुरीयारूप शाक्तभूमिका का साक्षात्कार होना कहते हैं।

स्पन्द के उपदेश का अधिकारी कौन ?

स्पन्द-सम्प्रदाय के गुरुओं की मान्यता के अनुसार, पशुभूमिका पर अवस्थित पूर्वोक्त चार प्रकार के प्रमाताओं में से केवल प्रबुद्ध प्रमाता ही स्पन्दशास्त्र के उपदेश के लिये उपयुक्त पात्र है। जहाँतक अबुद्ध और बुद्ध प्रमाताओं का सम्बन्ध है, उनको उपदेश देना मरुभूमि में बीज बोने के समान निष्फल है। जहाँतक सुप्रबुद्ध प्रमाता का सम्बन्ध है, उसको उपदेश दिये जाने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसने प्राप्य वस्तु प्राप्त की होती है। शेष रह जाता है प्रबुद्ध प्रमाता। वह आध्यात्मिक दृष्टि से शाक्त-भूमिका के प्रवेश द्वार के बिल्कुल निकट पहुँचा हुआ तो होता है परन्तु सद्-गुरु की दया के बिना इस क्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिये सक्षम नही होता है। अतः उसको स्पन्द वाक्यों की सुधा पिलाकर अगाध संशयसागर से पार उतारना सिद्ध गुरुओं का आवश्यक एवं मनोनीत कर्तव्य है और, यही सारे स्पन्दशास्त्र का मुख्य उद्देश्य भी है॥

श्री भट्टकल्लट की वृत्ति का ही अनुवाद क्यों ?

श्री भट्टकल्लट की वृत्ति को ही हिन्दी अनुवाद के लिये चुनने में पहला और विशेष कारण यह है कि सद्गुरु ईश्वरस्वरूप जी महाराज ने, स्पष्ट शब्दों में, इसी पुस्तक को पढ़ाने का आदेश दिया था।

दूसरा कारण अपनी यह दृढ धारणा है कि श्री भट्टकल्लट ने जिस दृष्टि-कोण को अपनाकर स्पन्द-सूत्रों की व्याख्या की है वह, स्वाभाविक रूप में, सिद्ध वसुगुप्त के वास्तविक अभिप्राय का प्रतिनिधित्व करती होगी। इसका स्पष्ट कारण यह है कि श्री भट्टकल्लट सूत्रकार के साक्षात् शिष्य हैं अतः उनको गुरु ने अपना अभिप्राय स्वयं मौखिक रूप में बहुत बार समझाया होगा। दूसरी ओर इसमें भी कोई संशय नहीं है कि यदि श्री भट्टकल्लट ने अपने गुरु के जीवनकाल में ही यह वृत्ति लिखी होगी तो अवश्य उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के लिये, उनको दिखाई होगी। निःसंदेह श्री भट्टकल्लट को जो उपदेश मिला वह साक्षात् सूत्रकार से ही मिला। इसके प्रतिकूल अन्य टीकाकारों के पास जो कुछ पहुँचा वह उन्हीं के माध्यम से पहुँचा। कई परिस्थितियों में उसके पहुंचने में कई पीढ़ियों का समय लग गया और इतने समय में वह किस मात्रा तक बासी हो गया इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है।

तीसरा कारण यह है कि यदि श्री क्षेमराजाचार्य की निर्णय नामक टीका

और श्री भट्टकल्लट की वृत्ति का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये, तो यह समझने में देर नहीं लगती है कि जहाँ पहली दुरूह, अस्पष्ट एवं अपेक्षा से अधिक अन्तमुंखीन प्रवृत्तियों को लिये हुये है, वहाँ, दूसरी सरल, स्पष्ट, व्यावहारिक एवं साधारण से साधारण और आध्यात्मिक दांव-पेचों से बिल्कुल अनभिज्ञ व्यक्तियों को भी किसी न किसी रूप में लाभ पहुँचानेवाली है।

हिन्दी अनुवाद

मूलसूत्रों और वृत्ति का हिन्दी अनुवाद करते समय, अपनी ओर से, इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि सूत्रकार या वृत्तिकार के आशय को कोई क्षति न पहुँचे। पारिभाषिक शब्दों के साथ छेड़खानी करना या उनको तोड़-मरोड़ कर नये रूप में प्रस्तुत करना अथवा शब्दकोषों के पन्ने उलट-पलट कर उनके स्थान पर दूसरे उपयुक्त या अनुपयुक्त शब्दों को ठूँसने की हिमाकत करना भी उपयुक्त प्रतीत न हुआ अतः उनको अपने ही रूप में रहने दिया है। जहाँ जहाँ आवश्यक जान पड़ा, वहाँ वहाँ पाठकों की सुगमता के लिये, कोष्टकों का प्रयोग करके ऐसे शब्दों के अभिप्राय को समझाने का प्रयत्न किया गया है। पारिभाषिक शब्दों को अपने यथावत् रूप में रहने देना इस दृष्टि से भी उचित जान पड़ा है कि ऐसा करने से हिन्दी भाषा के शब्द-कोष में अपेक्षित वृद्धि ही होगी। संस्कृत भाषा हिन्दी की जननी है, यह मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं है। अतः यदि दैवयोग से जननी की वस्तु पुत्री को उत्तराधिकार में मिल गई तो यह किसी अलक्षित रूप में मणिकाञ्चन-संयोग ही हुआ है।

विवरणों के विषय में

प्रत्येक विवरण स्पन्द-सूत्रों के अन्तर्निहित अभिप्राय तक ही सीमित न रखकर, समूचे शैवदर्शन के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है। इस बात का पहले ही उल्लेख किया गया है कि शैवदर्शन की मौलिक मान्यताओं की, जितनी विशद एवं विस्तृत व्याख्या प्रत्यभिज्ञाग्रन्थों में उतनी स्पन्दग्रन्थों में नहीं की गई है। फलतः किसी भी स्पन्द-ग्रन्थ या प्रत्यभिज्ञा-ग्रन्थ का अध्ययन करने के इच्छुक पाठक को जबतक इस दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों की, विस्तृत रूप में, जानकारी न हो तबतक उसके लिये, प्रतिपाद्य विषयको पूर्णतया हृदयंगम बनाना या उसके रस का आस्वादन करना, कठिन ही है। यही कारण है कि विवरणों का क्षेत्र स्पन्द सूत्रों तक ही सीमित न रखकर प्रत्यभिज्ञा-ग्रन्थों और आगम-ग्रन्थों तक भी विस्तृत किया गया है। क्षेत्र को विस्तृत करने के साथ साथ, इनको, यथासम्भव संक्षिप्त बनाने का प्रयत्न तो किया गया है परन्तु इतना संक्षिप्त भी नहीं कि मुख्य सैद्धान्तिक बातें ही अपूर्ण रह गई हों।

इस सम्बन्ध में सज्जन पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना आवश्यक है कि किसी भी विवरण को शैव आचार्यों के पारस्परिक

मत-भेदों या बौद्धिक घात-प्रतिघातों का अखाड़ा बनने नहीं दिया है और, न इनमें भारत के अन्य दर्शनों के साथ शैव दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा को ही प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यह है कि प्रस्तुत प्रयास का लक्ष्य शैव दर्शन के मुख्य-सिद्धान्तों को अपने यथावत् रूप में प्रस्तुत करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहा है। सारे विवरण केवल इस दृष्टिकोण को अपनाकर लिखे गये हैं कि शैव दर्शन के विचार संस्कृत भाषा को न जानने-वाले पाठकों तक भी पहुँच जायें।

प्रस्तुत लेखक फिर एक बार गुरुचरणों में नतमस्तक होने के साथ-साथ, सुश्री शारिकादेवी और उनकी अनुजा सुश्री प्रभादेवी का आभार मुक्तकंठ से स्वीकार करता है क्योंकि उन्होंने समय समय पर समुचित सुझाव देकर उसके साहस को बढ़ाया। इसके अतिरिक्त उन सारे हितैषो मित्रों को धन्यवाद देना लेखक का आवश्यक कर्तव्य है जिन्होंने, इस दिशा में आगे बढ़ने के लिये, किसी न किसी रूप में उसको सहायता प्रदान की है। विशेष रूप में श्री राधाकृष्णजी मिसकीन लेखक के हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि उन्होंने उसके मन में विद्यमान 'शूलाम्बुज' की कल्पना को साकार रूप दे दिया। कनिष्ठ भ्राता श्री राधाकृष्णजी और बन्धुवर श्री ओमप्रकाशजी कौल को, इस रचना को बार बार लिखने और इसकी अन्तिम प्रेस-कापी बनाने में जो कष्ट उठाना पड़ा, उसके बदले में लेखक की कामना यही है कि भगवान आशुतोष उनपर करुणामृत की वर्षा करें। परिशिष्ट बनाने में मित्रवर श्रीकन्हैयालाल स्वरूप का योगदान उनके लिये स्वरूप-उन्मेष का उपक्रम है।

मेसर्स मोतीलाल बनारसीदासवालों को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जाता है। उन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लेकर भारतीय साहित्य का जीर्णोद्धार करने के प्रति अपनी सच्ची निष्ठा के भाव का प्रदर्शन किया।

मानव पग-पग पर स्खलनशील है। यह ठीक भी है क्योंकि यदि सांसारिक मानव में स्खलन ही न हों तो उसकी संसारिता ही कैसी ? फलतः प्रस्तुत प्रयास में भी विद्वज्जनों को पग-पग पर स्खलन दिखाई देंगे। ऐसी परिस्थिति में उनसे यही विनम्र निवेदन है कि वे अपने अमूल्य सुझाव भेजकर लेखक को कृतार्थ करें ताकि अगले संस्करण में तदनुसार त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया जाये।

करोतु सा नः शुभहेतुरीश्वरी—
शुभानि भद्राण्यभिहन्तु चापदः।

श्रीनगर कश्मीर नीलकंठ गुरुटू
७–११–१९७६

उद्धरणों के संकेत-चिह्नों का विवरण

संकेत-चिह्न	ग्रन्थ का नाम
अ० प्र० सि०	अजड़प्रमातृसिद्धिः ।
ई० प्र० वि०	ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी ।
ई० सि०	ईश्वर-सिद्धिः ।
का० क्र०	कालिका-क्रम ।
तं०	तन्त्रालोक ।
तं० वि०	तन्त्रालोक-विवेक ।
तं० सा०	तन्त्रसार ।
प० त्रिं०	परात्रिंशिका ।
प० सा०	परमार्थ-सार ।
पा० यो० द०	पातञ्जल योगदर्शन ।
प्र० हृ०	प्रत्यभिज्ञा-हृदय ।
भा० द०	भारतीय-दर्शन ।
मा० वि०	मालिनीविजय ।
वि० भै०	विज्ञान-भैरव ।
शि० सू०	शिवसूत्र ।
शि० सू० वि०	शिवसूत्रविमर्शिनी ।
शि० सू० वा०	शिवसूत्रवार्तिक (भास्कर)
शि० सू० वा० (वरद)	शिवसूत्रवार्तिक (वरदराज)
शि० दृ०	शिवदृष्टिः ।
शि० स्तो०	शिवस्तोत्रावली ।
ष० त० सं०	षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह ।
स्व० तं०	स्वच्छन्दतन्त्र ।
स्प० वि०	स्पन्दकारिकाविवृति ।
स्त० चिं०	स्तवचिन्तामणि ।
स्तु० कु०	स्तुतिकुसुमाञ्जलि ।
स्प० नि०	स्पन्द-निर्णय ।
स्प० सं०	स्पन्द-संदोह ।

—❀❀—
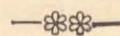
कल्लटवृत्तिसमेताः

स्पन्दकारिकाः

श्री स्पन्दवपुषे नमः

'स्वरूप-स्पन्द' नामक पहला निःष्यन्द

[मङ्गलाचरणम्]

सूत्रकार, उन्मेष-निमेषमयी स्पन्द-शक्ति का स्वरूप निर्धारण करने के साथ-साथ, उस सर्वोत्कृष्ट विमर्श-भूमिका में ही प्रणाम के द्वारा समाविष्ट होने की कामना से, स्पन्द-शास्त्र का यह पहला सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः ॥ १ ॥

अनेन स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य संकल्पमात्रेण जगदुत्पत्तिसंहारयोः कारणत्वं, विज्ञानदेहात्मकस्य शक्तिचक्रैश्वर्यस्योत्पत्तिहेतुत्वं, नमस्कारद्वारेण प्रतिपाद्यते ॥ १ ॥

अनुवाद

सूत्र—हम उस अनुग्रहमूर्ति शंकर को प्रणाम करते हुए, उसी स्वरूप में समाविष्ट हो जाते हैं, जिसके उन्मेष-निमेष-मात्र (संकल्पात्मक स्फुरणा-मात्र) से ही सारे जगत् की सृष्टि और संहार की क्रीडा सम्पन्न हो जाती है और, जो शक्तिचक्र के वैभव (विश्ववैचित्र्य के अनन्त रूपों में प्रवहमान एक ही स्पन्दशक्ति की अनन्त धाराओं के संयोजन और वियोजन की स्वतन्त्र क्रीडा) का मूल कारण है ॥ १ ॥

वृत्ति—इस सूत्र में नमस्कार करने के उपक्रम द्वारा दो बातों की ओर संकेत किया गया है । एक यह कि शिवात्मक अर्थात् अनुग्रह-शक्ति के द्वारा अभेद अवस्था पर आरूढ़ करने के रूप में कल्याणकारी स्वभाव, अपने संकल्पमात्र से ही अर्थात् विमर्शात्मक स्पन्दना से ही, जगत् की सृष्टि और संहार करने का मूल कारण है । दूसरा यह कि वह (शंकर नामक स्वभाव) विज्ञानदेह अर्थात् विमर्शात्मक स्पन्दनारूप, शक्तिचक्र के ऐश्वर्य (स्पन्द-शक्ति की, युगपत् ही विश्व के अनन्त विशेषरूपों में प्रवहमान होने और अपने मौलिक भेदहीन सामान्यरूप में विश्रान्त होने की स्वतन्त्र क्रियाशीलता) का मूल उद्गम स्थान है ॥ १ ॥

विवरण

[शिव और शक्ति]

स्पन्दशास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार सारे नामरूपात्मक व्यक्त और, भावनात्मक अव्यक्त विश्व को जीवन देने वाली एवं प्रत्येक पदार्थ की आत्मभूत[1] एक ही मौलिक चैतन्य सत्ता शाश्वत रूप में विद्यमान है। उस सत्ता का नाम 'शंकर' या 'शिव' रखा गया है। यद्यपि वह नाम-रूप से परे है तथापि उसका ऐसा नामकरण करने में एक विशेष अभिप्राय अंतर्निहित है। वह यह कि सामान्य रूप में स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह ये पाँच कृत्य, प्रति समय करते रहने पर भी उसका अनुग्रहात्मक कृत्य एक ऐसा विशेष कृत्य है जिसके द्वारा वह जन्म-मरण-रूपी चक्की के पाटों में पिसे जाते हुए अणुओं के सारे भेद भावना से पूर्ण अज्ञान को दूर करके, उनको, स्पन्दमयी शाक्त-भूमिका पर आरूढ़ करने के रूप में, उनका कल्याण करता है। 'शम्' = कल्याण + 'कर' = करने वाला शङ्कर कहा जाता है।

वह शंकर चैतन्यरूप है अर्थात् वह चेतने की क्रिया का स्वतन्त्र कर्ता है। चेतन वही है जो चेतने की क्रिया करने में स्वतन्त्र हो। उदाहरणार्थ 'घट[2]' चेतन नहीं है क्योंकि उसको न तो अपने और न अपने से भिन्न किसी दूसरे के होने की चेतना है। फलतः वह अचेतन है। इसके प्रतिकूल 'चैत्र[3]' नाम वाले व्यक्ति में चेतना की ऐसी विभूति विद्यमान है कि वह 'अहं'-रूप आवेग के द्वारा स्वात्मरूप में और अपने से भिन्न नील, पीत, सुख, दुःख या इनके अभावात्मक शून्यरूप में भी, अवभासित होने में स्वतन्त्र है। फलतः वह चेतनेवाला 'चेतन' है और चेतन कहा जाता है। शङ्कर भी प्रकाशविमर्शमय होने के कारण अपने स्वरूप को और अपनी ही शक्ति के प्रसाररूप विश्व को 'अहं'[4] रूप में विमर्श करने अथवा चेतने की क्रिया का स्वतन्त्र कर्ता है। अतः वह चैतन्य है। उसका स्वभाव यही है कि वह स्वतन्त्र ज्ञाता और स्वतन्त्र कर्ता है। फलतः वह स्वतन्त्र है और स्वातन्त्र्य ही उसकी मुख्य[5] शक्ति है। उसी स्वातन्त्र्य-शक्ति को चेतनाशक्ति, चितिशक्ति, स्पन्दशक्ति, विमर्श, सार, हृदय, संवित्, ऊर्मि इत्यादि नामों से अभिव्यक्त किया जाता है।

---

१. चैतन्यमात्मा। (शि० सू०, १.१)

२. घटेन स्वात्मनि न चमत्क्रियते, स्वात्मा न परामृश्यते, न स्वात्मनि तेन प्रकाश्यते, न अपरिच्छिन्नतया भास्यते ततो न चेत्यत इत्युच्यते।

(ई० प्र० वि०, १.५.१३)

३. चैत्रेण तु स्वात्मनि अहमिति संरम्भोद्योगोल्लासविभूतियोगात् चमत्क्रियते....नील पीतसुखदुःखतच्छून्यताद्यसंख्यावभासयोगेन अवभास्यते ततः चैत्रेण चेत्यत इत्युच्यते। (ई० प्र० वि०, १.५.१३)

४. चिति प्रत्यवमर्शात्मा। (ई० प्र० वि०, १.५.१३)

५. स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यम्। (ई० प्र०, १.५.१३)

यह सर्वस्वतन्त्र चैतन्य सत्ता सारे विश्व की एकमात्र आत्मा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जो आत्मसत्ता है वह चेतन है, अपितु चैतन्य ही आत्मा है, जिस प्रकार राहु[1] का सिर 'कहना मात्र एक औपचारिक प्रयोग है, वास्तव में राहु और सिर एक ही वस्तु है।'

ऊपर कहा गया है कि शंकर की एक निजी अभिन्न शक्ति है। उसका नाम स्वातन्त्र्य-शक्ति है। वह शक्ति शिव से अभिन्न है क्योंकि शिव[2] शक्ति के बिना नहीं है और शक्ति शिव के बिना नहीं रह सकती है। ये दोनों वास्तव में एक ही सत्ता के सूचक हैं, जिस प्रकार अग्नि और दाहशक्ति दो अलग पदार्थ नहीं हैं।

स्पन्दशक्ति

इस शक्ति का स्वरूप 'पूर्ण अहं-विमर्श' है। यह अहं-विमर्श ही वह मौलिक स्फुरणा है जिससे वह एक ही शक्ति अनन्त[3] रूपों में स्फुरित होकर विश्व के अनन्त और विचित्र रूपों में अवभासमान है। शाश्वतरूप में स्फुरणाशील होने के कारण ही उसको 'स्पन्दशक्ति' कहा जाता है। अब आगे इसी स्पन्दशक्ति के स्वरूप-विश्लेषण के विषय में कुछ मुख्य बातों पर प्रकाश डालना युक्तिसंगत होगा।

स्पन्द शब्द का मूल धातु 'स्पदि' है जिसका अर्थ 'किञ्चित्चलन' अर्थात् सूक्ष्म अहं-विमर्शात्मक स्फुरणा है। साधारणरूप में 'स्फुरणा' या 'स्पन्द' शब्द से कम्पन या सिहरन का अर्थ लिया जाता है परन्तु यह अहंविमर्शात्मक स्पन्द वैसा स्थूल अथवा आँधी आदि के द्वारा हिलाये गये वृक्ष इत्यादि का कम्प जैसा नहीं समझना चाहिये, अपितु इसका रूप चिद्घन भगवान की बाह्य[4] विश्वात्मक रूप में स्वतन्त्र शक्तिप्रसार की ओर संकल्पात्मक उन्मुखतामात्र ही समझना चाहिये। इस संकल्पात्मक उन्मुखता को सूत्रकार ने 'उन्मेष-निमेष' शब्द से अभिव्यक्त किया है। यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि यहाँ पर 'उन्मेष-निमेष' का अर्थ उन्मेष और निमेष नहीं है, अपितु विज्ञानरूप अनुत्तरतत्त्व की वह एक ही संकल्पात्मक गतिमयता, जिसका स्वरूप मात्र 'अहं प्रत्यवमर्श' ही है। शक्ति का रूप सदा उदित है अतः उसका न तो कभी उन्मेष

---

१. चैतन्यं चितिः, चेतन आत्मा इति राहोः शिर इतिवत् काल्पनिकम्, वस्तुत एकमेव सर्वम्। चितिक्रिया प्रकाशविमर्शः, तस्य भावः चैतन्यं स्वातन्त्र्यम्।
(शि० सू० वि०, १.१, टिप्पणी २१)

२. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता।
उभयोरस्ति तादात्म्यं वह्निदाहकयोरिव॥

३. शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यनादिमान्।
सा शक्तिर्भिद्यते देवि! भेदैरानन्त्यसम्भवैः॥ (स्व० तं०, ११.२७१)

४. यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छया जगदिदं स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः···· ···· ···· ····॥ (ष० त० सं०, १)

अर्थात् उदय या विकास या सक्रियता, अथवा अस्त या संकोच या निष्क्रियता ही होती है ।

वास्तव में स्पन्दशक्ति का स्वरूप ही उच्छलनात्मक[1] है । भाव यह कि वह युगपत् ही स्वरूप का विकास और संकोच करती है । फलतः यह शाक्त क्रियाशीलता युगपत् ही द्विमुखी अर्थात् अन्तर्मुखीन और बहिर्मुखीन भी है । परन्तु यह सारी क्रियात्मकता संकल्पात्मक ही है ।

निःसंदेह शंकरात्मक बोधगगन, मात्र अनुत्तर-तत्त्व है परन्तु उसका भी सारभूत हृदय[2] विमर्शरूपा 'स्पन्दशक्ति' ही है । शक्तिपरिवलित होने के कारण ही उसमें विश्वोत्तीर्णता अर्थात् विशुद्ध ज्ञान-प्रधान प्रकाशरूपता और, विश्वरूपता अर्थात् क्रियाप्रधान विमर्शरूपता, मयूराण्ड में वर्तमान द्रवपदार्थ के ही रूप में अवस्थित, आगामी शावक के विचित्र रंगों वाले परों की कल्पना के समान, अभेद 'अहं' रूप में ही अवस्थित है— 'संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितयः' ।।

उपरिनिर्दिष्ट प्रकाशभाग और विमर्शभाग में से क्रियाप्रधान विमर्शभाग[3] ही सामान्य-स्पन्द है । उसी के द्वारा अन्तर्मुख 'अहं' में, अभिन्न रूप में अवस्थित, विश्व-कल्पना का बहिर्मुख 'इदं' रूप में अवभासन और, 'इदं' रूप में अवभासित विश्व की अन्तर्मुख अनुसंधानात्मक 'अहं'-रूपता में विश्रान्ति की क्रिया सम्पन्न होती है ।

विमर्श में जिस वस्तु का सद्भाव हो उसी का बाह्य अवभासन भी संभव हो सकता है । जिस पदार्थ का बाह्यरूप में अवभासन हुआ हो उसी का अन्तर्मुखता में विश्राम संभव हो सकता है । फलतः विमर्शात्मक स्पन्द-शक्ति का ही ऐसा स्वातन्त्र्य एवं असीम सामर्थ्य है कि वह अवभासित[4] पदार्थ को अपने रूप में लय कर सकती है; अपने आप को भावमण्डल के रूप में अवभासित कर सकती है; दोनों को एकाकार बनाकर धारण कर सकती है और दोनों से पृथक् रूप में भी अवस्थित रह सकती है। वास्तव में यह

---

१. स्वात्मन्युच्छलनात्मकः । (तं०, ४.१८३)

२. सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः । (ई० प्र०, १.५.१४)

३. हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्रविताशेषविश्वकः ।
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः ।।
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे···· ···· ····। (तं, ४.१८२-८३)
द्रष्टव्य—सूत्र १० का विवरण भी ।

४. विमर्शो हि सर्वंसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं परीकरोति, उभयम्, एकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवंस्वभावः ।।
(ई० प्र० वि०, १.५.१३)

विमर्शात्मक स्फुरणा (स्पन्द-शक्ति) एक महान सत्ता है जिसके बिना प्रकाश की कल्पना व्यर्थ है क्योंकि विमर्शहीन प्रकाश बिम्बग्राही होने पर भी जड़[1] ही होता है।

अभी ऊपर कहा गया है कि स्पन्दशक्ति का स्वभाव किञ्चिच्चलन[2] है। शैवशास्त्रों में किञ्चिच्चलन शब्द का अर्थ स्वतन्त्ररूप में स्फुरित होना है। संवित् कभी भी स्फुरणा के बिना नहीं रह सकती है क्योंकि वह फिर चिद्रूप ही नहीं हो सकती है। यदि ऐसा होता तो फिर चिद्रूपता के अभाव में सारे विश्व में जड़ कंकर पत्थरों के सिवा अन्य कोई जीवित सत्ता देखने को भी नहीं मिलती।

वे जड़ वस्तु भी हैं या नहीं हैं यह भी कोई नहीं कह सकता। अतः उनकी सत्ता न होने के समान ही होती। फलतः संवित् प्रतिसमय प्रमाता और प्रमेय दोनों रूपों में सतत-स्फुरणामयी है। वास्तव में स्पन्द अथवा स्फुरणा संवित्समुद्र की तरङ्ग है। स्पष्ट है कि स्पन्द तथा संवित् एक ही अभिन्न ज्ञानक्रियामयी सत्ता है। संवित्[3] का संवित्त्व यही है कि वह विमर्शमयी अथवा सततस्पन्दमयी होने के कारण प्रत्येक पदार्थ का (विश्वोत्तीर्ण रूप में अथवा विश्वमय रूप में वर्तमान भावों का) स्वतन्त्र 'अहं' रूप में विमर्श कर सकती है। सागर[4] की सागरता तो इसी से चरितार्थ होती है कि वह कभी तरङ्गहीन तथा कभी तरङ्गायमान रूपों को धारण कर लेता है। संवित्[5]रूप विश्वात्मा, अपने इसी स्पन्दमय स्वातन्त्र्य से अपने स्वरूप को छिपाकर और, विद्युद्-गति से प्रकट करके, अक्रम में क्रम का और क्रम में अक्रम का अवभासन करने की क्रीडा करता रहता है। वास्तव में यही आनन्दात्मक स्वातन्त्र्यशक्ति का अलौकिक चमत्कार है।

स्पन्दशक्ति एक महान् सत्ता[6] होने के कारण प्रत्येक क्रिया के करने में स्वतन्त्र[7] है। विश्व के प्रत्येक दृश्यमान अथवा अदृश्यमान पदार्थ को सत्ता देती है। इतना ही नहीं, अपितु जिन वस्तुओं का प्रत्यक्षरूप में पूर्ण अभाव होता है उनको भी कल्पना के द्वारा

---

१. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फाटिकादिजडोपमः ॥ (ई० प्र० १.५.११)

२. किञ्चिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत्।
उर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना ॥ (तं० : ४.१८४)

३. इदमेव संविदः संवित्त्वं यत्—'सर्वम् आमृशतीति'। (तं० वि०, ४, २१४ पृष्ठ)

४. निस्तरङ्गतरङ्गादिवृत्तिरेव हि सिंधुता। (तं०, ४.१८५)

५. एष प्रकाशरूप आत्मा स्वच्छंदो ढौकयति निजरूपम्। पुनः प्रकटयति झटिति अथ क्रमवशाद् एष परमार्थेन शिवरसम्। (तं० सा० पृष्ठ ७)

६. सा स्फुरत्ता महासत्ता········। (ई० प्र० : १.५.१४)

७. सत्ता च भवनकर्तृता सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम्। (ई० प्र० वि०, १.५.१४)

स्थिति प्रदान करती है। उदाहरणार्थ आकाशपुष्प[1], वन्ध्यापुत्र अथवा शशश्रृंग ऐसी ही कल्पनायें हैं। इसके अतिरिक्त देश, काल और आकार की सीमाओं को जन्म देती है परन्तु स्वयं नित्य एवं व्यापक होने के कारण उनसे ससीम[2] नहीं बन जाती है। यही कारण[3] है कि संसार में जितनी भी प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमाओं की कल्पनायें हैं, अथवा अन्तर्मुखरूप में या बहिर्मुखरूप में जो भी कुछ है, उन सारे रूपों में यह शक्ति अपने आप को अवभासित करती है और उनसे पृथक्‌रूप में भी प्रकाशमान रहती है।

स्पन्द शक्ति की अनन्तता

यद्यपि वास्तव में यह शक्ति एक ही है तथापि प्रसार की भूमिका पर यह अनन्त धाराओं में प्रवहमान है। विश्व[4] के जितने भी पदार्थ हैं। वे सारे शक्ति के ही रूप हैं। सामान्य[5]-भूमिका अर्थात् पतिदशा में वह चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पांच मुख्य एवं असंकुचित रूपों में सततविकासशील होती हुई, विशेष-भूमिका अर्थात् पशुदशा (जीवभाव) में प्राण, अन्तःकरण, बाह्य-इन्द्रियां इत्यादि अनन्त प्रमेयों के रूपों में प्रवहमान है। पतिप्रमाता[6] की अभिन्न स्वातन्त्र्यशक्ति ही उसकी आनन्दघनता; आनन्द का चमत्कार ही इच्छा-शक्ति; प्रकाशरूपता ही चित्-शक्ति; विमर्शमयता ही ज्ञानशक्ति और प्रत्येक प्रकार के आकार इत्यादि को अवभासित करने का सामर्थ्य ही क्रियाशक्ति है। इससे[7] स्पष्ट होता है कि यह सारा दृश्यमान प्रपञ्च मौलिक स्वातन्त्र्यशक्ति का ही विकास है। ऐसे अनन्तरूपों के होते हुए भी यह स्वातन्त्र्यशक्ति मुख्यतः इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन रूपों में, शाश्वत रूप में स्फुरित रहती है। पतिभाव में ही नहीं अपितु पशुभाव में भी शक्ति का यही इच्छात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक रूप प्रतिपल कार्यनिरत रहता है। कोई भी प्राणी जिस वस्तु को चाहता है वह वस्तु उसकी अन्तः-चेतना में पहले ही अभिन्न रूप में अवस्थित होती है। अनन्तर ज्ञान के द्वारा उसको जानकर, क्रिया के द्वारा कार्यरूप में परिणत करता है। संक्षेप में कहा जाता है कि

---

१. सा च खपुष्पादिकमपि व्याप्नोति। (ई० प्र० वि०, १.५.१४)

२. देशकालाविशेषिणी। (ई० प्र० १.५.१४)

३. अत एषा स्थिता संविदन्तर्बाह्योभयात्मना।
स्वयं निर्भास्य तत्रान्यद्भासयन्तीव भासते॥ तं० ४.१४७)

४. शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः। (शि० सू० वि० ८९ पृष्ठ)

५. द्रष्टव्य सूत्र ११९ का विवरण।

६. तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः; तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः; प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः; आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः; सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः।
(तं० सा० ६ पृष्ठ)

७. तस्मात्संवित्त्वमेवैतत्स्वातन्त्र्यं यत्तदप्यलम्।
विविच्यमानं बह्वीषु पर्यवस्यति शक्तिषु॥ (तं० : १.१६०)

प्राणी जो कुछ चाहता है वही जानता भी है और करता भी है। इसी प्रकार पतिदशा में ही इष्यमाण विश्वकल्पना, पहले इच्छाशक्ति में अभिन्न रूप में अवस्थित रहती है। अनन्तर ज्ञानशक्ति के द्वारा उसका विमर्श होकर क्रियाशक्ति के द्वारा बाह्य अवभासन सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार एक ही मौलिक पारमेश्वरी स्पन्दशक्ति, अपने स्वातन्त्र्य से इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया का व्यपदेशमात्र धारण करती है। ये सारे व्यपदेश उन्मेष में आनेवाली मायाशक्ति[1] के सामर्थ्य से ही उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि केवल शिवदशा को छोड़[2] कर अन्य सभी दशाओं में मायाशक्ति का ही साम्राज्य छाया रहता है। स्मरण रहे कि इदंभाव को अवभासित करने की ओर उन्मुख बनी हुई स्वातन्त्र्य-शक्ति ही 'मायाशक्ति' कहलाती है। यह शक्ति की वह अवस्था है जिसमें आगामी भेदकल्पना भरी हुई तो होती है परन्तु उसका विभाग नहीं हुआ होता है। यह स्थिति कुछ उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार सेम[3] की फली के गर्भ में आगामी अनन्त फलियों की कल्पना अविभक्त रूप में अवस्थित रहती है। अस्तु, इस विषय पर यथा स्थान प्रकाश डाला जायेगा। यहां पर केवल इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि समूचा विश्व इसी पारमेश्वरी स्पन्दशक्ति का प्रसार अथवा विकास है।

स्पन्दशक्ति के प्रसार के, सामान्य और विशेष दो रूप हैं। इन्हीं दो रूपों के आधार पर शैवशास्त्रियों ने इसके सामान्य-स्पन्द और विशेष-स्पन्द दो नाम रखे हैं। इसका सामान्य रूप अनेकाकारता में एकाकारता है और, विशेषरूप एकाकारता में अनेकाकारता है। भाव यह है कि इसका सामान्यरूप विश्वात्मक सूक्ष्म चेतना या प्राणना है जो कि विश्व के अनेक रूपों में भी एक ही सामान्यरूप में व्याप्त है। दूसरी ओर इसक विशेष रूप विश्व के अनेक एवं विचित्र नामरूपात्मक प्रमेय पदार्थों का रूप है और इस रूप में भेद की ही प्रधानता होने के कारण यह वस्तुतः एक होते हुए भी विशेष रूपों में (अनेकाकारों में) प्रवहमान है। यहाँ पर स्पन्दशक्ति के इन दो रूपों का संकेतमात्र दिया गया है। आगे यथास्थान इनका विश्लेषण किया जायेगा।

अब यहाँ पर सूत्र में उल्लिखित उन्मेष-निमेष पर थोड़ा सा प्रकाश डालना युक्तियुक्त होगा—

इस विषय में पहले कहा गया है कि 'उन्मेष-निमेष' मात्र संकल्पात्मक गतिमयता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस संकल्पात्मक गतिमयता को शैवशास्त्रों में

---

१. 'माया नाम च देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृतः॥' (तं०, १. १४९-५०)

२. 'शिवदशामेकां मुक्त्वा मायाशक्तिः सर्वत्र कृतपदा' (स्प० वि०, ६ पृष्ठ)

३. 'अत एव बहिर्मुखतायां भाविनो विभागस्य
शिम्बिकाफलवत् अस्यां गर्भीकारोऽस्ति।' (तं० वि० ९. १५१)

इच्छा[1] शक्ति का नाम दिया गया है। यह इच्छाशक्ति शङ्कर का नित्यधर्म अथवा स्वभाव है। यह उससे कभी छूटता नहीं है क्योंकि जैसा पहले कहा गया है कि शक्ति और शक्तिमान कभी भी अलग नहीं हो सकते हैं। सूत्र में एक ही इच्छाशक्ति अथवा संकल्पमात्र को व्यक्त करने के लिए उन्मेष और निमेष इन दो शब्दों का प्रयोग मात्र औपचारिक है। सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर यह बात अच्छी प्रकार समझ में आती है कि उन्मेष अथवा निमेष दोनों संकल्पमात्र के ही द्योतक हैं। उन्मेष उस अवस्था का द्योतक है जब कि पारमेश्वर संकल्प में, विश्वोत्तीर्ण रूप में अर्थात् विशुद्ध चिन्मात्ररूप में अवस्थित रहने की ओर उन्मुखता होती है। इस अवस्था में सारा 'इदं-भाव' अथवा प्रमेयभाव मात्र 'अहं' रूप अर्थात् विशुद्ध चिन्मात्र-रूप प्रमातृभाव में ही लीन हुआ होता है। इसी को शैवशब्दावली में पारमेश्वर अनुग्रह या शक्तिपात कहते हैं। निमेष उस अवस्था का द्योतक है जब पारमेश्वर संकल्प में, स्वरूप को संसार के अनन्त भेदपूर्ण वैचित्र्यों में प्रसारित करने की ओर उन्मुखता होती है। इस अवस्था में चिन्मात्ररूप प्रमातृभाव में, अभिन्नरूप में वर्तमान प्रमेयता, पूर्वोक्त मायाशक्ति के प्रभाव से अलग होकर विकास में आ जाती है। इसको शैवशब्दों में तिरोधान कहते हैं। स्पष्ट है कि दोनों रूपों में पारमेश्वर संकल्पमात्र की ही गतिमयता अर्थात् इच्छाशक्ति ही कार्यनिरत होती है। पारमेश्वर संकल्प के इन्हीं दो रूपों को क्रमशः अन्तर्मुखस्पन्द और बहिर्मुखस्पन्द कहते हैं। इस विषय में यह समझना आवश्यक है कि स्पन्द-शक्ति की यह द्विमुखी गतिमयता एक ही समय पर चलती रहती है। परमेश्वर किसी अपने ही स्वरूपभूत भक्तजन को अनुग्रह का विषय बना कर, चिन्मात्र-रूप पर आरूढ़ करता है जब कि तत्काल ही किसी को तिरोधान का विषय बना कर संसारभाव के मायागर्त में डुबो देता है। दोनों ही रूपों में स्वतन्त्र ज्ञातृत्व और कर्तृत्व में कोई उतार या चढ़ाव उत्पन्न नहीं होता है। प्रलय और उदय जगत् को ही हो सकते हैं, संवित् को नहीं; क्योंकि उन्मेष अवस्था में स्वरूप से अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के प्रमेयजाल का अस्तित्व न होने के कारण जगत् का प्रलय अर्थात् पूर्णतया स्वरूप में ही लय और, निमेष अवस्था में प्रमेयता का स्वरूप से अलग अस्तित्व होने के कारण जगत् का उदय हो जाता है। दोनों रूपों में जगत् को जो कुछ भी हो, परन्तु संवित् अक्षुण्ण रहती है।

शक्तिचक्र और उसकी विभूति के विषय में पहले ही इस बात का उल्लेख किया गया है कि परमात्मा की वास्तविक शक्ति एक ही है जिसका नाम 'स्वातन्त्र्य-शक्ति'

---

१. 'उन्मेषनिमेषशब्दाभ्यां तदुपचरितवृत्तिभ्याम् इच्छामात्रमेकं शंकरसम्बन्धि प्रति-पाद्यते, स च तस्य नित्यो धर्मः स्वभावभूतः, तस्य उन्मेष-निमेषशब्दवाच्यत्वं द्वित्वं च उपचारात्'

—(स्प० वि०, ४ पृष्ठ)

है। इसका भी संकेत दिया गया है कि शाश्वत स्पन्दमयी होने के कारण इस शक्ति का अन्तर्मुख एवं बहिर्मुख प्रसार एक ही समय पर चलता है। आगे भी शक्तिचक्र के विषय में यथास्थान प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ पर पाठकों का ध्यान केवल कई निम्नलिखित बातों की ओर आर्कषित करना अपेक्षित प्रतीत होता है।

परमेश्वर की अभिन्न[1] स्वातन्त्र्य-शक्ति विश्वरूप में प्रसृत होने की ओर उन्मुख होने के समय, सर्वप्रथम इच्छा का रूप धारण करती है। वह इच्छाशक्ति उत्तरोत्तर प्रसृत होती हुई ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में प्रकट होती है।[2] यह शक्तियुगल (ज्ञान और क्रिया) ऐश्वर्यपूर्ण होने के कारण मानो चिन्तामणि है जिससे उत्तरोत्तर विकास में आने वाली, प्रमेयता की उपाधियों के आवश्यकतानुसार, अनन्त शक्तिधारायें फूट पड़ती हैं और, फलस्वरूप शिवतत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व तक का सारा विश्व-वैचित्र्य विकसित हो जाता है। ज्ञानशक्ति वर्ण, पद एवं मन्त्र इन तीन मार्गों के रूप में और क्रियाशक्ति कला, तत्त्व और भुवन इन तीन मार्गों के रूप में प्रसृत होकर बाह्य विश्व का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार पहले तीन रूपों में सारे वाचक-विश्व का और दूसरे तीन रूपों में सारे वाच्य-विश्व का विकास हो जाता है।

[शक्तिचक्र]

इस वाचक और वाच्यमय विश्व का सर्वतोमुखी विकास कार्य सम्पन्न करने के लिए उसी पारमेश्वरी शक्ति की धारायें कहीं मातृका[3] (शब्दराशि) का रूप धारण करके 'अ' से 'क्ष' तक आठ वर्गों की अधिष्ठात्रियां बनी हुई [4]माहेश्वरी, ब्राह्मणी, कौमारी, ऐन्द्री, याम्या, चामुण्डा और योगीशी शक्तियों के रूप में, कहीं अन्तःकरणों और बहिष्करणों के साथ सम्बन्ध रखने वाली खेचरी, भूचरी, दिक्चरी और गोचरी शक्तियों के रूप में, कहीं प्राण, बुद्धि, अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ अथवा सारे महाभूतों के रूप में प्रसृत होती रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि विश्व में ब्रह्मा से लेकर

---

१. या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते॥ (मा० वि०, ३.५)

२. एवं सैषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनेकताम्।
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी॥ (मा० वि०, ३.८)

३. तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते।
द्विधा च नवधा चैव पञ्चाशद्धा च मालिनी॥
वर्गाष्टकमिह ज्ञेयमघोराद्यमनुक्रमात्। (मा० वि०, ३.२९)

४. तदेव शक्तिभेदेन माहेश्वर्यादि चाष्टकम्॥
माहेशी ब्राह्मणी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
ऐन्द्री याम्या च चामुण्डा योगीशी चेति ता मताः॥ (मा० वि०, ३.९–१४)

घास के तिनके तक जितने भी असंख्य प्रमेय पदार्थ प्रत्यक्ष या अनुभव का विषय बन जाते हैं वे सारे परमेश्वर की अनन्त शक्तियों के स्रोत हैं ।

इन्हीं अनन्त शक्तिधाराओं का शास्त्रीय नाम 'शक्तिचक्र' है । यह शक्तिचक्र विभव से परिपूर्ण है । विभव शब्द से ऐश्वर्य का अभिप्राय है और ऐश्वर्य किसी वस्तु के करने, न करने या अन्यथा करने की स्वातन्त्र्यपूर्ण इच्छा का द्योतक है । इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति, शक्ति होने के कारण नित्य उदीयमान और शाश्वत रूप में पूर्ण अभेद अहंविमर्श की स्फुरणा के स्वभाव वाली है और इसकी स्वतन्त्र स्फुरणा के प्रवाह में कोई भी वस्तु बाधा नहीं डाल सकती है । शक्ति चाहे अपने मौलिक विश्वोत्तीर्ण चिन्मात्र रूप पर अवस्थित हो तो भी सारी विभूतियों को अपने गर्भ में लिये हुए है अथवा विश्वमय शक्तिप्रसार के रूप पर अवस्थित हो तो भी इतने कल्पनातीत विश्व को साकार बनाने के दुर्घट कार्य को संपन्न कर सकने के वैभव से परिपूर्ण है ।

ऐसी स्वतन्त्र शक्तियों से परिपूर्ण शक्तिमान का स्वरूप 'परिपूर्ण शंकर-स्वरूप' अथवा 'स्वभाव' कहा जाता है । श्री विज्ञानभैरव में स्वतन्त्र स्फुरणामयी संवित् शक्ति से परिपूर्ण शक्तिमान के स्वरूप का बहुत सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है :

"अपरिमित और कल्पनातीत अनेकाकारता में भी एकाकारता के मधुरतम रस से परिपूर्ण, स्वरूप के आधार पर विश्व के चित्र की रचना करने पर भी स्वयं निर्मलरूप को धारण करने वाली और विश्व का अवभासन करने के लिए अनन्त शक्तिस्रोतों में प्रवहमान होने के कारण परिपूर्ण शक्ति ही, शक्तिमान की परिपूर्ण अवस्था है । यह ऐसा दिव्यरूप है जो पूर्ण अहं-स्फुरणामय होने के कारण केवल आनन्दस्वरूप, दिशा[1] काल एवं आकार के संकोचों से रहित, दूरी या नज़दीकी की प्राचीरों से बाहर, मध्यमा और वैखरी वाणियों के अभिलाप का अविषय होने के कारण वास्तव में अवर्णनीय और केवल आन्तरिक अनुभवमात्र से ही गम्य है । प्रत्येक प्रकार की शङ्काओं के आतङ्क और विकल्प-जालों से रहित होने के कारण इसको 'भैरवी-अवस्था' कहते हैं । यही अवस्था भैरवरूप शंकर का स्वभाव अथवा वास्तविक स्वरूप है क्योंकि इसमें विश्वोत्तीर्णता और विश्वरूपता दोनों एकाकार बनकर अवस्थित रहती हैं ।"

---

१. दिक्कालकलनोन्मुक्ता देशोद्देशाविशेषिणी ।
व्यपदेष्टुमशक्यासावकथ्या परमार्थतः ॥
अन्तःस्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ॥
तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।' (वि० भै०, १४.१६)

'शकन'[1] अर्थात् कुछ कर सकने को 'शक्ति' कहते हैं। प्रत्येक चेतन प्रमाता अपनी अपनी परिधि में अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार कार्य कर सकता है क्योंकि उसमें अंशतः शक्ति विद्यमान होती है। जो जितना बड़ा काम कर सकता है उसको उतना बड़ा शक्तिमान् कहा जाता है। सबसे बड़ा काम, इतने अनन्त एवं कल्पना से भी अचिन्त्य विश्व का निर्माण एवं संहार है। इस दुर्घट कार्य को सबसे महान् शक्तिमान् ही कर सकता है। जो यह कर सकता है उस प्रमाता को सर्वशक्तिमान भैरवरूप 'शंकर' कहते हैं। अंशतः शक्तिमान् होने के कारण प्रत्येक जीव अंशतः शिव है। अपनी[2] ही शक्ति के वास्ताविक स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करने से जीव शिव बन सकता है। शक्ति के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति मानव को क्या नहीं करा सकती है? शाक्तभूमिका पर आरुढ़ होना ही शिवभाव में प्रविष्ट होने का मुख्यद्वार है।

सूत्र में उल्लिखित 'शक्तिचक्रप्रभवम्' शब्द का तत्पुरुष समास के द्वारा परमात्मा के उन्मेषनिमेषात्मक स्वरूप और, बहुव्रीहि समास के द्वारा ऐसी शाक्तभूमिका की अनुभूति प्राप्त करने के उपाय का अर्थ लगाया जा सकता है, जो इस प्रकार है—

१. शक्तिचक्रविभवस्य प्रभवम् [तत्पुरुष समास] शक्तिचक्र अर्थात् अनन्तरूपी प्रवहमान स्पन्दधाराओं के, 'विभव' अर्थात् अन्तर्मुख या बहिर्मुख प्रसार के, 'प्रभवम्' मूल उद्गमस्थानं शंकर (को हम प्रणाम करते हैं)।

२. शक्तिचक्रविभवात् प्रभवो यस्य तम् [बहुव्रीहि समास] 'शक्तिचक्र' अर्थात् प्राण, बुद्धि, इन्द्रियाँ इत्यादि विशेष-रूपों में प्रवहमान शक्ति पुञ्ज की, 'विभवात्' वास्तविक अनुभूति प्राप्त करने से ही, 'प्रभवः' जिस शंकररूप की अभिव्यक्ति होती है—(उस शंकर को हम प्रणाम करते हैं)।

इस विषय में शास्त्रों में यह बात स्पष्ट की गई है कि वास्तव में भगवान्[3] स्वयं ही प्रत्येक प्राणी के शरीर में प्रविष्ट होकर, इन्द्रिय-शक्तियों की उन्मेषनिमेष क्रिया के द्वारा, शब्द स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को ग्रहण या अग्रहण करने से, भिन्न-भिन्न प्राणियों की निश्चित देश काल एवं आकार की परिधि के अनुसार, विश्व की सृष्टि और संहार करता रहता है। फलतः यदि कोई व्यक्ति किसी उपाय द्वारा अपनी विशेष रूपों में प्रवहमान शक्तियों के संकोच को हटाकर, उनको मौलिक सामान्य-अवस्था

---

१. 'शकनं शक्तिः सामर्थ्य विश्वनिर्माणादिकारि भैरवस्वरूपमेव' (वि० भै० १३ पृष्ठ)

२. 'शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना।
तदासौ शिवरूपी स्यात् 'शैवीमुखमिहोच्यते' ॥' (वि० भै०, २०)

३. 'देहाद्याविष्टोऽपि परमेश्वरः करणोन्मीलननिमीलनाभ्यां
रूपादिपञ्चकमयस्य जगतः सर्गसंहारौ करोति'।
(स्प० नि०, पृष्ठ ८)

पर पहुँचा सके तो स्वरूपविकास कहीं दूर नहीं है। यहाँ पर पाठकों को सावधान करने के लिए कई मुख्य शक्तियों के नाममात्र गिनाये गये हैं। आगे बहुत से स्थानों पर इनके स्वरूप-वर्णन पर यथासम्भव प्रकाश डाला जायेगा ॥ १ ॥

पूर्व सूत्र में दर्शाया गया कि सामान्य-स्पन्दभूमिका (संवित्) ही सारे कार्यरूप अर्थात् प्रमेयरूप विश्व के प्रत्येक पदार्थ के रूप में प्रवहमान है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह शङ्का उठती है कि संसार में विचित्र प्रकार के शरीर, इन्द्रिय, भुवन, घट, पट इत्यादि रूपों में स्वभावों की अनेकाकारता देखने में आती है। ऐसी अवस्था में संसार-रूप अनेकत्व का स्वभाव शिवरूप एकत्व कैसे हो सकता है? अगले सूत्र में इस शङ्का का समाधान यह कह कर किया जा रहा है कि वास्तव में प्रमेयरूप अनेकाकारता 'अहं विमर्श' की एकाकारता में अनादिकाल से अभिन्नरूप में अन्तर्निहित ही है। केवल जो वस्तु विमर्श में है उसी का बाह्य अवभासन होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उसका (अनेकाकारता का) बाह्य अवभासनमात्र हो जाता है। नई कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती है। दोनों रूपों में एकाकारता स्वरूप में अक्षुण्ण रहती है—

[कर्तृत्व और कार्यत्व]

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥ २ ॥

कथं पुनः स्वस्वभावस्यैव संसारिणः शिवत्वेन निर्देशः—इति यद्युच्यते, तत् यत्र स्थितम् इदं जगत्, यस्मात् च उत्पन्नं तस्य संसार्यवस्थायामपि अनाच्छादित-स्वभावत्वात् न क्वचित् निरोधः, अतः शिवत्वमुच्यते ॥ २॥

अनुवाद

सूत्र—जिस (स्पन्दात्मक) विमर्श-भूमिका में अर्थात् शङ्कर में यह सारा कार्यरूप (प्रमेयरूप) जगत्, अभेदरूप में अवस्थित ही है और जिससे इसका (बहिर्मुखीन) प्रसार हो जाता है, उस सत्ता के स्वरूप को कोई भी आवरण ढांप नहीं सकता है। अतः उसके स्वतन्त्र प्रसार में कहीं भी कोई रुकावट नहीं है ॥२॥

वृत्ति—यदि कोई यह पूछे कि जब निजी स्वभाव (शंकर) ही संसारी बनकर आवागमन के चक्कर में पड़ जाता है तो उसको उस रूप में शिव कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि जिस अभेद—भूमिका में यह सारा विश्व (अनादिकाल से) 'अहं-रूप' में अवस्थित ही है और, जिससे इसकी उत्पत्ति (अहंरूपता से अलग होकर इंदरूपता में अवभासित) हुई है, उस सत्ता के स्वभाव (अहंविमर्शरूप एकाकारता) पर, संसारी अवस्था में भी कोई आवरण पड़ा हुआ नहीं होता है, अतः उसके स्वतन्त्र प्रसार में कोई रुकावट नहीं पड़ सकती है। यही कारण है कि उसको 'शिव' कहा जाता है ॥ २ ॥

विवरण

आन्तर और बाह्य पदार्थों की विमर्शरूपता

शैवशास्त्रों का सिद्धान्त है :—'यदन्तस् तद्बहिः'। इसका अभिप्राय यह है कि स्पन्दात्मक विमर्शभूमिका में सारे प्रमेयपदार्थों की विद्यमानता उसी प्रकार विमर्शरूप में ही विद्यमान है जिस प्रकार छोटे से बीज[1] में बड़े-से-बड़े न्यग्रोध वृक्ष की शाखायें, पत्ते, फूल और फल इत्यादि की कल्पना बीजरूप में ही विद्यमान होती है। चैतन्य में स्वभावतः प्रसार का रस होने के कारण वही आन्तर कल्पना बाह्य स्थूल नानारूपता में विकसित होती है। अतः जो ही अन्दर है वही बाहर है। विषय को सुगम बनाने के लिए पहले इस सिद्धान्त का परीक्षण जीवभाव के स्तर पर करना ही युक्तियुक्त होगा।

साधारण जीवभाव के स्तर पर भी यही देखा जाता है कि प्रत्येक प्राणी के आन्तर विमर्श में उसके परिचित प्रमेयभाव विमर्शरूप में ही अवस्थित रहते हैं। अपने अपने मानसिक विस्तार के अनुपात से जिस प्राणी का जितना विमर्श होता है उतना ही उसके संसार का विस्तार होता है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि जो ही बातें विमर्श में विद्यमान होती हैं उन्हीं का बाह्य अवभासन होता रहता है। उदाहरण के तौर पर—'कुम्हार घड़ा बनाता है'—इस परामर्श का दार्शनिक विश्लेषण करने से कुछ बातों की ओर ध्यान आकर्षित होता है। पहली यह कि घट एक कार्य है जो किसी चेतन कुम्हार की क्रिया का विषय बना हुआ है। दूसरी यह कि घट स्वयं विमर्शहीन अथवा जड़ होने के कारण न तो स्वरूप को जानता है और न अपने से भिन्न और किसी वस्तु को सत्ता प्रदान कर सकता है। तीसरी यह कि कुम्हार चेतन होने के कारण ही मिट्टी के पिंड को घट का रूप दे सकता है जब कि मिट्टी स्वयं घट का रूप धारण नहीं कर सकती है। इन बातों के साथ-साथ मन में एक शङ्का भी उत्पन्न हो जाती है कि घट की रचना करते-करते शराव अथवा शरावों को बनाते-बनाते प्याले क्यों नहीं बन जाते हैं।

इस शङ्का का समाधान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अन्ततोगत्वा हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि कुम्हार के अन्तर्विमर्श में, घट इत्यादि पदार्थों को बाह्य साकारता प्रदान करने से पहले ही उनकी आकृति, मान, रंग इत्यादि की यथावत् कल्पना विद्यमान होती है। रचना करते समय केवल इतना होता है कि कुम्हार के अन्तस्[2] में विद्यमान कल्पना बाह्य साकार रूप में विकसित हो जाती है और दोनों रूपों में तिल जैसा भी फर्क नहीं पड़ता है।

---

१. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥ (प० त्रि०, २४)।

२. तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद् बहिः॥ (ई० प्र०, १.६.७)

यदि कुम्भकार के विमर्श में ये कल्पनायें पहले से ही विद्यमान न होतीं तो वह उनको बाह्य साकाररूप देने में असफल ही रहता। फलतः घट कुम्हार के आन्तरिक-विमर्श के बाह्य अवभास-मात्र के अतिरिक्त स्वतः कुछ भी नहीं है।

इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि आन्तर-विमर्श एक थैला जैसा नहीं है जिसमें अनन्त पदार्थों की कल्पनायें अखरोट[1], पिस्ते या बादाम इत्यादि की तरह ठसाठस भरी हुई होती हैं और, फिर वही अलग-अलग रूप में बाहर निकलती रहती हैं। ऐसी कोई बात समझ में नहीं आती है अपितु कुम्हार जैसे प्रत्येक चेतन प्रमाता के अन्तर्विमर्श में सारे वाच्य पदार्थ विमर्श के ही रूप में अर्थात् 'अहं' से अभिन्न रूप में ही अवस्थित रहते हैं। साथ ही विमर्श में ही यह स्वातन्त्र्य होता है कि अपने में अभिन्नरूप में अवस्थित पदार्थों को भिन्न रूप में साकारता प्रदान कर सकता है।

बाह्यरूप में अवभासित होने के अनन्तर वह कल्पनायें समाप्त नहीं होती हैं अपितु फिर भी अन्तःचेतना में निलीन होकर अवस्थित[2] रहती हैं क्योंकि यदि वे समाप्त ही हो जातीं तो सम्भव था कि कुम्हार एक घट को साकारता प्रदान करने के अनन्तर दूसरे उसी आकार-प्रकार के घट को बना नहीं सकता।

ठीक इसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट शङ्कर स्तर पर भी उस विश्वस्पन्द[3] में यह सारा इदंरूप अर्थात् संकुचित प्रमाता, प्रमेय और प्रमाणों से भरा कार्यजगत्, अनादिकाल से 'अहं रूप' एकाकारता में अवस्थित है। उसी मौलिक अहं परामर्श में, स्वातन्त्र्य से ही जो इदन्ता का परामर्श उदित हो जाता है वही बाह्य-प्रमेयता का विकास कहलाता है।

फलतः आन्तर विमर्शरूप में अवस्थित भाववर्ग को भेदमय प्रमेयता की नाना-रूपता में अवभासित करना और अवभासित करने के अनन्तर उनको फिर भी विमर्शात्मक एकाकारता में निलीन करना ही स्वभाव अथवा स्वातन्त्र्य अथवा आनन्द शक्ति अथवा उन्मेष-निमेषमय स्पन्द की शाश्वत क्रीडा का चमत्कार है। यदि परमार्थ दृष्टि से देखा जाए तो यह बात स्पष्ट रूप में समझ में आती है कि वे सारे प्रमेय पदार्थ जो स्फुट[3]रूप में अर्थात् 'इदं' रूप में भासमान हैं, वास्तव में परमार्थ सत्ता के निजी अवयव ही हैं। अतः स्वरूप में अवस्थित रहते हुए ही, केवल मायाशक्तिरूप स्वातन्त्र्य के द्वारा, उनका उसी प्रकार भिन्न रूप में जैसे अवभासन हो जाता है, जिस

१. एतदुक्तं भवति न प्रसेवकादिवाक्षोटादि तत् तस्मात् निर्गतम्'।

(स्प० नि०, १० पृष्ठ)

२. स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ॥
अस्त्येव .... ॥ (ई० प्र०, १–५–१०)

३. वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ॥ (ई० प्र०, १.५.१)

प्रकार घटरूप पदार्थ का अवभासन मिट्टीरूप सत्ता के अन्तर्गत ही होता है। यदि मिट्टी की सत्ता न हो तो घट की भी सत्ता नहीं होगी। यदि भाव स्वरूप में अवस्थित न हों तो वे भाव नहीं होंगे।[1]

अनुत्तरतत्त्व और जीव का अन्तर

इस सम्बन्ध में यह बात विशेषरूप से ध्यान में रखनी आवश्यक है कि बाह्यरूप में अवभासमान पदार्थ वर्ग अर्थात् कार्य-जगत् स्वतः कोई भिन्न सत्ता नहीं है अपितु आन्तरिक चैतन्यसत्तारूप एकता का बहिर्मुखीन प्रसार ही कार्यता अथवा अनेकाकारता कहलाती है। एक से ही अनेक बन जाता है परन्तु अनेक में एक भी अन्तर्निहित ही है। अतः यह कहना कि घट, पट इत्यादि रूप अनेकाकारता का मूल, शिवरूप एकाकार कैसे हो सकता है, सर्वथा अनुचित है। यही कारण है कि कार्यरूप जगत् को अपने से भिन्नरूप में सत्ता प्रदान करने के अनन्तर भी शिव, शिव ही है और उससे पहले भी वह शिव ही है। कुम्भकार[2] घट को बाह्य साकाररूप देने से पहले भी और अनन्तर भी कुम्हार ही है। दोनों[3] अवस्थाओं में वास्तविक सत्ता की एकाकारता ही व्याप्त है।

अब इस संबन्ध में यह बात विचारणीय है कि साधारण कुम्हार को घड़ा इत्यादि पदार्थ बनाने के समय विशेष प्रकार के समवायिकारण, असमवायिकारण या उपादान-कारण, निश्चित देश, काल, आकार इत्यादि की परिधि और, भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारों के बनाने की सक्रमता इत्यादि की अपेक्षा होती है। क्या अनुत्तर-सत्ता को भी कार्यजगत् बनाने के लिए ऐसी ही सामग्री की अपेक्षा रहती है? यदि रहती है तो एक साधारण कुम्हार को ही शिव मानना पड़ेगा। इस विषय में पारदृश्वा सिद्धों का कथन है कि अनुत्तरतत्त्व और जीव के ज्ञातृत्व और कर्तृत्व में केवल स्वातन्त्र्य की मात्रा का भेद है। परमेश्वर पूर्ण चिद्रूप होने के कारण अपने स्पन्दात्मक स्वातन्त्र्य से प्रत्येक कार्य किसी भी प्रकार की कारण सामग्री और निश्चित क्रम के बिना, अपने संकल्पमात्र से ही सिद्ध कर सकता है जब कि साधारण जीव को, अंशतः चिद्रूप और अस्वतन्त्र होने के कारण, कोई भी कार्य करने के समय परमुखापेक्षी बनना पड़ता है। श्रीमान्[4] उत्पलदेव जी का कथन है कि भगवान् चिदात्मा होने के कारण एक

---

१. एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी।
जडाः .... ॥ (अ० सि० १३)

२. न च कार्यं घटादिकर्तुः कुम्भकारादेः कदाचित् स्वरूपं तिरोदधद्दृष्टम्।
(स्प० नि० १० पृष्ठ)

३. प्रकाश एवास्ति स्वात्मना स्वपरात्मभिः। (अ० सि० १३)

४. चिदात्मैव हि देवोन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥
(ई० प्र० : १.५.७)

योगी की तरह किसी प्रकार की लौकिक सामग्री के बिना, इच्छामात्र से ही आन्तर विमर्श-रूप में अवस्थित पदार्थवर्ग को बाह्यरूप में अवभासित करता है। इस अलौकिक क्रियाशक्ति पर कोई लौकिक प्रतिबन्ध कार्यान्वित नहीं हो सकता है। श्री भट्टनारायण[1] ने इसी लक्ष्य को हृदय में रखकर भगवान् को एक ऐसा सर्वोत्कृष्ट कलाकार स्वीकार किया है जिसको अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए, अपने स्वरूप से इतर अन्य किसी आधार इत्यादि की आवश्यकता नहीं पड़ती है। पारमेश्वरी[2] शक्ति चतुर्दिक् स्वतन्त्र होने के कारण कभी क्रम के अनुसार अथवा कभी क्रमात्मक पराधीनता के बिना ही कार्यनिरत है परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप सदा अक्रम ही है।

चैतन्य-रस की तरलता स्वयं अपने में आश्यानता अर्थात् घनता का रूप धारण करती है और यह आश्यानता ही स्थूल प्रमेयता है। वह जितना जितना उत्तरोत्तर आश्यान होती जाती है उतनी उतनी जड़ता उभर आती है। इस आश्यानीभवन की क्रिया की अन्तिम सीमा पृथिवी-तत्त्व है। हमारे गुरु महाराज कभी-कभी मंद मुस्कान में कह डालते हैं कि "संवित् का स्वातन्त्र्य कितना विस्मयकारी है कि वह, उसी के द्वारा, अपने संवित्भाव से अवरूढ़ होकर मिट्टी बन जाती है।"

शास्त्रकारों ने मन्दबुद्धिवाले शिष्यों को, बाह्य-अवभास की प्रक्रिया को समझाने के लिए दर्पण-नगर की उपमा दे दी है। जिस[3] प्रकार दर्पण में पड़ा हुआ नगर इत्यादि का प्रतिबिम्ब दर्पण से पृथक् न होते हुए भी अलग जैसा दिखाई देता है उसी प्रकार चिद्दर्पण में पड़ा हुआ विश्वरूप प्रतिबिम्ब उससे भिन्न न होकर भी भिन्न जैसा दिखता है। दर्पण नगर तो एक उपमामात्र है। वास्तव में चिद्दर्पण और साधारण

---

१. निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥
(स्त० चि०, १)

२. ....निःशेषशक्तिचक्रक्रमाक्रमाक्रामिणी अतिक्रान्तक्रमाक्रमातिरिक्तारिक्त-तदुभयात्मतयापि अभिधीयमानापि अनेतद्रूपा अनुत्तरापरा स्वातन्त्र्यशक्तिः काप्यस्ति (शि० सू० वि०, २० पृष्ठ)

३. स एव भगवान्स्वस्वातन्त्र्यादनतिरिक्तामप्यतिरिक्तामिव जगद्रूपतां स्वभित्तौ दर्पण-नगरवत्प्रकाशयन्स्थितः (स्प० नि० १० पृष्ठ)

दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादि चित्रमविभागि ।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च ॥
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वद् विभागशून्यमपि ।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत् ॥
(प० सा०, श्लोक १२, १३)

दर्पण में दूर का भी वास्ता नही है। जहाँ साधारण दर्पण की प्रतिबिम्बप्रक्रिया में दर्पण, बिम्ब और प्रतिबिम्ब तीनों अलग अलग पदार्थ होते हैं वहाँ चिद्दर्पण की प्रतिबिम्बप्रक्रिया में चैतन्य-सत्ता स्वयं ही बिम्ब, प्रतिबिम्ब और दर्पण है। अतः सांसारिक शब्दार्थ-कल्पना की कोई भी अवस्था ऐसी नहीं है जिसको शिव नही कहा जा सकता है।

फलतः[1] 'ज्ञानक्रियात्मक चैतन्य' ही प्रत्येक जड़ अथवा अजड़ पदार्थ का स्वभाव है जो कि प्रत्येक अवस्था में सिद्ध और अनावृतरूप में अवस्थित रहता है। उस विश्वात्मक स्वभाव को किसी प्रकार की भी विरोधी सत्ता की कल्पना के द्वारा झुठलाया नही जा सकता है ॥ २ ॥

[अवस्थाभेदों में स्वरूप की एकता]

यहां तक सिद्ध किया गया कि आन्तर और बाह्य दोनों अवस्थाओं में एक ही स्वभाव (स्पन्दतत्व) व्याप्त रहता है। इस विषय में यह शङ्का है कि जब जाग्रत्, स्वप्न इत्यादि अवस्थाओं में पारस्परिक भिन्नता प्रत्यक्षरूप में देखने में आती है तो इन सबों में एक ही स्वभाव की व्यापकता का सिद्धान्त किस प्रकार स्वीकारा जा सकता है ? अगले सूत्र में इस शङ्का का समाधान किया जा रहा है।

जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ॥ ३ ॥

जाग्रदादिनापि भेदे प्रथमाने न तस्य स्वरूपम् आव्रियते, यस्माद् उपलब्धृरूपत्वं त्रिष्वपि पदेषु साधारणम्, न तस्य स्वरूपान्यथाभावः, यथा विषस्याङ्कुरादिषु च पश्वसु स्कन्धेषु ॥ ३ ॥

अनुवाद

सूत्र—जाग्रत् इत्यादि भेदपूर्ण अवस्थाओं में भी, वही भेदरहित तत्व, समानरूप से वेदक के रूप में व्याप्त रहता है। अतः इन अवस्थाओं के प्रसार के समयों पर भी वह तत्त्व अनुभवी स्वभाव से निवृत्त नही होता है ॥ ३ ॥

वृत्ति—यद्यपि (दैनिक जीवन में) जाग्रत् इत्यादि अवस्थाओं में पारस्परिक भिन्नता का अनुभव हो जाता है तथापि उन भेदकल्पनाओं के द्वारा उसके स्वरूप पर कोई आवरण नही पड़ सकता है। इसका कारण यह है कि उन तीनों अवस्थाओं में अनुभवी प्रमाता का रूप साधारण होता है। उसके स्वरूप में उसी प्रकार कोई

---

१. चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम्।
तस्यानावृतरूपत्वात् शिवत्वं केन वार्यते ॥ (शि० सू० वा० १.१५)

भी परिवर्तन नही होता है जिस प्रकार विष के बीज से उगे हुए अंकुर इत्यादि के पांचों स्कन्धों में अर्थात् मूल, शाखा, पत्र, फूल और फल में व्याप्त विष के रूप में कोई अन्तर नही होता ॥ ३ ॥

विवरण

प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित 'तदभिन्ने' शब्द की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है :—

१. तदभिन्ने—जाग्रत इत्यादि भेदपूर्ण अवस्थायें उस मौलिक भेदरहित तत्त्व से भिन्न नही हैं क्योंकि वह, अपनी इच्छा से, स्वरूप में ही ऐसे अवस्थाभेद उपजाता है।

२. तदभिन्ने—जाग्रत इत्यादि अवस्थाओं में यद्यपि पारस्परिक भेद होता भी है परन्तु उन सबों में वह तत्त्व एक ही भेदरहित वेदक के रूप में व्याप्त रहता है।

प्रस्तुत प्रकरण में 'जाग्रदादि' शब्द से मुख्यरूप में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और गौणरूप में इन तीनों के अतिरिक्त स्मृति, भ्रान्ति, मद, मूर्च्छा इत्यादि सारी, जीव-भाव के साथ सम्बन्धित, अवस्थाओं का ग्रहण किया जाता है। वास्तव में शैव-सिद्धान्त के अनुसार जाग्रत्[१], स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या और तुर्यातीत यही मुख्य पांच अवस्थाएँ स्वीकारी गई हैं परन्तु उनमें से अन्तिम दो अवस्थाएँ क्रमशः 'शाक्तभूमिका' और 'विशुद्ध-शिवभाव' की अवस्थायें हैं। सिद्ध गुरुचरणों का कथन है कि वास्तव में ये दोनों अवस्थायें एक ही सर्वोत्कृष्ट निर्विकल्प अवस्था की द्योतक हैं। इनमें केवल सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थिरता और अस्थिरता के अतिरिक्त कोई भेद नही है। इसका अभिप्राय यह है कि असल में तुर्य पद ही वह पूर्ण अहंविमर्शात्मक शाक्तभूमिका है जिसको प्राप्त करने के अनन्तर सारी इतिकर्तव्यतायें समाप्त हो जाती हैं। साधक जब इसी पद पर शाश्वत स्थिरता में अवस्थित अर्थात् आरूढ़ हो जाता है तो वही उसकी तुर्यातीत अर्थात् पूर्ण शिवभाव की अवस्था कही जाती है। यही कारण है कि हमारे स्पन्दगुरु इसी तुर्यपद (शाक्तभूमिका) को प्राप्त करने पर ही बल देते हैं क्योंकि यही पद शिवभाव को प्राप्त करने का पहला द्वार है।

अस्तु, प्रस्तुत सूत्र में इन दोनों अवस्थाओं को ग्रहण करने का कोई अभिप्राय नही है क्योंकि ये दोनों निर्विकल्प चिद्घनता की भूमिकायें हैं। इनमें किसी प्रकार की भेदकल्पना का कोई प्रश्न ही नही उठता। चिद्घन अवस्था सतत उदीयमान होने के कारण शाश्वत जाग्रति की अवस्था है अतः उस पर भेदकल्पना कैसे थोपी जा सकती है? अब रहा प्रश्न अवशिष्ट तीन अवस्थाओं का, उनके विषय में कुछ बातें अवश्य विचारणीय हैं :—

---

१. जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च तुर्यं च तदतीतकम्।
इति पञ्च पदान्याहुः .... ॥ (तं०, १०.२२८)

इस विषय में सर्वप्रथम इस बात को ध्यान में रखना होगा कि साधनामार्ग पर चलने वाले योगियों अथवा ज्ञानियों के दृष्टिकोण से इन तीन अवस्थाओं का वही स्वरूप नहीं है जो कि संसार भाव के सर्वसाधारण और दैनिक व्यवहार में अनुभव में आता है। उदाहरण के तौर पर साधारण लोगों की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति योगियों के लिए ध्यान, धारणा और समाधि की अवस्थायें होती हैं। परन्तु प्रस्तुत सूत्र में बिल्कुल इन अवस्थाओं के उसी रूप की ओर इंगित किया गया है जो कि साधारण और दैनिक जीवन के साथ सम्बन्धित है। अतः यहाँ पर संक्षिप्त शब्दों में इनके इसी रूप पर कुछ प्रकाश डाला जायेगा और आगे सूत्र १८ में इनसे सम्बन्धित विशेष बातों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा।

साधारणतया जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का रूप इसप्रकार होता है।

१. जाग्रत्-अवस्था—यह [1]वह अवस्था है जिसमें किसी भी मितप्रमाता (किसी भी संसारी जीव) के अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ किसी ऐसे विषय को ग्रहण करने की ओर स्पन्दायमान हो जाती हैं जो कि सर्वसाधारण हो और स्थिर हो। इसका भाव यह है कि इस अवस्था में इन्द्रियबोध का विषय बने हुए पदार्थ स्वप्नदशा में अनुभूयमान पदार्थों की तरह क्षणपर्यवसायी और एक ही प्रमाता के द्वारा अनुभूयमान नहीं होते हैं। किसी प्रमाता की ज्ञानेन्द्रियाँ जिन पदार्थों का ग्रहण करती हैं वे उस प्रमाता के द्वारा ग्रहण न किये जाने पर भी, अलग रूपों में वर्तमान रहती हैं और, साथ ही उस प्रमाता के अतिरिक्त अन्य प्रमाता भी एक ही समय पर उनका ग्रहण कर सकते हैं। घट एक पदार्थ है। उसको कोई देखे या न देखे वह तो वर्तमान रहता है और, देखे जाने के समय बहुत से प्रमाता उसको एक ही समय पर देख भी सकते हैं। फलतः तीन अन्तःकरणों और पांच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियों से, [2]निश्चय, अभिमान, संकल्प, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के रूप में उत्पन्न सर्वसाधारण ज्ञान को, 'जाग्रत् अवस्था' कहते हैं। इसमें सतोगुण की प्रधानता रहती है।

---

१. 'ज्ञानं जाग्रत्', (शि० सू० १.८)

२. बौद्धं गार्वं च सांकल्पं शाब्दं स्पार्शं च रूपजम्।
रसजं गन्धजं चान्यदैन्द्रियज्ञानमेव यत्॥
अत्र गृहीतृग्रहणग्राह्यरूपा चिदात्मनः।
स्फुरत्येव ज्ञानशक्तिर्जाग्रद्वृत्तिरिहैव सा॥
(शि० सू० वा०, ८ सूत्र)

१. स्वप्न-अवस्था—[1]इस अवस्था में प्रमाता के इन्द्रियवर्ग का बाह्यप्रसार रुक जाता है और परिणामतः उनकी निश्चयन, अभिमानन, शब्दन, स्पर्शन इत्यादि सारी वृत्तियाँ केवल मानसिक संकल्पविकल्पात्मकता में ही केन्द्रीभूत हो जाती हैं। फलतः इस अवस्था में प्रमाता जाग्रत्-अवस्था की तरह ही नगर, गिरि, उपवन इत्यादि पदार्थों का अनुभव मानसिक विकल्पों के द्वारा करने लगता है। इस अवस्था का जाग्रत्-अवस्था के साथ केवल इतना भेद होता है कि इसमें अनुभूयमान पदार्थ-वर्ग एक ओर क्षणपर्यवसायी होता है और दूसरी ओर स्वप्नावस्था में पड़े हुए प्रमाता के अतिरिक्त दूसरे प्रमाता उसको ग्रहण नहीं कर सकते हैं। फलतः केवल मानसिक संकल्पविकल्पात्मकता के द्वारा विषयों के अनुभव करने की अवस्था को 'स्वप्नावस्था' कहते हैं। इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है।

३. सुषुप्ति-अवस्था[2]—इस अवस्था में प्रमाता के अंतस् में तमोगुण की इतनी मात्रा बढ़ जाती है कि वह सारे तन-मन की सुध खोकर गहरे मोह में पड़ जाता है। इन्द्रियों की शक्ति न [3]ज्ञानरूप में और न ज्ञेयरूप में ही कुछ काम कर सकती है। फलतः प्रमाता केवल आन्तरिक चेतना, जिसको मायापदवी पर 'चित्र' कहते हैं, के द्वारा ही विषयों का अनुभव कर सकता है। सुषुप्ति काल में विषयों की अनुभूति रहती तो अवश्य है परन्तु तमोगुण की मात्रा अधिक होने के कारण प्रमाता को इस अवस्था से उठने के अनन्तर इसमें प्राप्त की हुई अनुभूतियों का स्मरण स्पष्ट रूप में नहीं होता है। हाँ केवल इस काल में अनुभूत विषयों के द्वारा लगे हुए संस्कारों से उठने के अनन्तर उसको 'मैं सुख से सोया हुआ था; मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है' इसप्रकार का धुंधला जैसा स्मरण होता है। फलतः गहरी नींद में पड़कर केवल चित्त के द्वारा ही विषयों को अनुभव करने की अवस्था को सुषुप्ति-अवस्था' कहते हैं। इसमें तमोगुण की प्रधानता होती है।

---

१. स्वप्नो विकल्पाः, (शि० सू०, १.९)

दृष्टिस्वभावस्य विभोरन्तर्नवनवोदयः।
विकल्पानां स्मृतः स्वप्नस्तद्बाह्यार्थनिरासतः॥

(शि० सू० वा०, ९ सूत्र)

२. अविवेको मायासौषुप्तम्, (शि० सू०, १.१०)

३. ज्ञानज्ञेयस्वरूपायाः शक्तेरनुदयो यदा।
चिद्रूपस्याविवेकः स्यादसावेवाविमर्शतः॥
सैव माया वृत्तिजालपोषकत्वात् प्रकीर्तिता।
अर्थस्मृती स्वात्मसंस्थे चिद्रूपे सा सुषुप्तता॥

(शि० सू० वा०, १० सूत्र)

इन तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त स्मृति, मद, मूर्च्छा इत्यादि अनन्त मानसिक अवस्थायें होती हैं। इनके स्वरूपविश्लेषण के विषय में शास्त्रकारों ने एक सिद्धान्त स्थापित किया है कि जिन वृत्तियों में सात्विक अंश की अधिकता हो उनको जाग्रत् में, जिनमें राजसिक अंश की अधिकता हो उनको स्वप्न में और जिनमें तमोगुण की प्रधानता हो उनको सुषुप्ति में अंतर्भूत समझना चाहिये।

इन्ही तीन मौलिक अवस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्ध अथवा विच्छेद की विचित्रता से अनन्त प्रकार की मानसिक अवस्थायें जन्म लेती हैं। उदाहरण के तौर पर इन अवस्थाओं में से प्रत्येक में त्रिरूपता पाई जाती है। जैसे—

१. जाग्रत् में जाग्रत्, जाग्रत में स्वप्न और जाग्रत में सुषुप्ति;
२. स्वप्न में जाग्रत्, स्वप्न में स्वप्न और स्वप्न में सुषुप्ति;
३. सुषुप्ति में जाग्रत्, सुषुप्ति में स्वप्न तथा सुषुप्ति में सुषुप्ति ॥

इन अवस्थाओं के गोरखधन्धे के विश्लेषण की यहाँ पर कोई आवश्यकता नहीं है। जिज्ञासु पाठक इसको तंत्रालोक आदि ग्रंथ पढ़कर स्वयं समझ सकते हैं। यहाँ पर केवल इस बात का परीक्षण करना अभिप्रेत है कि क्या इन अवस्थाओं की भिन्नता से स्वरूप में कोई भेद उत्पन्न हो सकता है?

शास्त्रकारों का कथन है कि इन पाँचों ही अवस्थाओं में [1]वेदक अर्थात् अनुभव करने वाला प्रमाता एक ही होता है। [2]यदि इनमें से प्रत्येक का वेदक अलग अलग होता तो एक अवस्था का अनुभव करने वाला प्रमाता दूसरी अवस्था से बिल्कुल अनभिज्ञ रहता। फल यह होता कि एक ही अवस्था के अभाव में ये अवस्थायें ही नहीं बन सकती और न इनकी कोई निश्चित संख्या ही कही जा सकती। अवस्था शब्द से एक ही वस्तु की भिन्न भिन्न देश, काल, आकार आदि के साथ सम्बन्धित दशा अथवा स्थिति का अभिप्राय लिया जाता है। स्पष्ट है कि अवस्थाओं की संख्या चाहे जितनी भी हो उन सबों का सम्बन्ध [3]एक ही अवस्थाता के साथ होना आवश्यक है। अतः ये पांचों अवस्थायें एक ही चेतन प्रमाता की स्वयं अङ्गीकृत अवस्थायें हैं और, स्थूलरूप में इनमें पारस्परिक स्वरूप भेद होते हुए भी इनका अनुभव करने वाली चेतन सत्ता की उपलब्धृता (अनुभव करने का स्वभाव) में, कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

---

१. इति पञ्चपदान्याहुरेकस्मिन् वेदके सति, (तं०, १०.२२६)
२. एकस्मिन् वेदके सतीति, अनेकस्मिन् वेदके अन्यस्य जाग्रदन्यस्य स्वप्नः इत्यवस्थानामवस्थात्वं पञ्चात्मकत्वं च न स्यात्
(तं० वि०, १०.२२८)
३. एकमेव ह्यवस्थातारमधिकृत्यासां तथाभावो भवेदिति भावः।
(तं० वि०, १०.२२८)

इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए शास्त्रों के प्रमाणों अथवा सुनी सुनाई बातों पर विश्वास करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आये दिन कम से कम प्रत्येक मनुष्य इस बात का स्वयं ही अनुभव कर लेता है। एक ही मनुष्य किसी दिन नींद से उठते ही ऐसा कह डालता है कि–"अरे मैं कल जाग्रत्-अवस्था में पत्र लिख रहा था; रात को किसी समय स्वप्नअवस्था में हवाई जहाज में उड़ रहा था और तदन्तर इतनी गहरी नींद में डूब गया कि मुझे किसी बात की सुध-बुध न रही"। यदि इन तीनों अवस्थाओं में उसके चैतन्यात्मक स्वभाव में कोई भेद होता तो वह प्रातः उठकर तीनों अनुभूतियों को समानरूप से कैसे अभिव्यक्त कर सकता ? इसी से यह बात भी समझ में आ जाती है कि चेतन प्रमाता ही इन अवस्थाओं की अभिव्यक्ति ओर इनका अनुभव भी कर सकता है। अतः ये एक ही चैतन्यसत्ता के भिन्न भिन्न अवस्थामात्र है ॥ ३ ॥

[सुखिता इत्यादि में स्पन्द की अनुस्यूतता]

पूर्वसूत्र में यह कहा गया कि जाग्रत् इत्यादि अवस्थाओं में एक ही अवस्थाता व्याप्त रहता है। परन्तु संसार में 'मैं सुखी हूँ'; 'मैं भूखा हूँ; 'मैं कृश हूँ'; 'मैं कुछ भी नहीं हूँ', इत्यादि बहुत सी ऐसी विकल्पात्मक अनुभूतियाँ हैं जो कि प्रत्यक्ष-रूप में शरीर, बुद्धि, प्राण, शून्य इन पर अवसित होने वाली 'अहं प्रतीति' के द्वारा अनुमेय और, सुख, दुःख इत्यादि उपाधियों से विशिष्ट अनेक प्रकार के जीवात्माओं के साथ सम्बन्धित होती हैं। ऐसी दशा में प्रत्येक अनुभूति के साथ सम्बन्धित एक ही अनुभावी की वर्तमानता कैसे स्वीकार की जा सकती है ? अगले सूत्र में इस शङ्का का समाधान किया जा रहा है—

अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादिसंविदः।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ताः स्फुटम् ॥ ४ ॥

स चानुस्यूत एव सर्वास्ववस्थासु, यस्मात् 'य एव अहं सुखी स एव अहं दुःखी' 'रक्तो वा पश्चात् स्थित' इति अनुस्यूतत्वेन; अन्यत्र अवस्थाव्यतिरिक्ते। यदागमः

'........................स स्वभावः परः स्मृतः।' इति ॥ ४ ॥

अनुवाद

सूत्र—यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं अनुरक्त हूँ' ये और इसी प्रकार के दूसरे विकल्पज्ञान (शरीर इत्यादि से भिन्न) किसी दूसरी ही वेदकसत्ता के साथ सम्बधित होते हैं। वह (वेदकसत्ता) स्वतः इन सबों से नितरां भिन्न होने पर भी, इन सबों में अनुस्यूत होती है ॥ ४ ॥

वृत्ति—वह स्पन्दात्मक स्वभाव सारी अवस्थाओं में अनुस्यूत अर्थात् धागे की तरह पिरोया हुआ ही है क्योंकि—'जो ही मैं पहले सुखी था वही मैं पीछे दुःखी या अनुरक्त हूँ' इस प्रकार की अनुभूतियों में साधारण 'अहं प्रतीति' के रूप में एक ही वेदक की अनुस्यूतता पाई जाती है। 'अन्यत्र' शब्द उस स्वभाव का द्योतक है जो स्वयं सारी अवस्थाओं से भिन्न है। आगमशास्त्रों में इस प्रकार कहा गया है।

'वह स्वभाव सब वस्तुओं में भिन्न एवं उत्कृष्ट कहा गया है' ॥ ४ ॥

विवरण

प्रस्तुत सूत्र में ग्रन्थकार ने, बौद्धों के क्षणिकविज्ञानवाद, मीमांसकों के सुख दुःख इत्यादि उपाधियों से विशिष्ट आत्मवाद और चार्वाकों के देहात्मवाद का, सूत्रात्मक रूप में खण्डन करके अपने स्पन्द-सिद्धान्त का मण्डन किया है। ग्रन्थकार के अभिप्राय को सरलतापूर्वक और अच्छी प्रकार हृदयङ्गम करने के लिए इन सारे दार्शनिकों के दृष्टिकोणों का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है।

१. बौद्ध दार्शनिकों का क्षणिकविज्ञानवाद—इस संसार में 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार व्यवहार में लाये जाने वाले परामर्शों के रूप में, भिन्न भिन्न आकार-प्रकार वाले ज्ञान-क्षण ही प्रकाशमान हैं।[1] इनके अतिरिक्त और किसी आधारभूत स्पन्दात्मक चैतन्य (स्वभावभूत विश्वात्मा) की सत्ता को स्वीकारना ठीक नही है क्योंकि वैसा करने में कल्पनागौरव के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं होगा। वे ज्ञानक्षण परस्पर विलक्षण होते हुए भी स्वयं ही प्रकाशवान हैं। उनको किसी दूसरे पदार्थ के द्वारा प्रकाशित होने की आवश्यकता नही पड़ती है।

ज्ञान एक ही प्रकार का नही है अपितु प्रमाता (प्रमाता जो कि स्वयं भी इन ज्ञानक्षणों के अतिरिक्त कुछ नही है) के हृदय में, अजस्ररूप में, भिन्न [2]भिन्न समय, भिन्न भिन्न विषय और भिन्न आकार-प्रकारों के साथ सम्बन्धित ज्ञानक्षणों की धारा बहती रहती है जिसको 'ज्ञान-सन्तान' कहते हैं। ज्ञानक्षणों की भिन्नता इसलिए कही जाती है कि एक ज्ञान केवल तीन [3]क्षणों तक ठहर सकता है अतः प्रति तीन क्षणों के पश्चात् उसका समय, विषय और आकार-प्रकार बदल जाता है। अब जो प्रत्यक्षतः इनमें एकरूपता जैसी अनुभव में आती है वह केवल इसलिए कि पहले ज्ञानक्षणों के संस्कार उत्तर उत्तर काल के ज्ञानक्षणों को जन्म देते हैं। संस्कार का स्वभाव ही स्थितिस्थापकता अर्थात् पहली ही जैसी दशा को जन्म देना होता है। इसी स्वभाव के कारण पहले पहले ज्ञानक्षणों के संस्कार, दूसरे, परन्तु पहले

---

१. दृष्टव्य—भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १२४.

२. ……ज्ञानान्येव प्रकाशन्ते, भिन्नकालानि भिन्नविषयाणि भिन्नाकाराणि च। (ई० प्र० वि०, पृष्ठ ५४)

३. दृष्टव्य—भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १२५.

जैसे ही, आकार-प्रकार वाले अपर ज्ञानक्षणों को उत्पन्न करते हैं जिससे कि इनमें एकरूपता पाई जाती है।

ये ज्ञानक्षण दो प्रकार के हैं "निर्विकल्प और सविकल्प"। निर्विकल्प ज्ञानक्षणों का शास्त्रीय नाम [१]'स्वलक्षणाभास' है अर्थात् किसी वस्तु का पहली बार प्रत्यक्ष हो जाने पर उस वस्तु के साथ सम्बन्धित वह प्राथमिक ज्ञानक्षण, जिसमें [१]उस वस्तु का, किसी भी नामरूपात्मक विकल्प से रहित और मात्र उस वस्तु के विकल्पहीन स्वरूप में परिनिष्ठित, रूप में अनुभव हो जाता है। यह प्राथमिक [२]ज्ञानक्षण उस वस्तु या अवस्था के विकल्पहीन स्वरूप में ही संकुचित होने के कारण एक ही प्रकार का है अतः इसके द्वारा सांसारिक आदान-प्रदान सम्भव नही हो सकता।

यह निर्विकल्प ज्ञानक्षण अपने संस्कार के द्वारा दूसरे सविकल्प ज्ञानक्षण को जन्म देता है। इस क्षण तक पहुंचते पहुंचते उसी पूर्वानुभूत वस्तु या अवस्था के साथ नामरूपात्मक विकल्पों का सम्बन्ध हो जाता है। ये [३]नामरूपात्मक विकल्प अनन्त प्रकार के हैं। अतः इनसे सम्बन्धित सविकल्प ज्ञानक्षण भी अनन्त प्रकार के हैं और इनके साथ अभिलाप अर्थात् शब्दों में अभिव्यक्ति का भी सम्बन्ध हो जाता है। [४]स्थान को घेरने वाली और वज़न से युक्त वस्तु का नाम 'रूप' है। वज़न से रहित और स्थान न घेरने वाली वस्तु को 'नाम' कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार पहले में पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार महाभूत और इनसे उत्पन्न शरीर और, दूसरे में विकल्पात्मक मानसिक प्रवृतियाँ अन्तर्भूत हो जाती हैं।

नाम के चार भेद हैं—'वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान'। रूप एक ही प्रकार का है। फलतः रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धों का समुदाय ही सन्तानरूप में बहने वाली ज्ञानधारा है। इनमें से 'विज्ञान' से निर्विकल्प और 'संज्ञा' से सविकल्प ज्ञानक्षणों का अभिप्राय है। पहले भी कहा गया है कि बौद्धों के मतानुसार यही ज्ञानसन्तान चेतन आत्मा का सारा स्मरण, उपलब्धि इत्यादि कार्य सिद्ध कर लेता है। [५]अतः उससे भिन्न किसी दूसरे नित्य

१. तत्र नीलप्रकाश: 'स्वलक्षणाभासं ज्ञानम्'। 'स्वम्' अन्यानुयायि स्वरूपसंकोचभाजि 'लक्षणं' देशकालाकाररूपं यस्य तस्य 'आभासः' प्रकाशनम् अन्तर्मुखं यस्मिन्॥
(ई० प्र० वि०, ५४ पृष्ठ)

२. स्वलक्षणाभासं ज्ञानमेकम्"॥ (ई० प्र०, १.२.१)

३. साभिलापं विकल्पाख्यं बहुधा"॥ (ई० प्र०, १.२.१)

४. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ, १२४.

५. "" नापि तद्द्वयम्।
नित्यस्य कस्यचिद्द्रष्टुस्तस्यात्रानवभासतः
अहंप्रतीतिरप्येषा शरीराद्यवसायिनी॥ (ई० प्र०, १.२.२)

एवं उपलब्ध आत्मा की कल्पना करके इन त्रिक्षणवृति ज्ञानों का उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना यथार्थ से बहुत दूर है। वास्तव में इन ज्ञानक्षणों के बीच में ऐसी किसी दूसरी चेतन सत्ता की वर्तमानता अनुभव में भी नहीं आती है। अब जो 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि परामर्शों में 'मैं' की प्रतीति देखने में आती है उसका पर्यवसान केवल या तो 'रूप' अर्थात् शरीरसन्तान अथवा 'नाम' अर्थात् ज्ञानसन्तान पर ही हो जाता है। इनसे इतर किसी कपोलकल्पित 'आत्मा' नामक चेतन पदार्थ पर नहीं।

२. **मीमांसकों का उपाधिविशिष्ट आत्मवाद**—मीमांसकों से यहाँ पर भाट्टमत के अनुयायी कुमारिल जैसे उद्भट मीमांसागुरुओं का अभिप्राय है। [1]उन्होंने अपने समय में अनात्मवादी बौद्धों के प्रखर तर्कों को अपने पाण्डित्यपूर्ण एवं अकाट्य तर्कों से विशीर्ण करके धराशायी कर दिया और भारत में पुनः वैदिक धर्म की मर्यादा का त्राण किया। इन लोगों का मत बहूत मात्रा तक न्याय के प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि प्रमाणों पर आधारित है।

उनके मतानुसार किसी भी [2]प्रकार के ज्ञान के साथ कोई न कोई विशेषता अवश्यमेव उपाधि बन कर रहती है। यदि रजत का ज्ञान है तो उसमें रजतत्व साथ रहता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि किसी विशेषता अथवा उपाधि के द्वारा ही किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। प्रस्तुत प्रकरण में भी इसी नियम के अनुसार 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि परामर्शों में सुखिता अथवा दुःखिता रूप विशेषताओं या उपाधियों के द्वारा ऐसी किसी आत्मा नामक वस्तु की, अनुमान के द्वारा, प्रतीति हो जाती है, जो इन उपाधियो से विशिष्ट है। 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि परामर्शों में दो प्रकार की प्रतीतियाँ अनुभव में आती है—एक, सुखिता इत्यादि रूप विशेषता या उपाधि की ओर, दूसरी 'मैं' की ओर। [3]सुखिता इत्यादि की प्रतीतियां गुण हैं। गुण गुणी के विना स्वतंत्र रूप में ठहर नहीं सकता है। उसको किसी आधारभूत गुणी की आवश्यकता रहती है। फलतः सुखिता इत्यादि का गुणी वही हो सकता है जिसकी प्रतीति 'मैं' से हो जाती हैं। वही आत्मा है।

इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि [4]सुखिता, दुःखिता इत्यादि उपाधियों का किसी उपाधि-विशिष्ट आधार के बिना, घट, पट की तरह अल्प दर्शन नहीं

१. द्रष्टव्य, भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ३१२.
२. भारतीय दर्शन, पृष्ठ ३२४.
३. सुखादि चेत्यमानं हि स्वतंत्रं नानुभूयते।
मतुबर्थानुवेधात्तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः॥ (ई० प्र० वि०, पृष्ठ ५८, टि० २१)
४. इदं सुखमिदं ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत्।
अहं सुखीति तु ज्ञाप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका॥ (तदेव)

होता है अतः 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि के द्वारा 'सुखिता' इत्यादि उपाधियों से विशिष्ट 'मैं' अर्थात् आत्मभूत वस्तु की प्रतीति अनुमान के द्वारा हो जाती है ।।

फलतः आत्मा के विषय में इनका निर्णय यह है कि 'आत्मा' के सद्भाव का अनुमान 'मैं' प्रतीति के साथ समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली 'सुखिता', 'दुखिता' इत्यदि विशेषताओं के द्वारा लगाया जा सकता है। इस आत्मा के दो अंश हैं—चिद् और अचिद् । [1]चिद् अंश से वह ज्ञान का अनुभव करने वाला और अचिद् अंश से सुखिता इत्यादि उपाधियों की विशिष्टता को प्राप्त करने वाला है । भाव यह है कि आत्मा स्वयं ही सुखदुःखादिरूप नही है अपितु तद्विशिष्ट है । अर्थात् सुख, दुःख इत्यादि विशेषताओं के द्वारा परिणाम को प्राप्त करता है । [2]कुमारिलभट्ट इतना भी मानते हैं कि आत्मा स्वयं चेतन वस्तु नही है अपितु शरीर और विषय के साथ संयोग होने की अवस्था में वह 'चैतन्य-विशिष्ट' बन जाती है । यही कारण है कि स्वप्नावस्था में विषयों के साथ सम्बन्ध छूट जाने के कारण आत्मा में तत्काल पर्यन्त चैतन्य नही रहता है । फलतः आत्मा जड भी है और बोधात्मक भी है ।

इस सारे कथन का निष्कर्ष इस प्रकार है—'मैं' प्रतीति से अनुमेय और, सुख दुःख इत्यादि उपाधियों से विशिष्ट वस्तु ही आत्मा है । इससे इतर कोई नित्य और स्वप्रकाश आत्मा नही है ।

३. चार्वाकों का देहात्मवाद—अनात्मवादी दार्शनिकों में चार्वाकों का स्थान प्राचीन भी है और महत्वपूर्ण भी । प्राचीन भारत में इनको लोकायतिक भी कहते थे ।

इनका मन्तव्य है कि शरीर से इतर आत्मा नामक किसी वस्तु का अस्तित्व मानना सच्चाई की आँखों में धूल झौंकने के अतिरिक्त और कुछ नही है । 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि अनुभवों में सुखिता और दुःखिता इत्यादि का सम्बन्ध चेतन शरीर के साथ ही है क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में यही देखने में आता है । जो प्रत्यक्ष में हो वही सत्य है । जो प्रत्यक्ष नही है उसके विषय में अनुमान आदि के बटेर उड़ाना मूर्खों का काम है ।

[3]चार्वाक लोग शरीर को ही चेतन आत्मा मानने के पक्ष में तीन प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

---

१. चिदंशत्वेन द्रष्टृत्वं सोऽयमिति प्रतिभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन, ज्ञानसुखादि-रूपेण परिणामित्वम् । (काश्मीरिक सदानन्द-अद्वैतब्रह्मसिद्धिः)
स आत्मा अहंप्रत्ययेनैव वेद्यः । (भा० द०, पृष्ठ ६०२)

२. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ३२८.

३. तदेव, ८१ पृष्ठ

१. जब तक शरीर रहता है (जीर्ण नहीं हो जाता है) तब तक ही चैतन्य भी रहता है। चैतन्य शरीर के साथ ही आता है और उसी के साथ जाता भी है। अन्नपान से चेतना (शरीररूप) वृद्धि पाती है और उसके अभाव में उसका ह्रास हो जाता है। अतः शरीर ही चेतन है।

२. 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं भूखा हूँ' इत्यादि अनुभवों के ज्ञान, शरीर की ओर ही संकेत करते हैं क्योंकि सुखी, क्षीण इत्यादि शरीर ही हो जाता है और कोई नहीं।

३. चैतन्य और भौतिक पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध शाश्वत और यथार्थ है क्योंकि जो कुछ जिस रूप में देखने में आता है वही सत्य है।

अब प्रश्न केवल इतना ही है कि इन भौतिक पदार्थों में चेतना[1] का उदय कहाँ से होता है? इस विषय में चार्वाकों का कथन है कि प्रत्यक्षरूप में जड़ दिखाई देने वाले पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार महाभूतों के आकस्मिक और किसी निश्चित नियम के अनुसार सम्मिश्रण से स्वयं ही चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है और, उस सम्मिश्रण का लोप हो जाने पर इसका भी लोप देखने में आता है। भूतों के सम्मिश्रण से ही शरीर की भी उत्पत्ति हो जाती है अतः स्वयं ही चैतन्य-युक्त शरीर उत्पन्न हो जाता है और मरने पर उस शरीर के चैतन्य का भी उसी के साथ नाश हो जाता है। [2]सृष्टि और संहार, जगत् का अपना ही स्वभाव है। इसमें ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। वास्तव में ईश्वर नामक पदार्थ है ही नहीं। अतः जो कुछ है वह शरीर ही है। इसी की आयु बढ़ाने का और इसी को सुखमय बनाने का उपक्रम करना ही जीवन का महत्वपूर्ण कार्य है। खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ। धर्म कुछ भी नहीं है। धन और काम ही जीवन के परम लक्ष्य हैं। मुक्ति की कल्पना झूठी है। मरना ही मुक्ति है।

इतना कहने से इनके मत का निष्कर्ष यही निकलता है कि सुखिता दुःखिता इत्यादि अनुभूतियों का और 'मैं' इस प्रतीति का सीधा सम्बन्ध शरीर के साथ है। अतः शरीर से इतर आत्मा या किसी चेतन सत्ता की विद्यमानता स्वीकार नहीं की जा सकती है।

इन तीनों वादियों का मुखमुद्रण करने के लिए ग्रन्थकर्ता ने इस सूत्र के एक ही प्रहार से इनके सभी तर्कों को धराशायी कर दिया है। ग्रन्थकार के विचारानुसार 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि परामर्शों में, एक ही आधारभूत सत्ता के दो रूपों की स्फुरणा अन्तर्निहित है। सुखिता दुःखिता अथवा मूढता इत्यादि अवस्था-विशेषों से सर्वस्व-तन्त्र संवित् के उस रूप का आभास मिलता है जहाँ वह संसार की क्रीडा करने के

१. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ८१.

२. तदेव, पृष्ठ ८२.

लिए स्वेच्छा से ग्राह्यभूमिका पर अवतीर्ण होकर स्वयं सारे प्रमेय पदार्थों का रूप धारण कर लेती है। 'अहम्' शब्द से उस रूप की ओर संकेत है जहाँ वह संसारी ग्राहक-भूमिका पर अवतीर्ण होकर स्वेच्छा से अपने आप को, पांच तन्मात्र, मनस्, बुद्धि और अहंकार के पुर्यष्टक में फंसे हुए संसारी प्रमाता (जीवात्मा) का रूप धारण कर लेती है। 'अन्यत्र' शब्द से वह विश्वोत्तीर्ण एवं अनुत्तर रूप अभिप्रेत है जहाँ वह प्रमातृभाव पर अवस्थित होकर इन सुखिता दुःखिता इत्यादि अवस्थाओं के द्वन्द्वों से विहीन पूर्ण आनन्दघनता में विलीन रहती है। फलतः संवित्-भट्टारिका ही वह धागा है जिसमें सारी प्रमेयता माला के दानों की तरह पिरोई हुई है। यही वह अन्तिम सोपान है जहाँ पहुँच कर सारी अवस्थाओं की कल्पनायें विश्रान्त और समरस हो जाती हैं। अब रहा प्रश्न यह कि संवित्भट्टारिका शाक्त प्रसर के अवसर पर किस प्रकार स्वयं ही संसारी-ग्राहक भूमिका अथवा ग्राह्यभूमिका पर अवतीर्ण होती है ? इस प्रक्रिया का यावत्-शक्य पर्यालोचन आगे सूत्र २ और १२ में किया जायेगा। यहाँ पर इतना ध्यान में रखना पर्याप्त है कि शरीर, प्राण, पुर्यष्टक, शून्य इत्यादि सारे जड़ एवं अजड़ पदार्थों की नानारूपता में एक ही आधारभूत एवं जीवनदायिनी स्पन्दशक्ति, अनुस्यूत रहती है और, उसकी परमार्थसत्ता को किसी भी प्रकार से नकारा नहीं जा सकता।

ग्रन्थकार के आशय को भली-भाँति स्पष्ट करने के लिए अब उपर्युक्त आशय की पृष्ठभूमि पर पूर्वोक्त मतवादों का थोड़ा सा परीक्षण करना युक्तियुक्त होगा—

१. बौद्धवाद का पर्यालोचन—बौद्धों ने जिन भिन्नकालीन ज्ञानों की प्रकाशमानता स्वीकार की है वे तो त्रिगुणात्मक प्रकृति की विकारभूत [1]बुद्धि पर ही पर्यवसित होते हैं। इस विषय में यह बात विचारणीय है कि क्या ज्ञान के भिन्नकालीन खण्ड हो सकते हैं और क्या ज्ञान स्वयं जड़ है या चेतन ? यदि ज्ञान भिन्न-कालीन और भिन्न आकार वाले मान लिए जाएं तो उनसे कोई अखण्ड प्रतीति कैसे सम्भव हो सकती है ? साथ ही यदि ज्ञान जड़ है तो जड़ होने के कारण वह किसी प्रकार की प्रतीति को कैसे प्रकाशित कर सकता है ? यदि ज्ञान चेतन है तो बौद्धों को जड़ से इतर कोई चेतन सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। वे ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं। प्रकाशमानता अर्थात् विषय को प्रकाशित करने के साथ साथ अपने को भी प्रकाशित करना केवल चेतन-सत्ता का ही स्वभाव हो सकता है। परन्तु बौद्ध लोग स्वयं ही द्रष्टा या उपलब्धा के रूप में किसी एक ही चेतन-सत्ता को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। फलतः उनके द्वारा स्वीकारे गये भिन्नकालीन एवं भिन्नाकार ज्ञान अनेकाकार होने के कारण वेद्य ही बन सकते हैं वेदक नहीं। अनेका-

१. 'ज्ञानसन्तान एव तत्वम्' इति सौगता बुद्धिवृत्तिषु एव पर्यवसिताः।

(प्र० हृ० सूत्र ८)

कारता ही वेद्यता होती है। वेद्यता में अर्थ प्रकाशिता का स्वभाव नहीं हो सकता। अतः अर्थप्रकाशिता के अभाव में ये ज्ञानक्षण स्वतः जड़ ही हैं। ये कदापि प्रकाशमान नहीं माने जा सकते।

इसके साथ ही बौद्ध लोगों का विचार है कि संसार के सारे आदान-प्रदान दूसरे सविकल्प ज्ञानक्षणों से चलते हैं और पहला निर्विकल्प ज्ञानक्षण इनका आधार होता है। वास्तव में बात ऐसी है कि ज्ञान का प्रथम क्षण अनुभवकाल और दूसरा क्षण स्मृतिकाल होता है। संसार के सारे व्यवहार प्राथमिक अनुभव पर नहीं अपितु उसकी स्मृति पर आधारित होते हैं क्योंकि संसार में एक ही पदार्थ को सैकड़ों बार देखने पर हर देखने को पहला अनुभव नहीं कहा जा सकता। स्मृतिकाल में विषय ठीक उसी रूप में प्रकाशित होते हैं जिस रूप में अनुभवकाल में उनका अनुभव हुआ होता है। विचारणीय यह है कि जब अनुभवक्षण में स्मृति नहीं है और स्मृतिक्षण में अनुभव नष्ट हुआ होता है तो ऐसी परिस्थिति में स्मृतिक्षण में घट, पट आदि पदार्थों का अनुभवकालीन रूप किस प्रकार प्रकाशित हो सकता है? विषयों के, ठीक वैसे ही रूप में प्रकाशित न होने की दशा में उनकी स्मृति कैसी और परिमाणतः संसार के व्यवहारों का चलना भी कैसा?

अब यदि बौद्धों के संस्कारसिद्धान्त को माना जाय कि अनुभव के संस्कारों से स्मृतिक्षण में ठीक अनुभवकाल के ही आकार-प्रकार वाले विषयों का प्रकाशन हो जाता है तो एक बाधा उपस्थित होती है। वह यह कि संस्कार का स्वभाव पहली जैसी स्थिति की स्थापना करना होता है। अनुभवकाल के संस्कार स्मृतिकाल में भी बिल्कुल अनुभवकाल के समान रूपवाले ज्ञानों को जन्म देंगे। अनुभवकाल में विषय का अनुभव निर्विकल्परूप में होता है। अतः स्मृतिकाल में भी ज्ञानों का रूप निर्विकल्पक ही होगा। अर्थात् स्मृति का विषय बने हुए ग्राह्यपदार्थों में किसी प्रकार की नामरूपादि की कल्पना सम्भव नहीं होगी। ऐसी दशा में स्मृति के द्वारा भी संसार के आदान-प्रदान कैसे सम्भव होंगे?

इन बाधाओं को दृष्टि में रखकर शैवदार्शनिक इस निर्णय पर पहुँच गये हैं कि वास्तव में इन दोनों ही ज्ञानक्षणों के बीच में इनसे इतर चेतन और स्वयंप्रकाशमान सत्ता अनुस्यूत है जिसमें सारे अनुभव, स्मृतियाँ, आकार और प्रकार बीज में वृक्ष के समान अवस्थित हैं। वह चेतनसत्ता स्वप्रकाश होने के कारण अपने आन्तरिक अनुसन्धान के द्वारा अनुभव और स्मृति को एकाकार बनाकर और, निर्विकल्प को नामरूपादि की कल्पना के द्वारा सविकल्प का रूप देकर, संसार के व्यवहारों को चलाती है।

२. मीमांसकवाद का पर्यालोचन—[1]सुखदुःखादिविशिष्ट 'मैं' प्रतीति को ही आत्मा का नाम देते हुए ये लोग वास्तव में बुद्धितत्त्वपर ही अवस्थित हैं क्योंकि

---

१. अहंप्रतीतिप्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृतः आत्मा-इति मन्वाना मीमांसका अपि बुद्धावेव निविष्टाः। (प्र० हृ०, सूत्र ८)

सुख, दुःख और मोह अन्तःकरण की ही वृत्तियाँ हैं। इस विषय में यह विचारणीय है कि यदि आत्मसत्ता प्रतिसमय सुखदुःखादि की उपाधियों के नीचे दबी रहती है तो उसको चेतन और स्वतन्त्र नही कहा जा सकता। दूसरी ओर सुखदुःखादि अवस्थाओं को, उसके प्रतिद्वन्दी के रूप में, एक अलग सत्तावान पदार्थ मानना पड़ेगा परन्तु ऐसा हो नही सकता क्योंकि सुखदुःखादि स्वयं जड़ और अनेक होने के कारण शाश्वत सत्तावान पदार्थ नही माने जा सकते हैं। कुमारिल जैसे प्रख्यातनामा मीमांसक आत्मा को स्वतन्त्ररूप में चैतन्य न मान कर चैतन्य-विशिष्ट मानते हैं। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हो सकता है कि आत्मा में चैतन्य और कहीं से आया है। कहाँ से आया है यह स्पष्ट नहीं है। कहीं से भी आया हो, परन्तु उसको स्वतन्त्र न रख कर, आत्मा की विशेषता बनाना और, आत्मा को उसका विशेष्य बनाना निष्प्राण कामिनी के गले में कंचन का हार डालने के समान है। यह कहना कि 'गुण, गुणी के बिना ठहर नही सकता है' न्यायसंगत नही है। ऐसी अवस्था में भी आत्मा की स्वतन्त्रता और एकता संशय में पड़ जाती है। साथ ही यह नियम केवल संसारभूमिका पर ही चलता है क्योंकि विश्वात्मा वही बन सकता है जो गुणों को सत्ता प्रदान करने पर भी स्वयं गुणातीत हो। फलतः इन लोगों का उपाधिविशिष्ट आत्मवाद भी कुछ संतोषजनक नही है।

३. चार्वाकों के देहात्मवाद का पर्यालोचन—[१]चार्वाकों की ज्ञानमीमांसा प्राचीन भारत के सारे बौद्ध, जैन और ब्राह्मण मतावलम्बियों को समानरूप से कभी भी मान्य नही रही है। कम से कम आज भी, जबकि विश्व के कोने कोने में भौतिकवाद अपनी चरमसीमा पर पहुँच चुका है, चार्वाकीय विचारधारा भारतीय वसुन्धरा पर पनप नही सकती है। यहाँ के जनमानस की गहराइयों में शैव और वेदान्त जैसे दर्शनों के अध्यात्मवाद ने शताब्दियों से इतनी मज़बूत जड़ पकड़ ली है कि कोई या किसी प्रकार की भी भौतिकता-मूलक विचारधारा उसको सरलता से हिला नही सकती। चार्वाकों की ज्ञानमीमांसा स्पष्टरूप में देहात्मवाद, प्रत्यक्षवाद और आधिभौतिक सुखवाद पर आधारित है। इसमें धर्म, आचार और ईश्वर के लिए कोई स्थान नही है। भारत का, दिनभर कडकती धूप में काम करने वाला खेतीहर या सड़कपर पत्थर तोड़ने वाला मजदूर, दिन भर खून-पसीना एक करके सायंकाल को मंदिर में जाकर, जब तक भोलेनाथ या गिरधर की आरती न उतारे, तब तक उसको चैन कहाँ? भले ही उसका उदर आधा खाली ही रहे परन्तु ज़ोर ज़ोर से घडियाल बजाने में उसको अपूर्व आनन्द और संतोष प्राप्त होता है। यह बात उसके रक्त में मिली हुई है; आखिर इससे उसको अलग कैसे किया जा सकता है?

---

१. द्रष्टव्य : भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ७३–८७.

चार्वाकों का देहात्मवाद तो खैर, शरीर की नश्वरता प्रत्यक्षरूप में देखने से ही संशय में पड़ जाता है परन्तु केवल प्रत्यक्षवाद को स्वीकार करना भी तर्क के अनुकूल नही है। आखिर संसार के व्यवहार कभी कभी अनुमान या आप्तवाक्य पर भी चलते हुए दिखाई देते हैं। अतः इन दो प्रमाणों को किसी के कहने मात्र से ही झुठलाया नही जा सकता। इसके साथ ही इन लोगों ने भौतिकसुखवाद के अन्तर्गत जिस प्रकार के आचार-विचार की रूपरेखा प्रस्तुत कर रखी है वह तो आदर्शवादी भारतीय मस्तिष्क को कभी मान्य नही होगी।

फलतः निष्कर्ष यही निकलता है कि अध्यात्मवाद की पृष्ठभूमि पर चार्वाकों के देहात्मवाद का आलोचन करना सरासर अन्याय है क्योंकि जब वे लोग शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी आत्मा नामक सत्ता के सद्भाव को नहीं स्वीकारते हैं तो उन पर यह सिद्धान्त थोपा भी कैसे जा सकता है? ॥ ४ ॥

[स्पन्दशक्ति का पारमार्थिक अस्तित्व]

अब सूत्रकार अगले सूत्र में स्पन्दात्मक शाक्तभूमिका का स्वरूप-वर्णन करने के साथ साथ, उसकी परमार्थ–सत्ता को सिद्ध कर रहे हैं :—

न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यो ग्राहको न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥ ५ ॥

तस्य चायं स्वभावो यत् सुख-दुःख-ग्राह्यग्राहक-मूढतादिभावैरस्पृष्टः। स एव च परमार्थतोऽस्ति नित्यत्वात्। सुखादयः पुनः संकल्पोत्थाः क्षणभङ्गुरा आत्म-स्वरूपबाह्याः शब्दादिविषयतुल्याः। न च, सुखादिस्वरूपो यदा नासौ तदा पाषाणप्रख्य एव ॥ ५ ॥

अनुवाद

सूत्र – जिसमें दुःख, सुख, की अवस्थाये नहीं हैं, जिसको ग्राह्यता[१] या ग्राहकता[२] छू भी नहीं लेती है और, जो मूढभाव[३] से सर्वथा रहित है वही तत्त्व परमार्थसत्[४] है ॥ ५ ॥

वृत्ति—उस स्पन्द-तत्त्व का यह स्वभाव है कि उसको सुख, दुःख, ग्राह्यता, ग्राहकता, मूढता इत्यादि भाव कभी भी स्पर्श नहीं करते हैं। वही तत्त्व परमार्थ सत् है क्योंकि वह नित्य है। सुख इत्यादि केवल मानसिक संकल्पों की ही उपज हैं,

१. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के रूप में बहिरङ्ग प्रमेयता।
२. पुर्यष्टक में नियन्त्रित जीव का मित-प्रमातृ भाव।
३. किसी भी वेद्य पदार्थ को ज्ञान का विषय बनाने के सामर्थ्य का अभाव; अचेतनता की जैसी अवस्था।
४. शाश्वत रूप में और सदा एक रूप में वर्तमान सत्ता।

क्षणमात्र में नष्ट होने वाले हैं और आत्मा के वास्तविक रूप से बाह्य हैं। अतः वे भी शब्द इत्यादि ज्ञेय-विषयों के ही तुल्य कक्ष हैं। इस सम्बन्ध में यह सोचना भी व्यर्थ है कि यदि उस तत्त्व को सुख इत्यादि की अनुभूति नहीं है तो वह पत्थर के समान (जड़) है ॥ ५ ॥

विवरण

शाश्वत-स्पन्दमयी संवित् भट्टारिका बहिर्मुखीन विश्वरूप में प्रसृत होने की उन्मुखता में स्वयं बहिर्मुख होकर सबसे पहले सूक्ष्म प्राणभूमिका या सामान्य-प्राणना की भूमिका पर अवतीर्ण होकर, त्रिगुणात्मक अन्तःकरणों का रूप धारण कर लेती है। इन त्रिगुणात्मक अन्तःकरणों का रूप ही सुख, दुःख और मोह होता है। अतः सुखिता, दुखिता और मूढता इत्यादि अवस्थायें स्वरूप से इतर अन्य कोई पदार्थ नहीं हैं। [1]यह तो अखण्ड ज्ञानरूपा पारमेश्वरी शक्ति है जो कि अन्तर और बाह्य-रूप में प्रकाशमान, नील सुख इत्यादि वेद पदार्थों के रूप में स्वयं ही प्रकाशमान है। प्रतिसमय संसार में देखा आता है कि प्रत्येक प्रमाता ज्ञान के द्वारा ही इन नील सुखादि विषयों का अनुभव करता है, अर्थात् ज्ञान सत्ता के आधार के बिना किसी भी विषय की कोई सत्ता नहीं है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि जो जिसके बिना अलग रूप में स्थित नहीं रह सकता है वह उसे अभिन्न हुआ करता है। [2]फलतः नील सुखादि भी ज्ञान से इतर अन्य कोई पदार्थ नहीं हैं। यदि यह अवस्थायें ज्ञानरूप हैं तो हैं, यदि नहीं हैं तो नहीं हैं। जिस प्रकार यदि मिट्टी है तो घट है यदि मिट्टी नहीं है तो घट भी नहीं है।

इस सम्बन्ध में यह बात स्मरणीय है कि चित्-तत्त्व का स्वरूप विश्वात्मक अहं विमर्श है। इस अहं विमर्श के दो रूप हैं—शुद्ध तथा अशुद्ध। शुद्ध का सम्बन्ध पतिप्रमातृभाव के साथ है। इसमें सारी अवस्थायें और सारे विरोधात्मक द्वन्द्व अपनी भेदमयता को भूल कर विशुद्ध चित्रूप एका कारता में उसी प्रकार अवस्थित रहते हैं जिस प्रकार संसार की सारी सरितायें सागर में पहुँच कर सरितायें न रह कर सागर ही बन जाती हैं। अशुद्ध अहं विमर्श (माया शक्ति के द्वारा संकोच में पड़ी हुई 'मैं' प्रतीति) का सम्बन्ध संसारी जीव अथवा पशु प्रमातृभाव के साथ है। यह वह अवस्था है जिसमें वही विशुद्ध चित्-[3]तत्त्व, अपने

---

१. तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ॥
(का० क्र० उदाहृत शि० सू० वि०, सू० ३०)

२. नहि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः।
ज्ञानं तदात्मतां यातमेतस्मादवसीयते ॥ (तदेव)

३. चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चितम्। (प्र० हृ०, ५)

ही रूपान्तर माया शक्ति के द्वारा, अपनी ही अभिन्न ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और मायाशक्ति को संकोच में डाल कर क्रमशः [1]सतोगुण रजोगुण और तमोगुण (बुद्धि, मनस् और अहंकार) के समष्टिरूप चित्त के रूप को धारण कर लेता है। यह चित्त ही प्रत्येक प्रकार की अवस्थाओं, उपाधियों, उनके पारस्परिक विरोधात्मक द्वन्द्वों, विचित्र प्रकार के शरीरों एवं आकार-प्रकारों की अनेकाकारता की सर्जना करके उनको अपना वास्तविक स्वरूप समझता रहता है जबकि वास्तविक स्थिति कुछ और है।

फलतः विशुद्ध चित्-तत्त्व प्रतिसमय अखंड ज्ञानात्मक एकाकारता होने के कारण इन सारी सुखिता, दुःखिता, ग्राह्यता और ग्राहकता की उपाधियों से रहित और परमार्थ सत् है। अब जो पशु प्रमातृ पदवी पर प्रत्येक जीवधारी में इन उपाधियों के प्रति 'अहं' अभिनिवेश देखने में आता है वह तो केवल अपने वास्तविक चैतन्य स्वरूप की अनुभूति की हीनता के कारण ही है। [2]इसके विपरीत निरन्तर अभ्यास एवं गुरुकृपा से आत्मस्वरूप की अनुभूति को प्राप्त करने वाले साधक, इन सारी उपाधियों को, दूसरे घट पट आदि ग्राह्य पदार्थों की तरह ही अपने से अलग 'इदम्' रूप में और, अपने आत्मस्वरूप को विशुद्ध 'अहं' रूप में अनुभव कर लेते हैं। फलतः ऐसे व्यक्तियों को संसार के द्वन्द्व प्रभावित नहीं कर सकते हैं।

अब रहता है मूढता का प्रश्न। इस विषय में कई दार्शनिकों का यह विचार है कि यदि आत्मस्वरूप में सुख दुःख इत्यादि अवस्थाओं का नितान्त अभाव अर्थात् इनकी संवेदनहीनता ही है तो उसका स्वरूप भी [3]मूढता अर्थात् वेद्यपदार्थों की अनुभूति के सामर्थ्य का अभाव ही है। शास्त्रों में इस शंका का निवारण इस प्रकार किया गया है कि [4]यदि कोई व्यक्ति संज्ञाहीनता अथवा प्रगाढ सुषुप्ति की अवस्था में पडा हुआ हो तो प्रत्यक्षरूप में उसे किसी बात का संवेदन नहीं होता है। परन्तु ज्योंही वह ऐसी अवस्था से उठता है तो कहने लगता है; 'अरे, मैं तो गहरी संवेदन-हीनता (मूढता) में पडा हुआ था'। यदि उस समय में उसकी आत्मा सत्यतः ही मूढ बनी होती तो उसको मूढता में पडे रहने का संवेदन ही कैसे होता ? मूढता से सर्वशून्यावस्था का अभिप्राय है तो ऐसी अवस्था में रहने की अवधि का उसको

---

१. स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः॥
(ई० प्र०, ३. २. ३)

२. सुखदुःखयोर्बहिर्मननम्। (शि० सू०, ३. ३३)

३. मूढस्य भावो मूढत्वं वेद्यवेदनसामर्थ्याभावः। (स्प० का०, पृष्ठ ३१)

४. यतः तस्यापि अवस्थान्तरे मूढोऽहमासम् इति प्रत्यवमर्शमानत्वात् वेद्यत्वं स्थित-मेव केवलं तत्कालमनुपलम्भः (स्प० का०), पृष्ठ ३१.

किसी भी प्रकार का संवेदन नहीं होना चाहिये था, परन्तु वैसा देखने में नहीं आता है। अतः मूढता भी आत्मा का स्वरूप नहीं है।

सूत्र के अन्तिम पाद में आत्मतत्त्व की परमार्थसत्ता की बात कहने से सूत्रकार ने 'असत् = सर्वाभाव' को ही शाश्वत यथार्थ मानने वाले लोगों का मुखमुद्रण किया है। सूत्रकार के मतानुसार सर्वोपाधिरहित विशुद्ध आत्मस्वरूप निश्चयपूर्वक परमार्थ सत् है जबकि उससे इतर यह सारा कार्यरूप प्रपञ्च संवृति-सत्य है। जो वस्तु परमार्थ सत् है वह कभी असत् नहीं हो सकती है। यदि उसको 'असत्' मान लिया जाये तो इस शङ्का का समाधान नहीं हो सकता है कि 'असत्' वस्तु से 'सत्' (सत्स्वरूप में दिखाई देने वाले कार्यरूप जगत्) की उत्पत्ति कैसे हुई है?

फलतः मौलिक स्पन्दतत्व स्वयं 'सत्' है और इसी कारण उससे, दृश्यमान कार्यरूप 'सत्' का ही विकास होता है। सूत्र के तीसरे और चौथे पाद में शून्यवादी माध्यमिकों (बौद्ध दार्शनिकों की एक शाखा) और अभाव ब्रह्मवादी श्रुत्यन्तविदों (प्राचीन वेदान्तियों की एक शाखा) के मतों की निःसारता का प्रतिपादन किया गया है। आगे सूत्र १२ में इन दोनों वादों का यथासम्भव पर्यालोचन किया जायेगा ॥ ५ ॥

[स्पन्दतत्त्व की उपादेयता]

इस प्रकार स्पन्दतत्व की परमार्थ सत्ता को सिद्ध करके अब सूत्रकार अगले दो सूत्रों में इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि विश्व के अणु अणु में उसी स्पन्दात्मक पारमेश्वरी शक्ति के स्वातन्त्र्य का प्रसार स्पष्टरूप में दृष्टिगोचर होता है। वह शक्ति उसी स्वातन्त्र्य के द्वारा जड़वर्ग में अनुस्यूत होकर उसको भी ठीक चेतनधर्मा ही बना लेती है। अतः बड़ी लगन और अथक प्रयत्न के द्वारा उस मौलिक तत्त्व के परीक्षण करने से ही मनुष्यजन्म चरितार्थ हो सकता है।

यतः करणवर्गोऽयं विमूढोऽमूढवत् स्वयम्।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्तिस्थितिसंहृतीः ॥ ६ ॥
लभते, तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात्।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ॥ ७ ॥

यतः करणवर्गस्य अन्तश्चक्रसहितस्य विमूढस्याप्यमूढवत् उत्पत्तिस्थिति-निरोधाः, सोऽन्येषां चैतन्यापादने समर्थः कथं निःस्वभावः। तस्मात् तत् तत्त्वं यत्नेन परीक्षितव्यं योगिना। यथास्य करणादिषु चैतन्यदाने स्वातन्त्र्यम्, तथा परपुरादिष्वपि सम्भाव्यते; स्वातन्त्र्यस्य स्वस्वभावभूतस्य सर्वत्राकृत्रिमस्याभ्यासात् यतो व्यक्तिः ॥ ६–७ ॥

अनुवाद

सूत्र—जिस आत्मबल (स्पन्दात्मकबल) के स्पर्शमात्र से ही, आन्तर शक्ति चक्र के साथ साथ, उस बाह्य अचेतन इन्द्रियवर्ग को भी चेतन की तरह ही सृष्टि, स्थिति और संहार करने का धर्म प्राप्त होता है, उस तत्त्व (स्पन्दात्मक स्वभाव) का परीक्षण महती श्रद्धा और भगीरथ प्रयत्न के द्वारा करना चाहिये। ऐसा करना आवश्यक है क्योंकि उस तत्त्व की स्वभावभूत स्वतन्त्रता विश्व के अणु अणु में (प्रत्येक शरीर और प्रत्येक दशा में) व्याप्त है ॥ ६-७ ॥

वृत्ति—जिस तत्त्व के बलस्पर्श से आन्तर करणेश्वरीचक्र (खेचरी इत्यादि शक्तिचक्र) के साथ, इस सारे इन्द्रिय वर्ग को, स्वतः अचेतन (जड़) होने पर भी, चेतन की तरह ही सृष्टि, स्थिति और संहार करने का धर्म प्राप्त होता है, वह तत्त्व दूसरे (जडवर्ग से सम्बन्धित) पदार्थों को चेतनता प्रदान करने में समर्थ होने के कारण, स्वयं स्वभावहीन (चैतन्य से रहित) कैसे हो सकता है ? अतः योगी को चाहिये कि वह भगीरथ प्रयत्न के द्वारा उस तत्त्व का परीक्षण करे। जिस प्रकार उस तत्त्व को इन्द्रियां इत्यादि जड़ वर्ग में चेतनता का संचार करने की स्वतन्त्रता है उसी प्रकार इस बात की भी सम्भावना है कि वह दूसरे शरीर, प्राण इत्यादि को भी चेतनधर्मा बनाने में स्वतन्त्र है। सहज-स्वातन्त्र्य (स्वतन्त्र अहं प्रत्यवमर्श) ही प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव (अपना वास्तविक भाव-आत्मा) बन कर अवस्थित है। अतः अभ्यास (श्रमहीन साधना) करने से ही उसकी अनुभूति हो जाती है ॥ ६-७ ॥

विवरण

प्रस्तुत सूत्रों का अर्थ अच्छी प्रकार हृदयङ्गम करने के लिए इनमें प्रयुक्त 'करण वर्ग' 'आन्तरचक्र' तथा 'प्रवृत्तिस्थिति संहृतीः' इन दार्शनिक शब्दों का अभिप्राय समझना आवश्यक है। अतः निम्नलिखित पंक्तियों में इन पर यावत्-शक्य प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है—

१. करणवर्ग—'करण' शब्द का अर्थ वह कोई अपेक्षिततम साधन है जिसके बिना किसी कार्य की निष्पत्ति नहीं हो सकती है। संसार के आदान-प्रदान में किसी भी चेतन प्राणी के अन्तर में विद्यमान भावात्मक विश्व का बाहर के नाम-रूपात्मक व्यक्त विश्व के साथ और, बाहर का आन्तर के साथ सम्बन्धित होने का कार्य चलता रहता है। इसी को दैनिक-जीवन का व्यवहार कहते हैं। इस जीवन व्यवहार के, ज्ञानप्रधानता में सङ्कल्पन, निश्चयन, अभिमानन, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, आस्वादन, जिघ्रण (सूंघना); और, क्रिया प्रधानता में चलना, उठना, बोलना, मलत्याग और आनन्दानुभूति ये तेरह रूप हैं। इनमें से पहले तीन का आन्तर भावनात्मक और शेष का बाह्य नामरूपात्मक विश्व के साथ सम्बन्ध है।

इन तेरह प्रकार के कार्यों को करने वाले साधन तेरह इन्द्रियां हैं। अतः इस इन्द्रिय-वर्ग का ही शास्त्रीय नाम करण वर्ग है। इन तेरह इन्द्रियों का उपर्युक्त कार्यों के अनुसार विभाग इस प्रकार है—

तीन अन्तः करण—मनस, बुद्धि और अहंकार

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका

पाँच कर्मेन्द्रियाँ—पाद, हस्त, जिह्वा, पायु, उपस्थ

इनमें से जिह्वा आस्वाद के समय ज्ञानेन्द्रिय ओर बोलने के समय कर्मेन्द्रिय बन जाती है।

ये सारे करण स्वयं अचेतन हैं अतः उपर्युक्त कार्यों को करना इनका अपना धर्म नहीं है। विशेष स्पन्दों की धारायें ही इनमें संचारित होकर इनको चेतनधर्मा बना लेती हैं जिससे ये चेतन की तरह संकल्पमात्र से ही तत्तत्कार्य करते रहते हैं। प्रत्यक्षतः ऐसा लगता है कि ये स्वयं ही सारा काम करते हैं परन्तु वास्तव में काम करने की शक्ति इनसे इतर होकर इनमें अनुस्यूत होती है और ये स्वयं उसके साधन-मात्र होते हैं। यदि इनमें ये सारे कार्य करना अपना ही धर्म होता तो मृत्यु हो जाने के अनन्तर भी इनसे वह धर्म छूटने न पाता।

२. **आन्तर चक्र**—पहले सूत्र के विवरण में आन्तर शक्तिचक्र के विषय में कुछ संकेत दिया गया है। यह भी कहा गया है कि वास्तव में परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति अथवा स्पन्दशक्ति एक ही है जो अनन्त एवं अपरिमित धाराओं में प्रवाहमान होकर विश्व के अणु अणु का रूप धारण करती है। शक्ति की इन्हीं अनन्त धाराओं को शास्त्रों में आन्तर चक्र या शक्तिचक्र या करणेश्वरीचक्र का नाम दिया गया है। तन्त्रालोक, स्वच्छन्द, विज्ञानभैरव इत्यादि अनेक शैवग्रन्थों में परमेश्वर की अनेक शक्तियों और अनेक चक्रों की विस्तृत विवेचना की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी आगे कई स्थानों पर इनकी ओर संकेत किया गया है जिन पर यथासम्भव प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ पर इस चक्र से उस शक्तिवर्ग का अभिप्राय है जो प्रमाता (जीव) के अन्तःकरणों, बहिष्करणों (इन्द्रियवर्ग) और प्रमेयभावों को स्फुरणा प्रदान करता है। इस शक्तिवर्ग के खेचरी[1], गोचरी, दिक्चरी और भूचरी ये चार प्रधान विभाग किये गये हैं। इस विषय में निम्नलिखित बातें स्मरणीय हैं।

परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति विश्व का बाह्यप्रसार करने की भूमिका पर 'वामेश्वरी'[2] रूप धारण कर लेती है। शास्त्रकारों ने यह नामकरण निम्नलिखित उपपत्तियों के आधार पर किया है—

१. खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीरूपैः अशेषैः प्रमातृअन्तःकरणबहिष्करणभाव-स्वभावैः परिस्फुरन्ती, प्र० हृ०, सू० १२.

२. किंच चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती (तदेव)

१. यह विश्व का वमन करती है अर्थात् स्वरूप में केवल 'अहं' रूप में ही अवस्थित भावमण्डल का, बाह्य 'इदं' रूप में अवभासन करती है।

२. यह वाम अर्थात् उल्टा आचरण करती है। भाव यह है कि स्वभाव के विरुद्ध रूप को अर्थात् संसार के रूप को धारण करके सारे विश्व को अनन्त आपत्तियों और जन्ममरण का विषय बना लेती है।

३. यह संसार-भाव के विरुद्ध आचरण करती है। भाव यह है कि पारमेश्वर शक्तिपात का पात्र बने हुए व्यक्तियों में शिवभाव का विकास करती है।

ऐसी वामेश्वरी शक्ति ही उपर्युक्त खेचरी इत्यादि चार शक्तियों की मूलभूत शक्ति है।

ये खेचरी इत्यादि शक्तियाँ[1] पशुभाव में पड़े हुए शिव को मोह में डाल कर उसकी बुद्धि में संसारी हेय पदार्थों के प्रति अहं-अभिनिवेश का दुराग्रह उत्पन्न करती हैं जिससे उसको अपने वास्तविक विश्वात्मभाव और अपनी अबाध एवं असीम पञ्चविधकृत्यकारिता का ज्ञान नहीं रहता है। परमेश्वर की इसी अवस्था को 'संसारभाव' कहते हैं।

इतना होते हुये भी इस शक्तिवर्ग का काम द्विमुखी है। जहाँ[2] ये शक्तियाँ अज्ञानी पुरुषों को अधोगति के गर्त में धकेलती रहती हैं वहाँ सद्गुरुओं की कृपा से निर्मल हृदय वाले पुरुषों को शिवभाव पर आरूढ करने की क्षमता भी रखती है। ऐसे[3] सावधान साधकों के हृदयों में ये शक्तियाँ मूढ़भाव को उत्पन्न नही करती हैं। वे तो शरीर, प्राण इत्यादि में रहते हुए भी साक्षात् शिव ही होते हैं।

इन चारों शक्तिचक्रों के स्वरूप के विषय में शास्त्रकारों का मन्तव्य संक्षेप में इस प्रकार है—

१. खेचरी—ज्ञान[4] के अनन्त आकाश में विचरण करने वाली शक्तियाँ अपने मूलरूप में इन शक्तियों का नाम 'चिद्गगनचरी' (चिदाकाश में विचरण करने

---

१. तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्।
(प्र० हृ०, १२ सूत्र)

२. पूर्णावच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः ।
वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात् स्युर्मुक्तिबन्धदाः ॥
(मुक्तक, भट्टदामोदर, उदाहृत प्र० हृ०, सूत्र १२)

३. एवं संकुचितशक्तिः प्राणादिमानपि यदा स्वशक्तिव्यामोहितो न भवति, तदा अयम्, '············शरीरी परमेश्वरः' ॥ (प्र० हृ०, सू० १२)

४. 'खे बोधगगने चरतीति'। (प्र० हृ०, सू० १२)

वाली) है। परन्तु [1]जब परमेश्वर की सर्वकर्तृता आदि असंकुचित और असीम पांच शक्तियाँ संकोच में पड़कर कला, विद्या आदि पांच कञ्चुकों का रूप धारण करती हैं तब पशुभूमिका पर उनका नाम 'खेचरी-चक्र' पड़ता है। इस अवस्था में पशुओं के ज्ञान क्षेत्र पर संकोच का आवरण डालकर अपने वास्तविक 'चिद्-गगनचरी' रूप को छिपा लेती है जिससे वे अपने आपको शक्ति दरिद्र एवं असहाय जैसा समझते हैं।

[2]दूसरी ओर यही शक्तिवर्ग सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व इत्यादि पांच असीम परमेश्वरी शक्तिरूपों में स्पन्दायमान होता हुआ, अपने वास्तविक 'चिद्गगनचरी' रूप से पति-प्रमाता के हृदय को विकसित करता रहता है।

२. गोचरी—[3]परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार वाणियों के और, अन्तःकरणों के, क्षेत्र में विचरण करने वाला शक्तिवर्ग—एक ओर पशु-प्रमाता के हृदय को भेदव्याप्ति में डालकर अपारमार्थिक संकल्पविकल्पों का शिकार बना लेता है और, दूसरी ओर पतिप्रमाता के हृदय में पूर्ण अभेद व्याप्ति के रूप में स्फुरायमान है।

३. दिक्चरी—[4]पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां नामक दस दिशाओं में विचरण करने वाला शक्तिवर्ग—एक ओर पशुओं की इन्द्रियों को बाहर संसार की ओर प्रवहमान बनाकर, उनके द्वारा उनको बाह्य विषयों का भेदरूप में ग्रहण करवाता रहता है और दूसरी ओर पतिप्रमाता को अन्तर्मुखीन एवं अतीन्द्रिय संवेदन के द्वारा प्रत्येक पदार्थ का अभेद 'अहं' रूप में ग्रहण करवाता है।

४. भूचरी—[5]शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच प्रमेय भूमिकाओं में विचरण करने वाला शक्तिवर्ग—एक ओर पशुप्रमाता को भिन्न भिन्न रूपों में अवभासित होने वाले घट पट इत्यादि अनन्त प्रमेयजालों के गोरख धन्धे में फंसा लेता है और, दूसरी ओर पतिप्रमाता को उन्हीं अनन्त रूपों वाले प्रमेय पदार्थों का, अपने ही अङ्गों के समान, विशुद्ध चिन्मात्र रूप में ही अनुभव करा लेता है।

सारा आन्तर शक्तिचक्र स्पन्दमयी संवित् के साथ अभिन्न होने के कारण सतत् स्पन्दमय अर्थात् नित्यचेतन है। यही नित्य चेतन शक्तिवर्ग सारे इन्द्रियवर्ग में और

---

१. पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता किञ्चित्कर्तृत्वाद्यात्मक-कलादिशक्त्यात्मना खेचरीचक्रेण गोपितपारमार्थिकचिद्गगनचरीत्वस्वरूपेण चकास्ति।

(प्र० हृ०, सू० १२)

२. पतिभूमिकायां तु सर्वकर्तृत्वादिशक्त्यात्मकचिद्गगनचरीत्वेन। (तदेव)

३. द्रष्टव्य, प्र० हृ०, सूत्र १२.

४. द्रष्टव्य, प्र० हृ०, सूत्र १२.

५. द्रष्टव्य, प्र० हृ०, सूत्र १२.

इनसे इतर अन्य देह, प्राण, पुर्यष्टक इत्यादि में चेतना का संचार करके उनको चेतन के समानधर्मा बना लेता है जिससे संसारी जीव भी अपनी अपनी अनुरूप परिधि में उसी प्रकार सृष्टि संहारादि कार्य करता रहता है जिस प्रकार स्वयं परमेश्वर अपने असीम विश्वात्मस्वरूप में करता रहता है।

जीवभाव में इन्द्रियों की प्रवृत्ति, स्थिति और संहृति (सृष्टि, स्थिति, संहार) की दशा—

१. प्रवृत्ति (सृष्टि)—[1]अपने अपने ग्राह्य विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) को ग्रहण करने के अवसरों पर इन्द्रियों की, उनकी ओर उन्मुख होने की अवस्था को इन्द्रियों की प्रवृत्ति या 'सृष्टिदशा' कहते हैं।

२. स्थिति—[2]अपने अपने अनुकूल ग्राह्य विषयों को ग्रहण करने के अनन्तर, कुछ समय तक उन्हीं के साथ तन्मय होकर, विश्रान्त होने की अवस्था को इन्द्रियों की 'स्थिति-दशा' कहते हैं।

३. संहार—अभिलषित[3] कार्य समाप्त हो जाने पर, उन्ही ग्रहण किये हुए ग्राह्य पदार्थों से अलग होकर, अपने कार्य से निवृत्त होने की दशा को, इन्द्रियों की 'संहारदशा' कहते हैं। इसको दूसरे शब्दों में इन्द्रियों की 'प्रत्यस्तमयावस्था' भी कहते हैं।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सारे आन्तर शक्तिचक्र और तद्वारा बाह्य इन्द्रिय वर्ग अथवा सारे जडवर्ग को सत्ता देने वाला मूलतत्व अहं प्रत्यवमर्शात्मक स्पन्दतत्त्व (संविद्भट्टारिका) ही है। अब रहा प्रश्न उस तत्त्व की परीक्षा का। इस विषय में शास्त्रों के गहरे अध्ययन, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्त यथार्थ अनुभूति और सर्वोपरि शक्तिरूप गुरुचरणों की सेवा की आवश्यकता है।

सातवें सूत्र के उत्तरार्ध 'यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा' के द्वारा सूत्रकार ने इस बात का संकेत भी दिया है कि अथक प्रयत्न और अटूट श्रद्धा से उस मौलिक तत्त्व की परीक्षा करने से ही मितप्रमाता को अपने मूलभूत सहज-स्वातन्त्र्य की अनुभूति हो जाती है ॥ ६–७ ॥

---

१. 'प्रवृत्तिः' जिघृक्षितार्थोन्मुखतासमुन्मिषदवस्था।
(स्प० का०, पृष्ठ ३४)

२. 'स्थिति'र्गृहीतार्थविश्रान्त्यावस्था।
(स्प० का०, पृष्ठ ३४)

३. 'संहृतिः' कृतकृत्यत्वात् बाह्यार्थपरित्यागे स्वव्यापारोपरमः 'प्रत्यस्तमयावस्था'। (तदेव)

[प्रमातृत्व वर्ग में स्पन्दशक्ति का स्पर्श]

पूर्व सूत्र में कहा गया है कि शाश्वत स्पन्दमय अनुत्तरतत्व स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा अचेतन इन्द्रियवर्ग में चेतना का संचार करके उनको चेतनधर्मा बना लेता है। इस सम्बन्ध में यह शङ्का उत्पन्न हो जाती है कि फिर पतिप्रमाता और जडवर्ग के बीच में अवस्थित पशुप्रमाता (संसारी जीव) के लिए कौन सा स्थान अवशिष्ट रह जाता है ? क्या वह सदा के लिए दोनों के बीच में अटका हुआ रहकर, कहीं और दिशा से आई हुई इच्छारूपी चाबुक की मार से, इन्द्रियों को अपने अपने कार्य की ओर प्रवृत होने की मात्र प्रेरणा देता रहता है ? इस शङ्का का निवारण अगले सूत्र में किया जा रहा है—

न हीच्छानोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ।
[1]अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत् ।। ८ ।।

न च इच्छाप्रेषणेन करणानि प्रेषयति, अपि तु स्वस्वरूपे स्थित्वा केवलं यादृशी तस्येच्छा प्रवर्तते तथाविधमेव स बाह्यान्तरं कार्यमुत्पादयति, तेन न करणविषयमेव सामर्थ्यंम्, किं तु तस्य सर्वत्र ।। ८ ।।

अनुवाद

सूत्र—यह बात निश्चित है कि यह पुरुष (मितप्रमाता) केवल पारमेश्वरी इच्छा के अंकुश का प्रेरकमात्र बनकर ही नही रह जाता है अपितु आत्मबल का स्पर्श होने की दशा में स्वयं भी उसी (पतिप्रमाता) के समान बन जाता है ।।८।।

वृत्ति—यह नही सोचना चाहिये कि यह मितप्रमाता पारमेश्वरी इच्छारूपी अंकुश के द्वारा इन्द्रियवर्ग को अपना अपना काम करने की मात्र प्रेरणा देता रहता है, अपितु, इसका अभिप्राय यह है कि यह अपने स्वरूप में ही स्थित होने पर, अपनी इच्छा के अनुसार बाह्य एवं आभ्यन्तर कार्यों की सृष्टि करता है। ऐसी दशा में इसको केवल इन्द्रियों को विषयाभिमुख बनाने का सामर्थ्य ही नही होता है अपितु यह प्रत्येक क्षेत्र में स्वतन्त्रता से कार्य करने की क्षमता भी प्राप्त कर लेता है ।। ८ ।।

विवरण

प्रस्तुत सूत्र वास्तव में पूर्वसूत्र की ही व्याख्या है। पूर्वसूत्र में जो कुछ कहा गया है उससे यह शङ्का सहज ही में उत्पन्न हो सकती है कि जब पतिप्रमाता सीधे

१. सूत्र के इन दो चरणों का यह अभिप्राय भी निकल सकता है कि साधारण जीवों में भी आत्मबल का ही अंशतः स्पर्श होता है जिससे वे भी अपनी संकुचित परिधि में परमात्मा की तरह ही अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने में सक्षम होते हैं।

ही जडवर्ग में चेतनासंचार करके संसार के कार्य चलाता है तो संसारी ग्राहकवर्ग अर्थात् संसार के सारे जीवों का अस्तित्व ही संशय में पड़ जाता है। परन्तु वस्तु-स्थिति तो इससे कुछ भिन्न ही देखने में आती है। संसार के प्रत्येक आदान-प्रदान के समय हम देखते हैं कि प्रत्येक संसारी जीव (ग्राहक) अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अपनी इन्द्रियों को सहजरूप में विषयों की ओर अभिमुख या उनसे निवृत्त कर लेता है। आखिर किसी भी प्रकार का कार्यकलाप सम्पन्न होने के समय परमेश्वर स्वयं ही हिमालय जैसे ऊंचे मंच पर खड़ा होकर जीवों को कठपुतलियों की तरह नचवाता तो नहीं रहता है। यदि ऐसी ही परिस्थिति होती तो संसार के सारे ग्राहकवर्ग के अस्तित्व का अभिप्राय ही क्या होता ? साथ ही जब संसार का सारा ग्राहकवर्ग प्रत्यक्षरूप में स्वयं ही प्रत्येक प्रकार का आदानप्रदान करता हुआ देखने में आता है तो इस यथार्थ को पारमेश्वरी इच्छामात्र का नाम देकर टाला भी कैसे जा सकता है।

इस शङ्का का समाधान तब तक मिलना असम्भव है जब तक यह न समझा जाये कि शैवसिद्धान्त के अनुसार पतिप्रमाता[१], पशुप्रमाता[२] और सारे ग्राह्यवर्ग[३] (जडप्रमेयवर्ग) का वास्तविक स्वरूप क्या है ? क्या ये तीन प्रकार की अलग अलग और पारस्परिक सम्बन्ध-रहित स्वतन्त्र सत्तायें हैं या एक ही मूलभूत सत्ता के तीन रूपान्तरमात्र है ?

इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि सूत्रकार ने इसी सूत्र में जो आत्मबल के स्पर्श की पहेली बुझा दी है उसका वास्तविक अभिप्राय क्या है। आत्मबल स्वयं क्या है और वह किसको स्पर्श करता है ? शैवशास्त्रियों का मन्तव्य है कि वास्तव में सतत-स्पन्दमयी पारमेश्वर सत्ता स्वयं ही इन तीनों रूपों में प्रकाशमान है। वह[४] सत्ता विभु होने के कारण सर्वव्यापक; नित्य होने के कारण आदि और अन्त से रहित; विश्वाकृति होने के कारण स्वयं ही चेतनरूप और जडरूप और विश्व के विचित्र आकार-प्रकारों का अवभासन करने वाली है। सच बात तो यह है कि इन कारणों से वह स्वयं ही बहुरूपिया है।

असीम एवं अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण शिव, विश्व का बाह्य अवभास न करने की ओर संकल्पात्मक उन्मुखता के समय सर्वप्रथम उसका अवभासन स्वरूप से

१. शिव—पूर्णप्रमाता, पतिप्रमाता।
२. जीव—संसारी ग्राहक, मितप्रमाता।
३. सारा जडवर्ग, ग्राह्य, ज्ञेयविषय।
४. विभुत्वात्सर्वगो नित्यभावादाद्यन्तवर्जितः।
विश्वाकृतित्वाच्चिदचित्तद्वैचित्र्यावभासकः ॥
ततोऽस्य बहुरूपत्वम्………………। (तं० १.६१.६२)

अभिन्न अहंविमर्श के रूप में ही करता है। इस अवभासन का शास्त्रीय नाम 'आदिसर्ग'[१] है। अनन्तर अपनी ही स्वातन्त्र्यशक्ति के रूपान्तर मायाशक्ति के द्वारा स्वरूप पर ही आवरण डालकर, स्वात्मरूप[२] दर्पण में ही अनन्त प्रकार के ग्राहकों और ग्राह्यों का अवभासन करता है। संसारी ग्राहकदशा[३] और ग्राह्यदशा स्वरूप पर पड़े हुए आवरण के तारतम्य और अनुपात पर ही आधारित है। इस प्रकार परमेश्वर स्वयं ही तीनों रूपों में अवभासित है। निम्नलिखित तालिका से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

	प्रमाता का रूप	आवरण का तारतम्य	शक्ति का स्वरूप	आकार	भावों का रूप	भेद
१.	पति प्रमाता	विशुद्ध, चिद्रूप अनावृत	ज्ञातृत्व और कर्तृत्वरूपपूर्ण-स्वातन्त्र्य	विश्वात्मभाव आकारहीन	सारे भाव अपने ही अंग जैसे	भेदरहित सर्वव्यापक
२.	पशु प्रमाता	चिदचित्, आधा आवृत, आधा अनावृत	संकुचित ज्ञान और क्रिया	देह, प्राण पुर्यष्टक और शून्य	सारे भाव अपने से भिन्न	देवता मानव पशुपक्षिवर्ग
३.	जड प्रमेय	अचित् चिद्रूपता-पूर्ण आवृत	ज्ञेयभाव और कार्यभाव	जड पंचमहाभूत	घोरमूढ़ता में पड़े रहने के कारण संज्ञाहीनता	सारी स्थावर प्रकृति के असंख्यभेद

१. विश्वनिर्माणेच्छुर्हि परमेश्वरः प्रथमं स्वाव्यतिरिक्तमेव विश्वं प्रकाशयेत्, अयमेव हि 'आदिसर्गः' तत्र तत्रागमेषु उच्यते। (तं० वि०, १.१३५)

२. अनन्तरं यदास्य मायया सर्गचिकीर्षा भवति तदा स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मदर्पणे अनन्तग्राह्यग्राहकद्वयाभाससन्ततीराभासयति। (तदेव)

३. सोऽयमात्मानमावृत्य स्थितो जडपदं गतः।
आवृतानावृतात्मा तु देवादिस्थावरान्तगः।
जडाजडस्याप्येतस्य द्वैरूप्यस्यास्ति चित्रता॥ (तं०, १.१३४–५)

वास्तव[१] में संसार में दिखाई देने वाली अनन्त भावराशि परमात्मा की अनन्त शक्तियों के विश्वमय प्रसार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह इसको अपने स्वतन्त्र संकल्पमात्र से ही अवभासित करता है। स्वरूपतः एकाकार होने पर भी ग्राहकरूप या ग्राह्यरूप अनेकाकारता को अवभासित करने की संकल्पात्मक क्षमता ही परमेश्वर का क्रियात्मक स्वातन्त्र्य है जो संकुचित ग्राहकवर्ग में सम्भव नहीं हो सकता है। चैतन्य[२] किसी दूसरे वस्तु की अपेक्षा से रूपप्रसार नहीं करता है अपितु यह उसका अकाट्य स्वभाव ही है। भूमि में डाला हुआ बीज लोकयात्रा की अपेक्षा से अंकुर नहीं बनता है अपितु अंकुरित होना उसका स्वभाव ही है। फलतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संसारी ग्राहक (मितप्रमाता) और पतिप्रमाता स्वरूपतः भिन्न नहीं हैं। ऐसी दशा में उनकी इच्छाशक्ति भी भिन्न नहीं हो सकती है। परिणामतः ज्ञान और क्रिया में भी भेद नहीं हो सकता है। हाँ केवल स्वातन्त्र्य के अनुपात और तारतम्य में भेद अवश्य है। पतिप्रमाता पूर्ण स्वतन्त्र और चिद्रूप होने के कारण विश्वरूप में इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों को प्रयोग में ला सकता है जबकि पशुप्रमाता अंशतः स्वतन्त्र और चिद्रूप होने के कारण, अपनी संकुचित परिधि में ही इन तीनों शक्तियों को, उसी अनुपात से प्रयोग में ला सकता है। इतना ही नहीं, अपितु संसार के अनन्त जीव जन्तुओं में आपस में भी चिद्रूपता पर पड़े हुए आवरण के अनुपात से इन तीन शक्तियों की हीनता या अधिकता देखने में आती है। यदि एक छोटे से जीव को विश्व की परिधि और शक्तित्रय का तारतम्य कुछ होता है वही उससे बड़े जीव या मनुष्य का नहीं हो सकता है। महान दावाग्नि बड़े जंगल को जला सकती है जब कि अंगारा एक छोटे दाह्यपदार्थ को और चिंगारी एक रूई के रेशे को ही जला सकती है। परन्तु जिस प्रकार अग्नि के छोटा या बड़ा होने से उसके जलाने के स्वभाव में कोई अन्तर नही पडता है उसी प्रकार प्रमाता चाहे पतिभाव पर हो या पशुभाव पर, उसके स्पन्दात्मक चैतन्यस्वभाव में कोई अन्तर नही पड़ सकता है। अब यदि कोई कहे कि छोटी सी चिंगारी भी कभी बड़ी से बड़ी आग बन सकती है, तो ठीक है; पशुप्रमाता भी कभी कभी साधना के बल से पतिप्रमाता बन सकता है।

---

१. एष चानन्तशक्तित्वादेवमाभासयत्यमून् ।
भावानिच्छावशादेषा क्रिया निर्मातृतास्य सा ॥
(ई० प्र०, २. ४. २)

२. न लोकयात्राभिप्रायाज्जनयेद् बीजमङ्कुरम् ।
किन्तु स्वभावात्........................... ॥
(ई० सि०, ४२)

प्रमाता के इस पतिभाव और पशुभाव के विषय में भगवान उत्पलदेव का कथन है कि प्रमाता[१] को जिस अवस्था में सारा भावमण्डल अपना अंग जैसा ही अर्थात् अपने अहं विमर्शात्मक स्वभाव से अभिन्न प्रतीत होता है उसको पतिप्रमातृ-भाव कहते हैं। उस प्रमाता को 'पति' इसलिए कहते हैं कि उसका स्वतन्त्र साम्राज्य सारे भाववर्ग पर छाया है और वह उन सारे भावों को अपने चैतन्यामृत की बिन्दुओं से अनुप्राणन या पालन करता रहता है। इसके प्रतिकूल जिस अवस्था में उसको, मायीय आवरण में ढ़के रहने के कारण, अपने ही अंगभूत भाव अपने से व्यतिरिक्त रूप में प्रतीत होते हैं उसको 'पशुप्रमातृभाव' कहते हैं। इस अवस्था में वह भाववर्ग का अधिपति न रहकर उनका दास बना है। भावों का क्षोभ (उथल पुथल) ही उसके लिए बना है जिसमें फँसकर वह पशु और जन्ममरण की संसृति के दुरत्यय पथ का राही बना है।

इन तीनों रूपों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में शैवगुरुओं ने लम्बी-चौड़ी और पेचदार दिमागी कवाइद करने के अनन्तर यह निष्कर्ष निकाला है कि ये तीनों आपस में अभेद-सम्बन्ध में स्थित हैं।

अब रह जाता है प्रश्न आत्मबल और उसके स्पर्श का। आत्मसत्ता में स्पन्द-मयी पूर्णाहन्ता का बल है। पतिप्रमातृभाव की अवस्था में यह बल अपरिमित एवं पूर्ण स्वतन्त्र है। संसारी ग्राहकभाव की अवस्था में इसका 'स्पर्श' अर्थात् अंशतः विद्यमानता है अतः वह परिमित एवं अंशतः स्वतन्त्र है। यही कारण है कि जहाँ पतिप्रमाता असीम रूप में सब कुछ युगपत् ही चाहता है, जानता है और करता है, वहाँ पशुप्रमाता, देह, प्राण एवं पुर्यष्टक के पिंजरे में बद्ध होने के कारण, ससीम रूप में और निश्चित क्रम में कुछ ही चाहता है, जानता है और करता है। परन्तु दोनों रूपों में प्रवर्तमान क्रियाशीलता वास्तव में मौलिक [२]आत्मसत्ता पर ही आश्रित है। फलतः पशुप्रमाता भी वास्तव में स्वरूप में ही अवस्थित है, उससे बाहर नहीं है। इसके अतिरिक्त 'आत्मबलस्पर्श' का अभिप्राय स्वरूप की पूर्णानुभूति होना भी है। पशुप्रमाता को अलक्ष्य अनुग्रह से जब वास्तविक पूर्ण-अहन्तारूप स्वरूप की अनुभूति हो जाती है तब वह भी पशुभाव से मुक्त होकर साक्षात् शिव ही बन जाता है। ऐसी दशा में उसकी इच्छा विश्वात्मा की ही इच्छा होती है।

---

१. स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः।
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः॥
(ई० प्र०, ३. २. ३)

२. यद्यप्यर्थस्थितिः प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रिते।
जीवे निरुद्धा तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता॥ (अ० प्र० सि०, २०)

आत्मबल के विषय पर आगे भी यथासम्भव विवेचन किया जायेगा। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि आत्मबल का महत्व शब्दों के द्वारा अवर्णनीय है। इसके स्पर्शमात्र से, करणवर्ग ही क्या, सारे विश्व में हलचल मच जाती है। आज का यांत्रिक युग तो इसका ज्वलन्त उदाहरण है। किसी भी बिन्दु पर आत्मबल का स्पर्श पाते ही सारा जडवर्ग ऐसे नाचने लगता है कि मानो कठपुतलियाँ नाच रही हों। प्रत्येक प्राणी की पंचभौतिक काया, प्राण इत्यादि भी इसके अपवाद नही हैं ॥ ८ ॥

[क्षोभ की शक्ति और स्पन्द की उपलब्धि]

पूर्व सूत्र में यह बात सिद्ध की गई कि वास्तव में पतिप्रमाता और पशुप्रमाता में कोई स्वरूपगत भेद नही है। इस सिद्धान्त को स्वीकारने में कोई आपत्ति नही थी परन्तु सूत्र का अन्तिम चरण इसमें अड़चन उत्पन्न कर रहा है वह यह कि यदि जीव और शिव में कोई स्वरूपगत भेद नहीं है तो इस अन्तिम चरण—'पुरुषस्तत्समो भवेत्' में पुरुष को शिव के साथ समानता प्राप्त करने की आवश्यकता को अभिव्यक्त करने का क्या प्रयोजन है? अतः स्पष्ट है कि स्वरूपगत भेद न होने पर भी पुरुष किसी बात में शिव से न्यून है। अगले सूत्र में इसी बात पर प्रकाश डाला जा रहा है—

निजाशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥ ९ ॥

स चास्य आत्मबलस्पर्शः सहजया अशुद्ध्या व्याप्तस्य कार्यमिच्छतोऽपि न भवति, किंतु यदा क्षोभः 'अहमिति' प्रत्ययभावरूपोऽस्य प्रलीयेत, तदास्य भवति परमे पदे प्रतिष्ठानम् ॥ ६ ॥

अनुवाद

सूत्र—अपने ही स्वातन्त्र्य से उत्पादित सहज [1]अशुद्धि (मल) के द्वारा असमर्थ बने हुए और, संसार के वासनात्मक [2]कर्तव्यों की अभिलाषाओं में पड़े हुए, मितप्रमाता का [3]क्षोभ, जब स्वरूप में ही लीन हो जाये तब उसको परमपद प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वृत्ति—स्वभाव से उत्पन्न अशुद्धि के द्वारा ओत प्रोत रहने के कारण और; वासनात्मक कर्तव्यों की अभिलाषाओं में पड़े रहने के कारण, मितप्रमाता को आत्मबल का पूर्ण स्पर्श होने नहीं पाता है। परन्तु जब इसका क्षोभ अर्थात् देहादि

१, २, ३. सूत्र में उल्लिखित 'अशुद्धि' शब्द से आणव, 'कर्तव्य' शब्द से कर्म और 'क्षोभ' शब्द से मायीय मलों का अभिप्राय है।

परं 'अहं' अभिमानमूलक विकल्प परम्परा, स्वरूप में ही लीन हो जाये, तब यह सर्वोत्कृष्ट पदवी पर प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ६ ॥

विवरण

शैवशास्त्रियों ने स्थान स्थान पर विश्वात्मा के पतिरूप और पशुरूप की तर्कपूर्ण विवेचना प्रस्तुत करके, प्रबल युक्तियों के द्वारा इस बात को सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों रूप वास्तव में एक ही स्वतन्त्र सत्ता के 'पूर्णस्वतन्त्र' और 'संकुचितस्वतन्त्र' रूपान्तर मात्र है। उस सत्ता ने विश्वमयता के महान् नाटक की भूमिका निभाने के लिये, अपनी ही इच्छा से, अपने को ही अख्याति का लबादा पहना कर 'संकुचित स्वतन्त्र' रूप धारण किया है। 'पूर्णस्वतन्त्र' रूप में यह भूमिका निभ नहीं सकती है क्योंकि पूर्ण में संकोच कहाँ और संकोच के अभाव में संसार कहाँ? फलतः यदि 'पति' अग्नि का बड़ा सा ढेर है तो 'पशु' उसी की एक छोटी सी चिंगारी है। वह अनुपम अभिनेता स्वयं ही महान और स्वयं ही लघु है, परन्तु वास्तव में महानता और लघुता इत्यादि सारे मायीय बन्धनों से रहित स्वातन्त्र्यवनविहारी आनन्दघन है।

वह शक्तिधन प्रति समय चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पांच रूपो में स्पन्दायमान है। इनमें से आनन्दशक्ति के द्वारा विश्वरूप की सर्जना होती है क्योंकि सारा विश्व असीम आनन्दामृत की उच्छलता ही है। परमेश्वर संसार भाव को, अपने से भिन्नरूप में (वेद्यरूप में) अवभासित करने की ओर संकल्पात्मक उन्मुखता के समय अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति को मायाशक्ति का रूप देकर, उससे जनित स्वात्मविस्मृतिरूप अख्याति (अपने स्वरूप की पूर्णता की विस्मृति) के द्वारा, अपने वास्तविक असीमरूप को भुलाकर, ससीम पशु का रूप धारण करता है। इसको शास्त्रीय शब्दों में अभेद व्याप्ति को भूलकर भेदव्याप्ति का ग्रहण करना कहते हैं। फलतः अख्याति भी पतिप्रमाता की स्वयं ही उत्पादित अशुद्धि है, जिसके द्वारा वह स्वयं ही शक्ति दरिद्र बन कर, जीवभाव की संकुचित और पग पग पर हेयता और उपादेयता के संशयों से ग्रस्त, इतिकर्तव्यता के क्षोभ में पड़ गया है। यह क्षोभ अर्थात् संसार की अनन्त तुच्छ कामनायें और उनकी पूर्ति के लिए चिरसंघर्ष, ही तो इन दो रूपों में एक ऐसी गहरी खाई है जिसको पाटना उतना सरल नहीं है जितना आम गोष्ठियों में कहा या सुना जाता है। यदि किसी प्रकार अर्थात् गम्भीर अध्ययन, श्रद्धा-भक्ति, अथक-अभ्यास; शक्तिपातरूप गुरुकृपा इत्यादि साधनात्मक उपायों के द्वारा इस खाई को पाटना सम्भव हो सके तो स्वरूपस्पन्द की अनुभूति हो जाती है और पशु भी साक्षात् पति ही बन जाता है।

शैवगुरुओं ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, तंत्रालोक इत्यादि महान् शैवग्रन्थों में, स्वतन्त्र चैतन्य की इसी द्विमुखी स्फुरणा के सिद्धान्त और, इसके साथ सम्बन्धित अवरोह-

प्रक्रिया की विस्तृत एवं गम्भीर विवेचना प्रस्तुत की है परन्तु उसका अध्ययन करना लौहे के चने चबाना ही तो है। शास्त्र पढ़ने की अपेक्षा बहुधा संशयों की निवृत्ति गुरुओं के वचनामृतों से ही हो जाती है। अस्तु, जहाँ तक स्वतन्त्र संवित्-भट्टारिका के स्वयं ही अस्वतन्त्र संसारी पशुपदवी पर अवतीर्ण होने की प्रक्रिया का प्रश्न है उस पर सूत्र १६-२० में यथा सम्भव प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ पर केवल विषय को स्पष्ट करने के लिए शैवदर्शन के स्वातन्त्र्यवाद, अशुद्धि और माया के स्वरूप पर थोड़ा बहुत प्रकाश डालना आवश्यक है।

स्वातन्त्र्य—शैवशास्त्रों में 'स्वातन्त्र्य' शब्द और 'चैतन्य शब्द पर्यायवाची हैं। दोनों भाववाचक संज्ञाये हैं। इनको भाववाचक रखने का एक विशेष अभिप्राय है। वह अभिप्राय आगे स्पष्ट हो जायेगा। पहले यह समझना आवश्यक है कि स्वातन्त्र्य या चैतन्य शब्दों से ज्ञान और क्रिया के स्वतन्त्र अर्थात् [1]अनन्यमुखापेक्षी कर्तृत्व का अभिप्राय लिया गया है। इसका अर्थ यह है कि विश्वात्मक रूप में सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह इन पांच प्रकार के दुर्घट कृत्यों के जानने और करने में, अनन्यमुखापेक्षी स्वरूप से इतर और किसी सत्ता पर निर्भरता का अभाव। इस स्वतन्त्र[2] आत्मनिर्भरिता के स्वरूप, पूर्णज्ञातृता और पूर्णकर्तृता की अहंविमर्शमयी विश्वात्मक-स्फुरणा को ही शैव शब्दों में स्वातन्त्र्य, चैतन्य या आत्मा इत्यादि नाम दिये गये हैं।

अब यह देखना है कि इस सर्वोत्कृष्ट सत्ता को स्वतन्त्र न कह कर स्वातन्त्र्य या चेतन न कह कर चैतन्य कहने का अभिप्राय क्या है? शैवदर्शन में ज्ञातृता और कर्तृता का साधारण ज्ञान (जानना) या क्रिया (करना) अर्थ नही है, प्रत्युत विश्वरूप में प्रत्येक वस्तु के, देश एवं काल आकार की बाधाओं या सीमाओं से अबाधित रूप में, जानने[3] और करने की क्रिया का स्वतन्त्र कर्तृत्व ही ज्ञातृता और कर्तृता है। साधारण पशुभाव में प्रत्येक जीव भी जानता और करता है परन्तु उस को एक ही समय पर प्रत्येक वस्तु जानने और करने की स्वतन्त्रता

---

१. स्वातन्त्र्यमेव च अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् आत्मनः स्वरूपम्।
(ई० प्र० वि०, १, ८, ११)

२. 'चैतन्यमात्मा'.........चैतन्यं सर्वज्ञानक्रियामयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम् उच्यते।
(शि० सू० वि०, १. १)

चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम्।
(शि० सू० वि०, १. १)

३. 'आत्मत एव चैतन्यं चित्क्रियाचितिकर्तृता तात्पर्येणोदित.........'।
(ई० प्र०, १. ५. १२)

नही है क्योंकि वह देश, काल एवं आकार की परिधियों में सीमित हो कर कुछ ही जान सकता है या कुछ ही कर सकता है; सारा नही। फलतः संसारी जीव में अपने सीमित विश्व के अनुपात से सीमित स्वातन्त्र्य है। अतः वह प्रति समय पर मुखापेक्षी है।

'चेतन' और 'चैतन्य' का मूल शब्द 'चिति' है। इस 'चिति'[1]शब्द का अर्थ चेतने की क्रिया है। यह चेतने की क्रिया संसार के प्रत्येक ग्राहक में सर्वसाधारण रूप में विद्यमान है। यदि[2] सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो सारे तथाकथित जड पदार्थों में भी इसका सद्भाव पाया जाता है। चेतने वाले को चेतन कहा जाता है अर्थात् जो स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी वस्तु को जान सके या कर सके। यहाँ तक तो ठीक है परन्तु फिर भी एक संसारी ग्राहक और विश्वात्मा के चेतने में क्या भेद है? यदि कोई भेद नही है तो पूर्ण-स्वातन्त्र्य नही कहा जा सकता है। अतः[3] शैव दार्शनिकों ने इसकी भाववाचक संज्ञा बनाकर यह अभिप्राय निकाला है कि विश्वात्मकरूप में ज्ञानक्रियामयी चेतने की क्रिया का पूर्ण अधिकारात्मक और अनन्यमुखापेक्षी कर्तृत्व ही पूर्ण स्वातन्त्र्य अथवा पारमेश्वर ऐश्वर्य है। यह कर्तृत्व अथवा स्वातन्त्र्य ऐसा है कि शाश्वतरूप में सत्तावान होकर किसी भी देश, काल इत्यादि की संकुचित परिधि में सीमित नही है विश्वात्मा प्रत्येक समय प्रत्येक बात को जानने या करने में स्वतन्त्र है फलतः[4] 'चैतन्य' शब्द से केवल और केवल ज्ञातृता-कर्तृता-रूप स्वातन्त्र्य को अभिव्यक्त किया गया है और यही स्वातन्त्र्य शाश्वत स्पन्दमय पति-प्रमाता का वास्तविक स्वरूप और, सारे विश्व के प्रत्येक दृश्यमान अथवा चिन्त्यमान पदार्थवर्ग का आधार एवं अन्तिम विश्रान्तिस्थान भी है। इसी स्वातन्त्र्य को शास्त्रीय शब्दों में सतत् स्पन्दमयी-संवित् भी कहते हैं।

इस विषय के अधिक स्पष्टीकरण के लिए पूर्वोक्त ज्ञानक्रियात्मक चितिक्रिया के स्वरूप को भी समझना आवश्यक है। जैसा पहले सूत्र के विवरण में भी स्पष्ट किया गया है कि चितिक्रिया का स्वरूप चलना, पकाना इत्यादि स्थूल क्रियाओं का

---

१. 'चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा'
(शि० सू० वि०, १. १)

२. द्रष्टव्य—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के १. १. ३ सूत्र पर भास्कराचार्य की टीका,
(भास्करी, प्रथमभाग, पृष्ठ ६५)

३. चेतन्यं सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम्।
(शि० सू० वि०, १. १)

४. 'चैतन्यमिति भावान्तः शब्दः स्वातन्त्र्यमातृकम् अनाक्षिप्तविशेषम् सदाह सूत्रे पुरातने। (तं०, १. २८)

जैसा नहीं है अपितु आन्तर अनुसंधानात्मक अथवा मात्र संकल्पात्मक गतिमयता, जिसको शास्त्रीय शब्दों में अहं[1]प्रत्यवमर्शात्मक सामान्यस्पन्द कहते हैं। यह विमर्शात्मकता ही इसका एक अविच्छेद्य स्वभाव है जो इसको [2]जड़ से पृथक् करता है। ज्ञान और क्रिया अथवा प्रकाश और विमर्श दो अलग पदार्थ नहीं हैं अपितु एक ही चितिशक्ति की द्विमुखी स्पन्दात्मकता के द्योतक हैं। क्रिया, ज्ञान की ही पल्लवित दशा है और ज्ञान क्रिया का ही पूर्वरूप है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि प्रकाश अर्थात् शिव ही बहिर्मुखदशा में विमर्श अर्थात् शक्ति और, विमर्श अर्थात् शक्ति ही अन्तर्मुख दशा में प्रकाश अर्थात् शिव है। 'अहं' ही 'इदं' का बीजरूप और 'इदं' ही 'अहं' का विकसित रूप है। स्पन्दात्मक शिव में सारा जगत् अभेदरूप में अवस्थित है और सारा जगत् ही शिव का प्रसार है।

ऐसी ही चितिकर्तृतारूप स्वातन्त्र्य की गति में कहीं कोई अड़चन खड़ी नहीं हो सकती है और यही कारण है कि विश्वात्मा स्वयं उत्पादित अशुद्धि के द्वारा अपने ही स्वरूप को भागशः आवृत करके संसारी जीव का और, पूरा आवृत करके सारे जडवर्ग का रूप धारण करके अवस्थित है। स्वातन्त्र्य तो आखिर स्वातन्त्र्य ही है। वह स्वयं ही कभी अर्धस्वतन्त्र या अस्वतन्त्र भी बन सकता है। यदि न बन सकता तो पूर्णस्वातन्त्र्य ही नहीं कहलाता।

अशुद्धि—शैवशास्त्रों में अशुद्धि, अख्याति, मल अथवा बन्ध इत्यादि कतिपय शब्दों से वास्तविक स्वतन्त्र स्वरूप के अज्ञान का अर्थ लिया जाता है। स्वरूप का अज्ञान ही एक ऐसी महान अशुद्धि है जिसने विश्वात्मा को भी विश्वात्मभाव से गिरा कर पशुभाव के चौराहे पर ला खड़ा कर दिया है। इस अज्ञान के स्वरूप के विषय में भगवान चन्द्रमौलि ने–'ज्ञानं बन्धः' [शिव सूत्र १-२] इस सूत्र में यह निर्णय दिया है कि 'अज्ञान' का अभिप्राय सर्वथा ज्ञानाभाव नहीं, अपितु वास्तविक स्वरूप का अपूर्णज्ञान है। [3]अज्ञान तिमिर (एक प्रकार का आँखों का रोग) है जो कि स्वरूपगोपन अर्थात् स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा अपने ही स्वतन्त्र स्वरूप को छिपाने अर्थात् विस्मृत करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस स्वात्मविस्मृतिरूप अज्ञान के बिषय में आगे सूत्र २० में प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ पर संक्षपे में इसके बिकास एवं प्रसार की प्रक्रिया के साथ सम्बन्धित कुछ बातों का उल्लेख किया जायेगा।

---

१. चितिप्रत्यवमर्शात्मा। (ई० प्र०, १.५.१३)

२. तेन जडात्स हि विलक्षणः। (ई० प्र०, १,५–१२)

३. अज्ञानं तिमिरं पारमेश्वरस्वातन्त्र्यमात्रसमुल्लासितस्वरूपगोपनामात्रसतत्वम्'''
(तं० वि० १–२३)

ऊपर कहा गया है कि परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति सतत उदीयमान होने के कारण प्रतिसमय पांचरूपों में स्पन्दनशील है जिनको चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहते हैं। इन्ही को दूसरे शब्दों में सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व भी कहते हैं। वह अनुत्तरतत्व इसी शक्तिपञ्चक के द्वारा प्रतिसमय विश्वरूप में सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह इन पांच विराट कृत्यों को करता रहता है। विश्वरूप में प्रसृत अथवा अवभासित होना तो चैतन्य का स्वभाव ही है क्योंकि उसमें आनन्द की प्रधानता है। संसारभाव का अवभासन करने की ओर उन्मुख हो जाने पर वह चैतन्य-तत्त्व स्वतन्त्रता से अपनी अभेदव्याप्ति को भूलकर भेदव्याप्ति को ग्रहण करता है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि सारा विश्व उस अखण्ड स्वातन्त्र्यसागर में भेदरहित 'अहं' रूप में अवस्थित ही है तथापि उसमें इसको स्वरूप से भिन्न 'इदं' रूप में अवभासित करने की सूक्ष्म स्फुरणामय अभिलाषा उत्पन्न होती है। इस प्रकार की अभिलाषा ही स्वरूप में अपूर्णता की प्राथमिक अनुभूति अर्थात् सब से पहला मल है क्योंकि जब सारी विश्वकल्पना स्वरूप में शाश्वत रूप में अवस्थित ही है तो उसको अपने से भेद में देखने की अभिलाषा का उत्पन्न होना अपूर्णता की अनुभूति नही तो और क्या हो सकती है ? यह अपूर्णता की अनुभूति आणव, मायीय और कार्म इन तीन रूपों में अभिव्यक्त होती है जिनको शैव शब्दों में मलत्रय कहते हैं। अनुग्रहमूर्ति भगवान आशुतोष ने स्वयं ही श्री मालिनी-विजय-तन्त्र के दो सूत्रों में इन तीन मलों के स्वरूप का विश्लेषण किया है जो इस प्रकार हैं :

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्' ॥ १ ॥
'धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुःखादिलक्षणम्' ॥ २ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान ही मूलभूत आणवमल है। यह आणवमल, संसार अर्थात् मायीयमल के, अङ्कुर अर्थात् कारणभूत; कार्ममल का भी कारण है। भाव यह कि आणवमल से कार्ममल और कार्ममल से मायीयमल का विकास हो जाता है। आणवमल का रूप [1]अज्ञान, कार्ममल का रूप हेय एवं उपादेय कर्मों का [2]पचडा और मायीय मल का रूप शुभ अथवा अशुभ कर्मों की वासनाओं से जनित सुख, दुःख, जन्म, मरण इत्यादि का [3]भोग है।

आणवमल के विषय में शास्त्रकारों का कथन है कि स्वातन्त्र्य की हानि अर्थात् संकोच दो रूपों में अभिव्यक्त होता है।

---

१. मलमज्ञानमिच्छन्ति। (मा० वि०, १.२३)
२. धर्माधर्मात्मकं कर्म। (तदेव)
३. सुखदुःखादिलक्षणम्। (तदेव)

(१) [1]बोध में स्वातन्त्र्य की हानि अर्थात् [2]चिन्मात्ररूप में पूर्णज्ञातृता का संकोच;

(२) [3]स्वातन्त्र्य का अबोध अर्थात् [4]पूर्णकर्तृता को बोधरूपता से भिन्न समझने का मिथ्याभिमान।

यहाँ पर यह नहीं समझना चाहिये कि ये दो अलग अलग मल हैं, प्रत्युत दोनों रूपों में स्वातन्त्र्य की अख्याति होने के कारण वास्तव में एक ही मल के दो रूप हैं।

प्रस्तुत सूत्र (निजाशुद्धचा इत्यादि) में भी सूत्रकार ने इसी मलत्रय की ओर संकेत करते हुए कहा है कि पतिप्रमाता ने अपने स्वातन्त्र्य से, स्वयं ही, एक प्रकार की अशुद्धि (आणवमल) उत्पन्न की है जिसके द्वारा वह स्वयं शक्तिदरिद्र होकर, संसारी शुभाशुभ कर्मों (कार्ममल) के चक्कर में पड़ गया है और, उन कर्मों से जनित जन्ममरणरूप संसृति के क्षोभ (मायीयमल) का विषय बन गया है। फलतः वह स्वयं ही संसरणशील पशु का रूप धारण कर गया है।

माया—परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति सर्वतोमुखी है। वह महान एवं अचिन्त्य सामर्थ्यशालिनी है। अतः वह स्वेच्छा से अपने स्वरूप पर अख्याति (अपूर्णज्ञान) का आवरण भी डाल सकती है। अपने 'अहं' विमर्श में, अभेदरूप में अवस्थित विराट् विश्वकल्पना को, अपने से भिन्नरूप में अवभासित करके, इसकी सृष्टि, संहार इत्यादि की क्रीडा करना उसी का सामर्थ्य है। आखिर इतने विस्तृत एवं तुच्छ मानव की कल्पना से भी अतीत विश्व को हस्तामलक की तरह नचवाने के लिए इससे अनन्तगुणा सामर्थ्यशालिनी शक्ति तो चाहिये ही। ऐसी परिस्थिति में जिस समय वह पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यशक्ति निजी संकल्पात्मक स्फुरणा के द्वारा ही, इतने महान विश्व को, अपने से भिन्नरूप में अवभासित करने के [5]दुर्घट कृत्य को करने की ओर उन्मुख होती है उस समय उसका नाम मायाशक्ति पड़ जाता है। संक्षिप्त शब्दों में यह कहा जा सकता है कि [6]अभेद में भी भेदसर्जना करने के स्वातन्त्र्य को

---

१. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य। (ई० प्र०, ३.२.४)

२. बोधस्य चिन्मात्रस्य स्वातन्त्र्यहानिर्ज्ञातृत्वसंकोचः एकः प्रकारः।
(ई० प्र०, ३.२.४)—भास्करी

३. स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता। (ई० प्र०, ३.२.४)

४. स्वातन्त्र्यस्य कर्तृत्वस्य अबोधता बोधव्यतिरिक्ताभिमानः द्वितीयः प्रकारः।
(ई० प्र०, ३.२.४—भास्करी)

५. परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंवादनं महेशस्य।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्॥ (प० सा०, १५)

६. माया नाम च देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथाहि स तया कृतः॥ (तं०, ९.१४९—५०)

ही मायाशक्ति कहते हैं, अतः वह भी परमेश्वर की अभिन्न स्वातन्त्र्यशक्ति का ही विकास है। स्वयं ही आवरण बन कर, अपने ही पूर्णरूप को अपूर्ण बनाना और, अपने भेदहीन स्वरूप में भेद का सूत्रपात करना ही इसका काम है। अनुत्तर शक्तिमान भगवान भूतनाथ ने स्वयं इस निजी अभिन्नशक्ति का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए कहा है कि :—

'वह [१]माया-शक्ति एक, सर्वव्यापक, सूक्ष्म, खण्डों या भागों से हीन, समग्र संसार को अपने गर्भ में धारण करने वाली, अनादि, अनन्त, अकल्याणिनी होने पर भी स्वातन्त्र्य से परिपूर्ण और स्वयं किसी भी प्रकार के विकार से रहित हैं।

माया के दो रूप हैं—(१) शक्तिरूपा और (२) तत्त्वरूपा। इनमें से पहली का नाम महामाया या मायाशक्ति और दूसरी का नाम केवल माया या मायातत्त्व है। ये भी संसार के शुद्धाध्व और अशुद्धाध्व नामक दो स्तरों पर 'अहंता' का तिरोधान करने के अनुपात से एक ही शक्ति के दो रूप हैं। इनमें जो अन्तर है वह इस प्रकार है :—

महामाया या मायाशक्ति–[२]स्वतन्त्र्यशक्ति की वह अवस्था जिसमें अहन्तारूप में अवस्थित इदन्ता को भेदरूप में अवभासित करने की ओर केवल प्राथमिक संकल्पात्मक स्फुरणा या उन्मुखतामात्र होती है और अभी इदन्ता का पृथक्रूप में विभाग नहीं हुआ होता है। संक्षेप में यह, आन्तरविमर्श में भेदावभास के उपक्रम के सूक्ष्म आसूत्रणमात्र की अवस्था है। यहीं से स्वातन्त्र्य में संकोचरूप [१]मलत्रय का भी श्रीगणेश, होने लगता है।

[२]मायाशक्ति के गर्भ में आगामी इदन्ता का पूर्णविभाग अर्थात् सारे स्थूलविश्व का भेदपूर्णवैचित्र्य उसी प्रकार अन्तर्निहित रूप में अवस्थित होता है जिस प्रकार शिम्बिका (सेम की फली) के गर्भ में असंख्य बीज अलग अलग होकर भी बाहर से कहीं भी दिखाई नहीं देते हैं।

---

१. सा चैका व्यापिनीरूपा निष्कला जगतो निधिः।
अनाद्यन्ता शिवेशानी व्ययहीना च कथ्यते॥
(मा० वि०, १.२६)

२. आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान्।
गर्भीकृतानन्तभाविविभागा सापरा निशा॥
(तं०, ६. १५०–५१)

१. मायाशक्त्यैव तत्त्रयम्। (ई० प्र०, ३.२.५)

२. ………………बहिर्मुखतायां भाविनो विभागस्य शिम्बिकाफलवदस्यां गर्भीकारोऽस्ति। (तं० वि०, ६.१५१)

शास्त्रकारों ने मायाशक्ति की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है।

'जो[3] अपूर्णता की अनुभूति को जन्म देकर स्वरूप की हिंसा करती है।'

मायाशक्ति का कार्यक्षेत्र, जैसा ऊपर कहा गया है, शुद्धाध्व अर्थात् शिवतत्व से लेकर शुद्धविद्या तत्व के प्रमातृमण्डल तक होता है क्योंकि यहाँ तक यद्यपि इदन्ता (भेदप्रथात्मक प्रमेयविश्व) के बहिरङ्ग अवभासन की प्रक्रिया विकासमान अवस्था में होती है तथापि दूसरी ओर अहंता (प्रमातृभाव) का पूरा तिरोधान नही हुआ होता है।

माया या मायातत्त्व—शुद्धविद्या से नीचे पृथ्वीतत्त्व तक के अशुद्धाध्व में मायाशक्ति का जो रूप कार्यनिरत होता है उसको 'मायातत्त्व' कहते हैं। इस अवस्था पर अहन्ता का पूरा [4]तिरोधान हो जाता है और आगामी जड एवं कार्यरूप प्रमेयविश्व की स्थूल अवभासन-प्रक्रिया का आरम्भ हो जाता है। 'इदन्ता' 'अहन्ता' से बिल्कुल भिन्न होकर स्थूल देह, प्राण इत्यादि रूपों में विकसित हो जाती है। स्वरूप पर पूरा आवरण पड़ जाने के कारण शक्ति का रूप भी [1]जड़ होता है। वह स्वयं भी एक जडतत्त्व का ही रूप धारण करके आगे आगे जड़ कार्यवर्ग का ही कारण बन जाती है। यही कारण है कि इस अवस्था पर उसको मायाशक्ति न कह कर मायातत्त्व कहा जाता है। जड़ बन जाने का [2]अभिप्राय यह है कि मौलिकरूप में असीम स्वातन्त्र्यशालिनी शक्ति होकर भी, देश, काल एवं आकार की सीमाओं से संकुचित होती हैं। शैवशब्दों में संकुचित प्रकाशमानता (अल्पज्ञातृता और अल्पकर्तृता) ही जड़ता होती है।

संसारी ग्राहकवर्ग में मायातत्व के मधुमय विष का प्रसार अर्थात् मायाजनित क्षोभ, किन किन रूपों में फैल जाता है इस विषय पर आगे सूत्र २० में प्रकाश डाला जायेगा। [3]यहाँ पर केवल इस बात को समझाने की आवश्यकता है कि

३. अपूर्णता प्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति मायाशक्तिरुच्यते।
(तं० वि०, ९–१५०)

४. ....तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः।
(ई० प्र०, ३.१.७)

१. सा जडा भेदरूपत्वात् कार्यं चास्या जडं यतः।
(ई० प्र०, ३.१.७)

२. अयमेव हि जडस्य स्वभावो यत् 'इदमत्र इदानीं भाति' इति परिच्छिन्नतया प्रकाश्यते इति। (तं० वि०, ९–१५२)

३. मायापरिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति।
कालकलानियतिवशाद्रागाविद्यावशेन संबद्धः॥
(पं० सा०, १६)

मायाशक्ति के द्वारा उत्पादित संकोच भी सर्वतोमुखी है। सर्वप्रथम यह संकोच पूर्वोक्त सर्वकर्तृत्व इत्यादि पांच स्वतन्त्र शक्तियों पर प्रभावान्वित होकर उनको क्रमशः किञ्चित्कर्तृत्व, किञ्चिज्ज्ञत्व, अपूर्णत्व, अनित्यत्व और अव्यापकत्व में परिणत कर देता है जिससे स्वतन्त्र शक्तिमान पतिप्रमाता शक्तिदरिद्र पशु बन जाता है। इन पांच संकुचित शक्तियों के शास्त्रीय नाम क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियति रखे गये हैं। इस अवस्था में ये स्वतन्त्र शक्तियाँ न रह कर पांच प्रकार के वासनात्मक बंधन (पञ्चकंचुक-पांच आवरण) बन जाती हैं और स्वतन्त्र आत्मा इन्हीं शृङ्खलाओं में फंसकर संसारी पशु बन जाता है। तत्त्वरूपा माया की शास्त्रीय परिभाषायें इस प्रकार हैं :—

१. माया—[१]जिसको योगी लोग हेय समझ कर अपने अलग कर देते हैं।

२. माया—[२]जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में सर्वत्र व्याप्त होकर अवस्थित रहती है।

३. माया—[३]जो स्वयं 'मा' शब्द से वाच्य निषेध अर्थात् विनाश, का विषय नहीं बनती है अर्थात् नित्य है।

४. माया—[४]जिसके गर्भ में सारा विश्व अवस्थित रहता है।

५. माया—[५]जिस शक्ति के द्वारा परमेश्वर स्वरूप में अभिन्न रूप में भी अवस्थित भावराशि को अपने से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित करता है।

इन सारी परिभाषाओं के अतिरिक्त भगवान ने स्वयं अपने सूत्र में इसको अशिवा अर्थात् चतुर्दिक् भेदप्रथा का अन्धकार उत्पन्न करके महान अकल्याण करने वाली बताया है 'अशिवा भेदप्रथाप्रदा'। केवल अनुत्तरतत्त्व पर ही इसकी दाल नहीं गलती है। बाकी विश्व के अणु अणु पर इसने अपना इन्द्रजाल बिछा दिया है। बार बार सुलझाये जाने पर भी गोरख धन्धे की तरह फिर कर ऊलझ जाती है। [६]यह एक भयंकर और विष उगलती हुई नागिन है जो सौ सौ खण्डों में काटी

१. मीयते हेयतया परिच्छिद्यते योगिभिः। (तं० वि० ९.१५२)

२. सर्वत्र मातीति। (तदेव)

३. 'मा'शब्दवाच्याद्विनाशरूपान्निषेधात् यातेति, (तदेव)

४. मात्यस्यां विश्वमिति। (तं० वि०, ९.१५२)

५. स्वात्माभिन्नमपि भावमण्डलं शिवो यया मिमीते भिदा व्यवस्थापयति, इति। (तदेव)

६. उन्मूलितापि शतशः खण्डितापि सहस्रशः।
गोनासेवाप्रथोदेति द्रागत्र शरणं शिवः॥
(गोनासा काश्मीर में एक भयंकर सर्पिणी को कहते हैं। खण्ड खण्ड किये जाने पर भी यह उछलकर ड़स लेती है।)

जाने पर भी उछल उछल कर डस लेती है। जडमूर्ति होने के कारण स्वयं अन्धी है अतः चाहे साधु हो या असाधु, धनिक हो या निर्धन, पण्डित हो या मूर्ख, प्रत्येक को समान रूप से डसती है; किसी को छोड़ती नहीं है।

माया के ऐसे स्वभाव को दृष्टिपथ में रखकर भगवान त्रिपुरारि ने एक और [1]सूत्र में माया के प्रपञ्च (अर्थात् त्रिविध मल, वासनात्मक कर्मों का जंजाल, स्वयं माया और इसका कार्यरूप जगत्) को, सहसा तिलाञ्जलि देकर, अपने वास्तविक स्वभाव की यथार्थ अनुभूति का आदेश दिया है ॥ ९ ॥

[ज्ञातृता और कर्तृता का विकास]

पूर्वसूत्र में यह कहा गया कि प्रत्येक प्रकार का क्षोभ निलीन हो जाने पर मितप्रमाता शिवभाव पर प्रतिष्ठित हो जाता है। स्पष्ट ही इस कथन का अभिप्राय यह है कि उस अवस्था में आत्मा में किसी भी प्रकार की स्फुरणा नहीं रहती है और फलतः वह तरंगहीन सागर की भाँति शान्त अर्थात् निःस्पन्द हो जाता है। यदि ऐसी बात है तो उसका पूर्वोक्त स्पन्दात्मक स्वरूप ही कैसे सिद्ध हो सकता है? अगले सूत्र में इस शङ्का का निवारण किया जा रहा है—

तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च ॥ १० ॥

यतः तस्मिन् प्रलीनक्षोभात्मके काले अकृत्रिमः सहजो ज्ञत्वकर्तृत्वभावरूपो धर्मो यस्मात्, तस्मिन् एव प्राप्तयोगात्मके काले यत् यद् ज्ञातुम् इच्छति तत् तत् जानाति च करोति च; नान्यदा संसार्यवस्थायाम् ॥ १० ॥

अनुवाद

सूत्र :—क्षोभ के विलीन हो जाने पर, इसका (मित प्रमाता का) स्वभाव-सिद्ध ज्ञातृता और कर्तृतारूप धर्म, निरावृत रूप में प्रकट हो जाता है, जिससे यह सारी इच्छित बातों को स्वतन्त्रतापूर्वक जानता भी है और करता भी है ॥ १० ॥

वृत्ति :—यतः मितप्रमाता का स्वभाव सिद्ध ज्ञातृतारूप और कर्तृतारूप धर्म क्षोभ के निलीन हो जाने के तत्काल ही निरावृतरूप में प्रकट हो जाता है अतः वह उस आत्मबल का स्पर्श प्राप्त करने के तत्क्षण ही जो जो बातें जानना चाहता है उनको (स्वतन्त्रता से) जानता है और करता है। इसके प्रतिकूल संसारी अवस्था में यह बात कदापि सम्भव नहीं है ॥ १० ॥

---

१. मलः कर्म च माया च मायीयमखिलं जगत्।
सर्वं हेयमिति प्रोक्तं विज्ञेयं वस्तु निश्चितम् ॥
(मा० वि०, १.१६)

विवरण

प्रस्तुत सूत्र में शान्त ब्रह्मवादी वेदान्तियों का मुखमुद्रण सूत्रात्मक रूप में किया गया है। उनके विचारानुसार परब्रह्म का स्वरूप शान्त अर्थात् निःस्पन्द है। इसका अभिप्राय यह है कि उनका परब्रह्म प्रकाशरूप हो या न हो परन्तु उसमें विमर्श का सर्वथा अभाव है। उनके ही शब्दों में वह 'निस्तरंगमहोदधिकल्प' (तरंगहीन महान समुद्र के समान) है। इस कारण उसमें ज्ञान क्रियारूप चेतनता की वर्तमानता सम्भव नहीं हो सकती है। वह पूर्ण शान्त है और प्रत्येक प्रकार की झंझट से दूर है। फलतः 'विश्व है या नहीं, उसकी सृष्टि, स्थिति और संहार का कार्यक्रम नियमित रूप से चलता है या नहीं; यदि चलता है तो उसका ज्ञाता और कर्ता कौन है ?'—इत्यादि बातों की उसको न तो चिन्ता है और न चेतना ही। संक्षेप में कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि ये लोग एक ओर परब्रह्म को चेतन मानते हैं तथापि दूसरी ओर उसको शान्त-निस्तरंग-महोदधिकल्प बताकर उदासीन बना देते हैं।

शैवशास्त्रियों को और विशेषकर स्पन्दशास्त्रियों को सब से उत्कृष्ट और सारे विश्व के नियामक अनुत्तर-तत्त्व की, इसप्रकार की शक्तिहीनता अथवा लूलापन मान्य नहीं है। स्वातन्त्र्यशक्तिघन चैतन्य का, ज्ञान और क्रिया पर अनन्यमुखापेक्षी अधिकार है; यह अधिकार तो उस सर्वकर्ता का अकाट्य स्वभाव ही है। ऐसी परिस्थिति में उस ज्ञान पारावर में कोई तरङ्ग न उठे यह कौन सा स्वभाव हो सकता है ? हाँ, पूर्णस्वतन्त्र होने के कारण वह तत्व युगपद् निस्तरङ्गवृत्ति अथवा तरङ्गायमानरूप में प्रकाशमान है। [1]निस्तरङ्गवृत्तिता से शैवदर्शन में शक्तिहीनता का अभिप्राय नहीं है अपितु इससे इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों की सूक्ष्म सामरस्य अवस्था अर्थात् अभेद चिद्रूपता का अभिप्राय है। वास्तव में चैतन्य वही है जो प्रसरणशील है रूप प्रसार का रसिक है। वह स्वयं विश्वरूप में अवभासमान है। विश्व भी मिथ्या या गर्हित नहीं है क्योंकि ऊपर से नीचे तक सारा शिवरूप होने के कारण इसके [2]गर्हित होने का प्रश्न ही कहाँ से उठ सकता है। हाँ, केवल विश्व को शिवरूपता अर्थात् आत्मभूत चैतन्य से भेदरूप में देखना ही गर्हित है और वह एक प्रकार की भ्रान्ति ही है। [3]नित्यस्फुरणशील परतत्व को अपनी स्वभावभूत शक्तियों से विछोह किसी भी अवस्था में नहीं होता अतः ज्ञातृता और कर्तृता

---

१. सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्तते।
चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा ॥
(शिव दृष्टि, १.४)

२. रूपप्रसाररसतो गर्हितत्वमयुक्तिमत् ॥ (शिव दृष्टि, १.४)

३. एवं न जातुचित्तस्य वियोगस्त्रितयात्मना ॥ (तदेव)

उसका सहज अर्थात् अकृत्रिम और यथार्थ स्वभाव है। शान्त होने का अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि वह परतत्व विश्वोत्तीर्ण और विश्व की सारी अवस्थाओं और वैचित्र्यों को स्वेच्छा पूर्वक सत्ता प्रदान करने पर, असीम सामर्थ्यशाली होने के नाते, स्वयं कभी भी सुख दुःखादि द्वन्द्वों से अथवा क्षणभङ्गुर शरीरादि के ममत्व और अभिमानरूप क्षोभों से अभिभूत नहीं हो सकता है। फलतः शान्त ब्रह्मवादियों ने परब्रह्म को शान्त कहकर उसकी उस शान्ति का जैसा [1]संवेदनरहित रूप प्रस्तुत किया है उसको शैवदार्शनिक जड़ता के अतिरिक्त कुछ और नहीं मानते हैं।

इस विषय के साथ सम्बन्धित शैवदृष्टिकोण को अच्छी प्रकार हृदयङ्गम करने के लिए पाठकों का ध्यान कुछ निम्नलिखित बातों की ओर आकर्षित किया जाता है। वैसे तो प्रथम सूत्र के विवरण में इन बातों की ओर थोड़ा बहुत संकेत किया गया है परन्तु यहाँ पर ज़रा विस्तार पूर्वक विश्लेषण करना आवश्यक प्रतीत होता है।

[2]शैवमतानुसार हृदय अर्थात् अहं प्रत्यवमर्शात्मक बोधपारावार में शाश्वत रूप में, विमर्शात्मक स्पन्द की उर्मियाँ उठती रहती है क्योंकि ज्ञान चैतन्य होने के नाते कभी भी निष्क्रिय नही हो सकता है। यह विमर्शरूप स्पन्द ही है जो विश्व का द्रावण अर्थात् विश्व का बाह्य इदंरूप में अवभासन अथवा प्रसारण और, प्रसारित भावमण्डल को पुनः आन्तर अहंरूपता में विलयन करने की संकल्पात्मक क्रियाशीलता पर निरत है। पहले भी कहा गया है कि स्पन्द के प्रसार की दिशा युगपत् बहिर्मुख और अन्तर्मुख भी है। बहिर्मुखप्रसार अर्थात् विश्वात्मकता को स्वीकारने की ओर उन्मुखता को शास्त्रीय शब्दो में 'स्वात्मविकास' और अन्तर्मुखप्रसार अर्थात् प्रसृत-विश्वात्मकता को पुनः समेटने की ओर उन्मुखता को 'स्वात्मसंकोच' कहते हैं। साथ ही इस द्विमुखी क्रियाशीलता को इकट्ठे रूप में, 'स्वरूप की उच्छलन' या '[3]किञ्चित्-चलन' कहा जाता है। यह किञ्चित्चलनात्मक स्फुरणा विश्व के स्थूलरूप में विक-सित होने के 'आदि' अर्थात् निर्माण काल और, 'अन्त' अर्थात् विश्व को समेटने के समय पर सामान्यरूप में चलती रहती है अतः इस रूप में इसको [4]सामान्यस्पन्द

---

१. संवित्तिशून्यब्रह्मत्ववादिनां जडतैव सा ॥ (शिव दृष्टि, ६.२६)

२. हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्रावितोशेषविश्वकः ।
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः ।
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः ।
(तं०, ६.१०२.३)

३. किञ्चिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत् ।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना ॥
(तं०, ६.१८४)

४. द्रष्टव्य, सूत्र १५ का विवरण ।

कहते हैं इसका भाव यह है कि इस अवस्था में प्रवाहमान स्पन्दशक्ति में किसी भी प्रकार की घट पट आदि विशेष विकल्पात्मकता का विभागनहीं होता है। विश्व के स्थितिकाल में निःसंशय स्पन्द अपनी सामान्यरूपता को छोड़ कर देह, प्राण नील, सुख इत्यादि विशेष विकल्पात्मक रूपों में प्रवाहमान होकर विश्ववैचित्र्य का अवभासन कर लेता हैं और, यह विशेषरूपता भी उच्छलन या किञ्चित्-चलन ही है। इस प्रकार की यह स्वात्मोच्छलनात्मक स्फुरणा ही तो चैतन्य का शाश्वत स्वभाव है अतः पतिप्रमातृभाव अथवा संवित्‌रूपता इसके बिना रह नहीं सकती है। आखिर स्वभाव तो स्वभाव ही है, वह कभी अन्यथा नहीं हो सकता है।

फलतः शैवसिद्धान्त के अनुसार अनुत्तरतत्त्व सर्वज्ञ और सर्वकर्ता होने के नाते कभी भी दूर अलग फलग पड़ा हुआ तमाशाई बन कर नहीं रहता है। वह स्वयं स्वतन्त्र होकर सब कुछ जानता भी है और करता भी है, अतः वह उदासीन या निष्चेष्ट नहीं है।

[१]विश्वात्मक शाक्तप्रसर की भूमिका पर चलने वाले सारे कार्यकलाप की साधन संपत्ति अर्थात् निश्चित कार्यों के निश्चित कारणसमूह का संयोजन अथवा वियोजन करने में शिव को ही एकमात्र स्वतन्त्र कर्ता के रूप में अवश्य मानना पड़ता है क्योंकि उसका रूप संविदात्मक है और विश्वात्मक ज्ञातृता और कर्तृता की अहं विमर्शमयी स्फुरणा ही संवित् का यथार्थ अर्थात् अकृत्रिम स्वभाव है। यही कारण है कि मित-प्रमातृभाव की भूमिका पर भी संसार के सारे अणु, दैनिक आदान-प्रदान के समयों पर, अपनी अपनी आवश्यकतानुसार, निश्चित कार्यों का उत्पादन करने के लिए जिन निश्चित कारण समूहों का संयोजन अथवा वियोजन करते रहते हैं उनके मूल में भी स्पन्दात्मक संवित् ही क्रियाशील है। संवित् तो संवित् ही है; न कहीं कम न कहीं अधिक। अतः पतिप्रमातृभाव अथवा पशुप्रमातृभाव की भूमिकाओं पर उसकी ज्ञातृकर्तृरूप क्रियाशीलता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। हाँ केवल इतनी बात है कि, पशुरूप में वह आवश्यकता के अनुसार स्वयं ही जड़ शरीर इत्यादि के प्रति ममत्व अभिमान के क्षोभ का चोला पहन कर निश्चित देश, काल एवं आकार की परिधियों में क्रियाशील है जबकि पतिरूप में उसकी क्रियाशीलता पर कोई अंकुश नहीं है। वास्तव में यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो संसार के अणुवर्ग में पाया जाने वाला [२]देहादि के प्रति ममत्व, अथवा संसार के कर्तव्यों के प्रति कर्तृत्व का

---

१. तथा च तेषां हेतूनां संयोजवियोजने।
नियते शिव एवैकः स्वतन्त्रः कर्तृतामियात्॥ (तं०, ६.३५.६)

२. तस्मादेकैकनिर्माणे शिवो विश्वैकविग्रहः।
कर्तेति पुंसः कर्तृत्वाभिमानोऽपि विभोः कृतिः॥
(तं०, ६.३८.६)

झूठा अभिमान भी तो विश्वशरीरी भगवान की ही स्फुरणा है। अतः वह जड़ या उदासीन नहीं है।

संसार के पशु, अपने वास्तविक संविदात्मक स्वरूप को भूलकर, कभी भी तृप्त न होनी वाली वासनाओं की मरीचिका के पीछे दौड़ते हुए, 'इस कर्म से मेरी इष्टापत्ति है और उससे अनिष्टापत्ति होगी' ऐसे संकोचों में पड़कर, उपादेयता और हेयता के क्षोभ अर्थात् अन्तर्द्वन्द्व में, भावनाओं से जनित संघर्ष का शिकार बन जाते हैं। यदि भगवदनुग्रह और सद्गुरुओं के कृपाकटाक्ष से पशुहृदय में एक बार ही यह अनुभूति जागृत हो जाये कि—'वास्तव में मैं देहादि का सत्ताभूत संवित् स्वरूप ही हूँ और, सारा विश्व मेरा ही विभव है, अतः मैं जानने और करने में सर्वदा स्वतन्त्र हूँ' तो उसके सारे पाश स्वयं ही खुल जाते हैं; वह पशुप्रमातृभाव से अकृत्रिम ज्ञातृत्व और कर्तृत्व का अधिकारी बन जाता है। इसी को शास्त्रों में 'आत्मबल का स्पर्श' कहते हैं ॥ १० ॥

[संसारभाव की शान्ति]

सूत्रकार ने यहाँ तक के सूत्रों में दृढ़ उपपत्तियों के द्वारा स्पन्दतत्व का प्रतिपादन किया। अब अगले सूत्र में यह समझाया जा रहा है कि धीरे धीरे अभ्यास की दृढ़ता प्राप्त होने से, योगी को, अपने में ही उस स्पन्दशक्ति की अनुभूति हो जाती है। अनन्तर उसी भाव पर स्थिरता प्राप्त करने से उसको जघन्य एवं घृणित पशुयोनियों में भटकते रहने से छुटकारा मिल सकता है—

तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन् ।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः ॥ ११ ॥

तदेवम्, यतः सर्वानुस्यूतः सर्वसामर्थ्ययुक्तश्च आत्मस्वभावः, तस्मात् तम् अधिष्ठातृभावेन सर्वव्यापकत्वेन स्वभावं पश्यन्, विस्मयाविष्ट इव यस्तिष्ठति, तस्य कुत्सिता सृतिः सरणं न भवति ॥ ११ ॥

अनुवाद

सूत्र—जो कोई साधक स्वभाव अर्थात् स्पन्दात्मक आत्मरूप का ही, विश्व के कण कण में अनुस्यूत रहने वाली मुख्य सत्ता के रूप में साक्षात्कार करता हुआ, विस्मय की जैसी मुद्रा में अवस्थित रहता है, वह इस तिरस्कार से पूर्ण और कुत्सित आवागमन के चक्कर में कैसे पड़ सकता है? ॥ ११ ॥

वृत्ति—तो इस पूर्वोक्त प्रकार से जब यह बात सिद्ध है कि आत्मस्वभाव अर्थात् सामान्य स्पन्दतत्त्व विश्व के प्रत्येक पदार्थ में अनुस्यूत और प्रत्येक प्रकार के सामर्थ्य से युक्त है, तब जो कोई भी योगी उसी स्वभाव को अधिष्ठाता के रूप में अर्थात्

सर्वव्यापक रूप में अनुभव करता हुआ विस्मय की जैसी अवस्था में अवस्थित रहता है उसको कुत्सा अर्थात् जघन्यता से पूर्ण सृति अर्थात् आवागमन का झंझट नहीं होता है।। ११ ।।

विवरण

'तुर्यदशा' अथवा दूसरे शब्दों में 'शाक्तभूमिका' पर आरूढ़ होने का इच्छुक योगी संसार का सारा कार्य-कलाप करते करते ही, संसार के तुच्छातितुच्छ पदार्थों में भी स्वभावभूत स्पन्दरूपता के प्रसार एवं विकास को अनुभव करने का निरन्तर अभ्यास करता रहता है। धीरे धीरे अभ्यास की परिपक्कता, शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन, परमेश्वरीय अनुग्रह और सद्‌गुरुओं के कृपा-कटाक्ष से उसकी भावनायें तुच्छ शरीर इत्यादि पर आत्मभिमान रखने की संकुचित परिधियों से निकलकर विश्वात्मभाव अथवा पूर्ण 'अहं विमर्श' पर आरूढ हो जाती हैं ऐसी अवस्था में उसकी चित्-रूपता पर विद्यमान मायीय घन आवरण स्वयं ही हट जाता है चतुर्दिक् चित्प्रकाश के किरणजाल का स्वर्णिम एवं शाश्वत आलोक मुखरित हो उठता है और उसकी आत्मा शरीर में रहते हुए भी 'तुर्या-अवस्था' का साक्षात्कार कर लेती है। उसके लिए चिरन्तन सत्य के रुद्ध किवाड़ अकस्मात् खुल जाते हैं और वह भैरव भूमिका पर आरूढ होने का अधिकारी बन जाता है। [१]भाव यह कि ऐसा साधक निरन्तर अभ्यास करने से, चारों ओर अपनी ही स्वातन्त्र्यशक्ति के विकास को अनुभव करता हुआ, तुरीयादशारूप स्वच्छन्द भूमिका के क्षेत्र में प्रवेश पा सकता है। प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक स्थान पर अपनी ही चित्‌रूपता की अधिष्ठातृता अर्थात् वास्तविक अथवा मौलिक व्यापकता का यथार्थ अनुभव करने से, उसको, विश्व की सारी भङ्गियाँ. [२]किसी जलाशय की उठने वाली तरङ्गों, अग्नि की ऊपर की ओर उठने वाली लपटों अथवा सौरमण्डल से निकलने वाले आलोक पुञ्ज की तरह स्वरूप के ही बहिर्मुख विकास के रूप में प्रतीत होती है। इस प्रकार की योगिक अनुभूति के स्तर को शास्त्रीय शब्दों में तुरीया दशा या शाक्त-भूमिका में प्रविष्ट होने की भूमिका कहा जाता है।

इसी शाक्त भूमिका का साक्षात्कार हो जाने के अनन्तर साधक में, ज्यों ज्यों इस भाव पर स्थिर रहने की क्षमता में उत्तरोत्तर वृद्धि हो जाती है त्यों त्यों उसको

१. योगी स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्द गतिचारिणा।
स स्वच्छन्दपदे युक्तः स्वच्छन्दसमतां व्रजेत्॥
(स्व० तं०, ७.२५७.८)

२. जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्ग्यो यथा रवेः।
ममैव भैरवस्येता विश्वभङ्ग्यो विनिर्गताः॥
(वि० भै०, ११०)

कई ऐसी [1]लोकोत्तर योगिक भूमिकायें स्वतः अनुभव में आ जाती हैं जो अन्तिम तुर्यातीत दशा पर शीघ्र ही आरूढ होने की पूर्वसूचना का प्रतीक होती हैं। वास्तव में शैवगुरुओं का कथन है कि तुरीया-भूमिका पर शाश्वत स्थिरता प्राप्त करना ही तुरीयातीत-भूमिका (पूर्ण शिवभाव) पर आरूढ होना होता है।

इन योगिक भूमिकाओं को ही परमकारुणिक भगवान चन्द्रमौलि ने 'विस्मय' का नाम दे दिया है जिसका उल्लेख प्रस्तुत सूत्र में 'स्मयमानः' शब्द से किया गया है। शैवदर्शन में '[2]विस्मय' शब्द का अर्थ आश्चर्य की अनिर्वाच्य एवं स्वसंवेद्य अनुभूति है। योगी को शाक्तभूमिका का साक्षात्कार होते ही, उसके प्रति एक प्रकार की अतृप्ति जैसी उत्पन्न हो जाती है। फलतः वह बार बार अन्तर्मुख होकर उस आनन्दसागर में डुबकियाँ लगाने लगता है। ऐसे समयों पर उसके अन्तस् में एक विशेष प्रकार की आश्चर्यमानता की जैसी दशा उदित हो जाती है जो उसको बार बार अन्तर्मुख हो जाने की ओर आकर्षित कर लेती है। शैवमान्यता के अनुसार यह विस्मयात्मक योगभूमिका साक्षात् तुरीयारूप और नित्य नव नव चमत्कारमयी होने के कारण सबसे उत्कृष्ट और केवल स्वानुभवगम्य है, जबकि अणिमा इत्यादि दूसरे प्रकार की योगिक भूमिकायें, इसकी अपेक्षा निम्नस्तर की और परसंवेद्य भी हैं।

[3]दैनिक आदान-प्रदानों में जब कोई मनुष्य किसी विशेष अतिशय से युक्त वस्तु का साक्षात्कार कर लेता है तो उसके मन में एक प्रकार की विचित्र एवं स्तम्भ-कारिणी वृत्ति का उदय हो जाता है। उस समय वह उस वस्तु के, अन्य वस्तुओं से विशिष्ट, आकार-प्रकार को कौतूहलपूर्ण नेत्रों से देखता हुआ भी वाणी के द्वारा कुछ अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। उस समय उसकी अन्तः-चेतना, उसी वस्तु के अनन्य एवं अद्भुत सौन्दर्य का आन्तरिक रूप में ही आनन्द लेती हुई एक ऐसी अकथनीय अवस्था में डूब जाती है जिसको 'विस्मय' 'या' 'आश्चर्यमानता' कहते हैं। ठीक इसी प्रकार स्वात्मनिष्ठ साधक को भी बार बार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध

---

१. ता एव योगस्य परतत्त्वैक्यस्य सम्बन्धिन्यो भूमिकाः। तदध्यारोहविश्रान्ति-सूचिकाः परिमिता भूमयः।

(शि॰ सू॰ वि॰, १.१२)

२. विस्मयो योगभूमिकाः। (शि॰ सू॰, १.१२)

३. यथा सातिशयानन्दे कस्यचिद्विस्मयो भवेत्।
तथास्य योगिनो नित्यं तत्तद्वेद्यावलोकने ॥
निःसामान्यपरानन्दानुभूतिस्तिमितेन्द्रिये ।
परे स्वात्मन्यतृप्त्यैव यदाश्चर्यं हि विस्मयः ॥

(शि॰ सू॰ वा॰ (वरद), १,१२,६३)

इस वेद्यपञ्चक के, सामान्य-स्पन्दमयी अहन्ता में विश्रान्त हो जाने के अवसरों पर, अनिर्वाच्य अतिशयता से युक्त और नव नव चमत्कार (चैतन्य रस का अलौकिक आस्वाद) से पूर्ण स्वरूप-समावेश का उदय हो जाता है। उस समय उसके अन्तस् में, स्वरूपभूत करणेश्वरीचक्र के विकसित वैभव की अनुभूति प्राप्त कर लेने से कोई ऐसी आन्तरिक दशा उदित हो जाती है कि वह बार बार उस स्वरूपसमावेशमय आनन्द का, अतृप्तरूप में, अनुभव करता हुआ [1]आश्चर्यमानता से सराबोर हो जाता है। इस आश्चर्यमानता के प्रारम्भिकरूप को शास्त्रीय शब्दों में 'साश्चर्यस्पन्दरूपता' कहते हैं। इस दशा के उदित हो जाने के अनन्तर ही ऐसा साधक विकल्पहीन तुर्यातीत दशा पर प्रतिष्ठित होने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इस दशा का उदित होना ही इस बात का सूचक होता है कि ऐसे योगीश्वर की आत्मा, पञ्चकञ्चुक की सीमाओं को लांघ कर, भेदरहित विश्वात्मभाव के उन्मुक्त आकाश में विचरण करने लगी है और, वह अपने ही चिन्मात्ररूप को सर्वत्र उपलब्धा या अधिष्ठाता के रूप में अनुभव करने लगी है। ऐसी मुक्तात्मा के लिए कभी भी आवागमन के बन्धन में फँस जाने का प्रश्न ही नही उठता है क्योंकि एक बार पिंजरे का द्वार खुल गया, उन्मुक्त होने के लिए युग युगों में तड़पता हुआ विहङ्गम उड़ कर शून्य में खो गया, अब वह आकर फिर उसी पिंजरे का बन्दी बन जायेगा, ऐसी कल्पना करना व्यर्थ है।

ऊपर कहा गया है कि तुर्यावस्था पर पहुँचा हुआ योगी बार बार उस आनन्द का अनुभव करने के लिये अन्तर्मुख हो जाता है। इस बार अन्तर्मुख हो जाने की अवस्था को शैवशब्दों में 'क्रममुद्रा' कहते हैं। साथ ही इस अवस्था को द्योतित करने वाले 'भैरवमुद्रा, स्वरूप समावेश, शाम्भवसमावेश' इत्यादि अन्य कतिपय शास्त्रीय शब्द भी हैं। क्रममुद्रा नित्योदित-समाधि को कहते हैं। इस अवस्था में साधक अन्तर्मुख अवस्था के अतिरिक्त बहिर्मुख अवस्था में भी चिद्-रूपता में [2]समाविष्ट हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रममुद्रा समाधि की ऐसी परिपक्व अवस्था होती है कि साधक स्वरूप-समावेश के बल से, सहज ही में, [3]बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता में और अन्तर्मुखता से बहिर्मुखता में विद्युत्गति से प्रवेश कर सकता है। ऐसा करने में उसको कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है क्योंकि निरन्तर अभ्यास के द्वारा यह उसका स्वभाव ही बन जाता है। अपरिपक्व समाधि

१. द्रष्टव्य, शि० सू० वि०, १.१२

२. क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः।
(प्र० हृ० सू०, १९)

३. तत्रादौ बाह्यात् अन्तःप्रवेशः, अभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात् जायत इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः। (तदेव)

दशा में समाधिकाल तक ही स्वरूप की अनुभूति रहती है परन्तु इसमें ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही रहता है। यही कारण है कि सिद्ध पुरुषों ने ऐसी समाधि को 'सबाह्याभ्यन्तरसमावेश' का नाम दिया है। गुरुओं का कथन है कि इस अवस्था पर पहुँचा हुआ साधक व्युत्थानदशा में भी अर्थात् संसार के सारे कार्यकलापों को करता हुआ भी उन्हीं समाधिकालीन संस्कारों के द्वारा प्रत्येक वेद्यपदार्थ में मात्र चिन्मयता के ही आभास को प्राप्त करने के कारण, दोनों अवस्थाओं में [1]स्वरूपनिष्ठ ही होता है। उसको सारा भाववर्ग शरत्काल के मेघखण्ड की तरह चिदाकाश में ही लीन होता हुआ प्रतीत होता है। फलतः ऐसा योगी अभी अन्तर्मुख और अभी बहिर्मुख होता है।

इस द्विमुखी समाधिक्रम को शास्त्रकारों ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"[2]शाक्तभूमिका पर पहुँचा हुआ योगी 'निमीलन समाधि' के द्वारा, बाहर के इदन्तारूप भाववर्ग को सामान्यस्पन्द में ही विश्रान्त करता हुआ पराचित्-भूमिका में प्रवेश करता है। वहाँ स्वरूपसाक्षात्कार करके 'उन्मीलनसमाधि' के द्वारा अहन्ता में विश्रान्त किये हुये भाववर्ग को बाहिर की ओर वमन करता हुआ फिर भी इदन्ता के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इस 'अन्तःप्रवेश' और 'बहिः-निर्गमन' की प्रक्रिया में यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने के योग्य है कि ऐसे पद पर पहुँचे हुए योगी को दोनों ही अवस्थाओं में स्वरूपभूत सामान्यस्पन्दात्मकता का ही विकास अनुभव में आता है॥"

[3]'क्रममुद्रा' शब्द के दो खण्ड हैं—'क्रम' और 'मुद्रा'। इनमें से 'क्रम' शब्द से संवित् रूप में ही सृष्टि, स्थिति और संहार के क्रम का और, 'मुद्रा' शब्द से मुद्रित करने का अर्थात् स्वरूप में ही विश्रान्त करने का अभिप्राय लिया जाता है। फलतः 'क्रममुद्रा' स्वतः तुरीयारूपा होने के कारण, प्रत्येक प्रकार के क्रम को, ग्रास करने के क्रम से स्वरूप में ही विश्रान्त कर लेती है। इसके अतिरिक्त 'क्रममुद्रा, शब्द से यह अभिप्राय भी लिया लाता है कि यह एक नित्य-उदित समाधि की दशा होने के

---

१. आसादितसमावेशो योगिवरो व्युत्थाने अपि समाधिरससंस्कारेण क्षीव इव सानन्दं घूर्णमानो, भावराशिं शरदभ्रलवम् इव लीयमानं पश्यन्, भूयो भूयः अन्तर्मुखतामेव समवलम्बमानो निमीलनसमाधिक्रमेण चिदैक्यमेव विमृशन् व्युत्थानाभिमतावसरेऽपि समाध्येकरस एव भवति। (प्र० हृ० सूत्र, १९)

२. द्रष्टव्य, प्रतिभिज्ञाहृदय सूत्र १९ की टीका।

३. अत्रायमर्थः—सृष्टि–स्थिति–संहृति संविच्चक्रात्मकं क्रमं मुद्रयति, स्वाधिष्ठितम् आत्मसात् करोति येयं तुरीया चितिशक्तिः,.........। (प्र० हृ० सू०, १९)

अन्तःरूप में या बाह्यरूप में समानरूप से आनन्द का वितरण करती है। अख्याति के द्वारा उत्पादित पाशों को काट लेती है और सारे बाह्य अवभास को आभ्यन्तर तुरीयासत्ता में मुद्रित कर लेती है।

प्रस्तुत सूत्र में इसी योग–भूमिका को 'स्मयमान': शब्द के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है ॥ ११ ॥

[अभावब्रह्मवाद, सर्वशून्यत्ववाद की निःसारता]

शैव दर्शन के अनुसार सामान्य–स्पन्दमयी शाक्त–भूमिका पूर्णज्ञातृत्व और पूर्ण-कर्तृत्वरूप चैतन्य की भूमिका है। इसके प्रतिकूल अभाव ब्रह्मवादी श्रुत्यन्तविदों और लगभग उनके ही समकक्ष सिद्धान्त का अनुसरण करने वाले शून्यवादी माध्यमिकों की मान्यता के अनुसार स्वरूपसाक्षात्कार की दशा सर्वाभाव या सर्वशून्यता की ही दशा है क्योंकि इस दशा पर पहुंची हुई आत्मा अभाव में ही लीन हो जाती है।

अगले सूत्र में ऐसे मतवादियों का मुखमुद्रण किया जा रहा है :-

नाभावो भाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढता ।
यतोऽभियोगसंस्पर्शात्तदासीदिति निश्चयः ॥ १२ ॥

न तु अभावो भावनीयो, यथा अन्यैर्योगिभिः उपदिश्यते,
'अभावं भावयेत्तावद्यावत्तन्मयतां व्रजेत्'

इति। न चैतत् युक्तम्, यस्मात् नाभावे भावना युज्यते मूढावस्थैव सा, यस्मात् उत्तरकालम् अभियोगसंस्पर्शात् अभिलापसंयोगात्–'सा शून्यावस्था अतीता मम' इति स्मर्यते, न च आत्मस्वभाव एषः, यस्मात् न त्वेवं चिद्रूपत्वं मूढावस्थावत् स्मर्यते, तस्य सर्वकालमनुभवितृत्वेनानुभवो नित्योदितत्वात् ॥१२॥

अनुवाद

सूत्र—'अभावद' कभी भी भावना का विषय नहीं बन सकता है। ऐसी समाधि में अमूढ़ता (जड़ता का अभाव) भी नही है (अर्थात् अभाव–भावना की अवस्था जड़ता की ही अवस्था है)। इसका कारण यह है कि (अभाव समाधि से उठने के अनन्तर योगी को) अभिलाप अर्थात् भाषण के साथ सम्बन्ध हो जाने पर–'वह मेरी शून्य अवस्था थी' ऐसा निश्चय हो जाता है ॥ १२ ॥

वृत्ति—जैसा कि दूसरे योगी उपदेश देते हैं कि—

'तब तक अभाव की भावना करते रहना चाहिये जब तक आत्मा अभाव में ही लीन हो जाए'–युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि 'अभाव' तो कभी भी भावना का विषय ही नहीं बन सकता है।

वास्तव में यह विचार युक्तियुक्त भी नहीं है क्योंकि 'अभाव' तो निश्चय से जड़ता की ही अवस्था है अतः उसका, भावना का विषय होने का मन्तव्य प्रस्तुत

करना असङ्गत है। वह अभाव-भावना मूढ़ता की अवस्था है क्योंकि समाधि काल के अनन्तर जब ऐसे योगी को अभियोग अर्थात् भाषण के साथ सम्बन्ध हो जाता है तब वह उस समाधि की अवस्था को 'वह मेरी शून्य अवस्था थी' इस प्रकार स्मर्यमाणरूप में अनुभव करता है। आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है क्योंकि चित्-स्वरूपता (सतत उदीयमान होने के कारण) मूढ़ता की अवस्था की तरह स्मरण नही की जाती है। वह तो शाश्वत-उदीयमान-सत्ता है अतः उसका अनुभव प्रतिसमय अनुभविता (स्वतन्त्र ज्ञानक्रियात्मक चैतन्य प्रमाता) के रूप में होता है ॥ १२ ॥

विवरण

अभावब्रह्मवादी श्रुत्यन्तविदों से प्राचीन वेदान्तियों की एक शाखा का और, शून्यवादियों से बौद्ध दार्शनिकों की माध्यमिक शाखा के अनुयायियों का अभिप्राय हैं। विषय को थोडा स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर इन दोनों मतवादियों के सिद्धान्त का संक्षिप्त पर्यालोचन करना आवश्यक है।

अभावब्रह्मवाद—इस वाद के अनुसार अभावरूप अथवा असत्–रूप कारण से भावरूप या सत्‌रूप कार्य की उत्पत्ति मानी गई है। इसका तात्पर्य यह है कि इस भावरूप में दिखाई देने वाले स्थूल–जगत की सृष्टि से पहले किसी पदार्थ की सत्ता भावरूप में न होने के कारण चारों ओर अभाव का ही साम्राज्य था। इस अभाव से ही भावरूप में दिखाई देने वाले जगत् की सृष्टि स्वयं हो गई है। ये लोग अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित उपनिषद्वाक्य को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं—

'असदेवेदमग्र आसीत्·········' ॥ (छान्दोग्यः ३.१९.१)

कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि से पहले असत् ही असत् था अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का अभाव था। प्रलय के पश्चात् भी सारा जगत् अभाव में ही लय होगा अतः वास्तव में अभाव ही यथार्थ-सत्ता है। ब्रह्म का वास्तविक रूप भी अभाव ही है। इस अभाव की निरन्तर भावना करने से सारी सांसारिक उथल–पुथल का उच्छेद हो जाता है क्योंकि वेदकसत्ता और वेद्यसत्ता दोनों अभाव में ही लय हो जाती है। अभाव में लय होना ही जीवात्मा की वास्तविक मुक्ति है। फलतः अभावसमाधि की परिपक्वता प्राप्त करके आत्मा का अभावरूप परब्रह्म में लीन होना ही सारी साधना का चरमलक्ष्य है।

शून्यवाद—बौद्धों की [1]माध्यमिक शाखा के प्रसिद्ध एवं उद्भट विद्वान नागार्जुन और उसके समकक्ष कई अन्य विद्वानों ने बौद्ध–दर्शन में 'सर्वशून्यवाद' की स्थापना की है। ये लोग इस वाद को 'सर्ववैनाशिकवाद' भी कहते हैं। यह

१. द्रष्टव्य, भारतीय दर्शन, डा० बलदेव उपाध्याय, पृ० १५२–६१

एक ऐसा वाद था जिसके अनुसार किसी भी प्रकार के पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं स्वीकारा गया था। भगवान अभिनवगुप्त ने अपने तन्त्रालोक में इन लोगों को [१]'सर्वापह्नवहेवाकधर्मा' के नाम से पुकारा है। उनके विचारानुसार इन लोगों ने प्रत्येक प्रकार के ज्ञातृरूप, ज्ञानरूप और ज्ञेयरूप पदार्थों के अनस्तित्व पर दुराग्रह करने का ठेका ले रखा था।

इनके मत का संक्षिप्त निष्कर्ष यह है कि यह सारा दृश्यमान स्थूल जगत् वास्तव में शून्य का [२]विवर्तमात्र है। शून्य के अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थ अथवा ज्ञान की निजी कोई सत्ता नहीं है। शून्य का स्वरूप न [३]सत्, न असत्, न सदसत् और न सदसत् से भिन्न है। यथार्थ शून्य वही है जहाँ इन चारों में से कुछ भी न हो। यह शून्य ही [४]पारमार्थिक सत्य है जबकि शेष जगत् संवृति[५]सत्य है। प्रत्येक प्रकार के स्वभाव अथवा लक्षण इत्यादि से परे होने के कारण शून्यदशा अनिर्वाच्य है परन्तु इस पर पहुँचना ही सारी साधना का अन्तिम लक्ष्य है। इस सर्वशून्य भाव की अनुभूति को ही बौद्धशब्दों में 'निर्वाण' की संज्ञा मिली है। महाप्रज्ञा से ऐसे निर्वाण की प्राप्ति सम्भव हो सकती है और उसके प्राप्त करने से ही पूर्णतया क्लेशों का क्षय हो जाता है। प्रसिद्ध बौद्धदार्शनिक और कवि अश्वघोष ने इस सर्वशून्यरूप निर्वाण को शान्ति का नाम दिया है। उसके मन्तव्यानुसार, जिस प्रकार [६]दीये की लौ बुझ जाने पर न भूमि में, न आकाश में, न किसी दिशा में और न किसी विदिशा में चली जाती है प्रत्युत तेल का क्षय हो जाने पर केवल शान्त हो जाती है, उसी प्रकार योगी की आत्मा निर्वृत्ति पर पहुँच कर न भूमि में, न आकाश में, न

---

१. 'सर्वेषां' ज्ञातृज्ञानज्ञेयानाम् 'अपह्नवो' निराकरणं तत्र 'हेवाक' एव 'धर्मः' स्वभावो यस्यासौ बौद्धः।' (तं० वि०, १.५६)

२. मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत् ॥ (भा० द० पृष्ठ १३२)

३. न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभवात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥
(मा० का०) भा० द० पृष्ठ ५६३ पर उदाहृत

४. अन्यथा न होने वाला, वास्तविक और प्रमाणों से परिपुष्ट यथार्थ।

५. व्यवहार मात्र से कहा सुना जाने वाला यथार्थ।

६. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांश्चिद् विदिशं न कांश्चिद् स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥
योगी तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांश्चिद् विदिशं न कांश्चिद् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥
(सौन्दरनन्द, १६.२८–२९)

किसी दिशा में और न किसी विदिशा में चली जाती है प्रत्युत क्लेशों का क्षय हो जाने से केवल शान्ति की अवस्था में लय हो जाती है।

यदि शैव सिद्धान्त को मन में रखकर इन दोनों मतावलम्बियों के विचारों का अनुशीलन किया जाये तो मस्तिष्क में कई बातें सहज ही में उभर आती हैं—

अभावब्रह्मवाद के अनुसार यदि आत्मा का वास्तविक 'स्वरूप' अभाव मान कर उससे किसी भी प्रकार की सत्ता के अनस्तित्व का सिद्धान्त स्वीकारा जाये तो एक बाधा उपस्थित होती है। वह यह कि अभावदशा में किसी भी वेदकसत्ता (ज्ञान-क्रियात्मक अनुभविता) का अस्तित्व शेष न रहने के कारण उस अभाव दशा का अनुभव कौन कर सकता है? साथ ही 'अभाव' से यदि पदार्थों की असत्ता का अभिप्राय यह है तो ऐसे अभाव से भावरूप जगत् कैसे उदय में आ सकता है क्योंकि असत से सत् की उत्पत्ति होना न तो सम्भव है और न ऐसी कल्पना करना ही तर्क-संगत है। यदि यह माना जाये कि भावरूपता को जन्म देना और फिर उसको अभाव-रूपता में लय करना ही 'अभाव' का स्वभाव है तो ऐसे [1]स्वभाव की विद्यमानता में उसको सर्वाभाव कैसे माना जा सकता है? फलतः पहले अभाव का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं हो जाता है।

अभावसमाधि का उपदेश देनेवाले गुरुओं का कथन है तब तक अभाव की भावना अर्थात् 'मैं नहीं हूँ, मैं नहीं हूँ' इस प्रकार की भावना का अभ्यास करते रहना चाहिये जब तक आत्मा स्वयं भी अभावरूप ही बन जाये। इस विषय में यह बात विचारणीय है कि भावना का विषय वही वस्तु बन सकती है जिसकी स्वतः अखण्डित सत्ता विद्यमान हो। जब अभाव प्रत्येक भाव अर्थात् सत्ता का अनस्तित्व है तो वह भावना का विषय क्यों कर बन सकता है? [2]दूसरे पक्ष में यदि अभाव वास्तव में कोई भाव्य वस्तु ही है तो वह अभाव का भी अभाव होने के कारण स्वयं एक सत्ता ही बन जाता है। विशेष बात तो यह है कि अभावभावना का उपदेश देने वाला गुरु और, उसको ग्रहण करने वाला शिष्य दोनों को इस बात की पूर्णचेतना होती है कि हमारी सत्ता विद्यमान है, हम चेतन हैं; हममें ज्ञानक्रियारूप वेदकताभाव विद्यमान है परन्तु उनको 'मैं नहीं हूँ' की भावना करके अपने ही अस्तित्व का स्वयं अपलाप करना पडता है। फलतः उनके लिए 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' वाली बात चरितार्थ हो जाती है। उनको न तो अपनी सत्ता का अपलाप करते और, न उसको स्वीकारते ही बनता है।

---

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ (भ० गी०, २.१७)

२. भावनाया भाव्यवस्तुविषयत्वादभावस्य न किञ्चित्वाद् भाव्यमानतायां वा किञ्चित्वे सत्याभावत्वाभावात् ॥ (स्प० नि०, १.१२)

अभाववादी दावा करते हैं कि अभावसमाधि में सर्वाभावरूप विश्वोच्छेद ही भावना का विषय बन जाता है। इस विषय में विचारणीय बात यह है कि यदि '[१]विश्वोच्छेद' का अर्थ प्रत्येक सत्ता का अभाव है तो अनुभविता का भी स्वतः उच्छेद होने के कारण उस विश्वोच्छेद का अनुभव ही कौन करेगा ? विश्वोच्छेददशा का अनुभव करने के तत्काल ही अनुभविता का भी उच्छेद होगा क्योंकि विश्वोच्छेद होने में वह कोई अपवाद नहीं होगा। अब यदि यह माना जाये कि विश्व का उच्छेद होने पर भी अनुभविता का उच्छेद नहीं होगा तो विश्वोच्छेद की कल्पना वन्ध्यापुत्र की कल्पना के समान ही होगी। साथ ही इस विषये में एक और कठिनाई उपस्थित हो जाती है। वह यह कि विश्वोच्छेद की कल्पना करने में भावना का भी उच्छेद होना आवश्यक मानना पडेगा। भावना का उच्छेद मानने पर भी विश्वोच्छेद की कल्पना पूरी नही हो सकती है क्योंकि स्वतः उच्छेद की कल्पना तो अवशिष्ट रहेगी ही। फिर यदि उच्छेद के उच्छेद की कल्पना की जाये तो उस उच्छेद के उच्छेद की कल्पनाओं का गोरखधन्धा कभी समाप्त ही नहीं होगा और परिणाम यही होगा कि सर्वाभाव कभी भी सिद्ध ही नहीं होगा। अनुभविता सत्ता तो किसी रूप में अवशिष्ट ही रहेगी।

प्रस्तुत सूत्र में ग्रन्थकार ने अभाव–समाधि के विषय में एक विशेष प्रकार के दोष का उल्लेख किया है। वह यह कि अभावसमाधि, जिस रूप में अभावब्रह्मवादी इसको स्वीकारते हैं ; वास्तव में मूढता, अर्थात् विशेष प्रकार की जड़ता, जिसमें किसी प्रकार की संवेदना नहीं रहती है, की अवस्था है क्योंकि इस समाधि का अभ्यास करने वाला योगी समाधि से उठने के अनन्तर उस समाधिकालीन दशा का स्मरण जैसा करता हुआ कहने लगता है– 'मैं प्रगाढ़ मूढ़ता की अवस्था में पड़ा हुआ था और अब मेरी वह अवस्था बीत गई है'। जिस समाधि में अपने आप में अपने ज्ञानक्रियात्मक चैतन्य का आभास न रहे वह समाधि यथार्थ समाधि की अवस्था नही, प्रत्युत मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्ति के नशे की जैसी मोहात्मक (तामसिक अचेतना) अवस्था ही कही जा सकती है। फिर ऐसी दशा में, साधारण प्राणियों में पायी जाने वाली तामसिक सुषुप्ति और योगी की समाधि में अन्तर ही क्या है ?

माध्यमिक लोगों के शून्यवाद के सम्बन्ध में भी लगभग ऐसी ही बाधायें उपस्थित हो जाती हैं। उनके 'शून्य' का स्वरूप भी कुछ स्पष्ट नही है। वे लोग एक ओर किसी वेदक आत्मसत्ता को स्वीकारने के पक्ष में नही हैं परन्तु दूसरी ओर ज़ोर ज़ोर

---

१. किं च भावकस्यापि यत्राभावः स विश्वोच्छेदः कथं भावनीयः, भावकाभ्युपगमे तु न विश्वोच्छेदो भावकस्यावशिष्यमानत्वात् ॥

(स्प० नि०, १.१२)

से निर्वाण का ढोल पीटते रहते हैं। यदि आत्मा का कहीं अस्तित्व ही नही है तो निर्वाण किसका ? शरीर आदि जड़ पदार्थ तो निर्वाण का विषय नहीं बन सकते हैं। किसी आत्मरूप वेदकसत्ता के अनस्तित्व की दशा में क्लेश किसका और उसके क्षय के लिये संघर्ष करने का प्रयोजन ही क्या ? आखिर 'शून्य' कौन सी और कैसी वस्तु है ? यदि उसका रूप सर्वाभाव जैसा ही है तो उसकी अनुभूति और नामकरण किसके द्वारा और कैसे सम्भव हो सकता है ?

इन लोगों के द्वारा बतलाई गई निर्वाण की परिभाषा भी कुछ स्पष्ट नही है। इन्होंने निर्वाण को शान्ति का नाम दिया है परन्तु इन्ही के मन्तव्यानुसार उसका रूप भी शून्य ही है। फिर यदि निर्वाण भी कोई ऐसी अवस्था है जिस में ज्ञातृता और कर्तृता का सर्वथा लोप हो जाता है तो वह शैवों को मान्य नही है क्योंकि वे लोग ऐसी अवस्था को जड़ता के अतिरिक्त और कुछ मानने के पक्ष में नहीं हैं। शैव-दार्शनिकों के अनुसार[1] मोक्ष कोई अलग अवस्था नही है प्रत्युत 'स्वरूपख्याति' ही मोक्ष है। जब आत्मा अख्याति की सीमाओं से निकलकर अपनी असीम ज्ञातृता और असीम कर्तृता की अनुभूति प्राप्त कर लेती है तब वह मुक्तात्मा कही जाती है। स्पष्ट है कि मुक्तात्मा का रूप जड़ नही, प्रत्युत ज्ञान–क्रिया पर स्वतन्त्र अधिकार रखने वाला 'पूर्णचैतन्य' है। [2]शून्यवादी दार्शनिक प्रत्येक प्रकारके ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों की निःस्वभावता अथवा शून्यता को स्वीकारते हुए ज्ञातृ–कर्तृरूप संवित् को भी निःस्वभाव ही मानते हैं। फलतः इनके मतानुसार संवित् की शून्यता ही निर्वाण है। शैवदार्शनिकों का इस सम्बन्ध में एक भिन्न दृष्टिकोण है। इनका विश्वास है कि वास्तव में संवित् का स्वरूप पूर्णज्ञातृता और पूर्णकर्तृतारूप स्पन्द है। इस स्पन्द या स्फुरणा से ही सारे नील, पीत इत्यादि भावों का अवभासन और स्थिति सम्भव हो सकती है। यदि इस विश्वात्मक स्फुरणा को ही नकारा जाये तो सारा विश्व प्रत्यक्षरूप में संज्ञी होने पर भी एकदम संज्ञाहीन मानना आवश्यक है। विश्व की संज्ञाहीनता तो कदापि देखने में नहीं आती है अतः इस [3]स्फुरत्तारूप संवित् का अपलाप कदापि नही किया जा सकता है।

---

१. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथमं हि सः।
स्वरूपं चात्मनः संविन्नान्यत् .... ॥

(तं०, १.१५६)

२. ते खलु सर्वभावनैः स्वभाव्यवादिनः संविदोऽपि नैःस्वाभाव्यान्मिथ्यात्वमभिदधतस्तच्छून्यतायामेव मोक्षमाचक्षीरन्। (तं० वि, १.३३)

३. संविदि तु स्फुरतामात्रसारायां मिथ्यात्वादसत्त्वमेव स्यात्, इति न किञ्चित्स्फुरेत्, इति मूर्छैव स्यात्. इति। न च संविदः स्फुरतामात्रसाररूपाया अपह्नवः शक्यक्रिय इति। (तं० वि०, १.३३)

शून्यवादी बौद्धों ने प्रसिद्ध माध्यमिक आचार्य नागार्जुन की यह उक्ति–

'सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः ।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ॥'

प्रस्तुत करके इस बात का दावा किया है कि हमारे शून्य से ऐसी किसी दशा का अभिप्राय नहीं है जिसको अन्य दार्शनिकों ने सर्वाभाव का नाम देकर कटु आलोचना का विषय बनाया है। वास्तव में हमारे शून्य से एक ऐसे निरपेक्ष परम तत्त्व का अभिप्राय है जिसमें कल्पित अवलम्बनधर्मों, सम्पूर्ण तत्त्वों और सारी क्लेशात्मक वासनाओं की शून्यता हो। वास्तव में उस शून्यतत्त्व का स्वरूप सर्वाभाव नही है। वह शून्यतत्त्व एक ऐसी अवस्था है जो [1]चतुष्कोटियों की अविषय, मन और वाणी से अगोचर और अनिर्वचनीय है ॥

इस विषय में यह बात विचारणीय है कि यदि नागार्जुन की उक्ति के अनुसार 'शून्य' में केवल कल्पित ग्राह्य, ग्राहक आदि भावों की ही शून्यता है और ज्ञानरूपता की स्थिरता अटल रहती है तो फिर शून्यवाद में, बौद्धों की दूसरी शाखा [2]विज्ञानवाद के सिद्धान्त से बढ़कर और कौन सी नई बात कहीं गई है। विज्ञानवादियों का मन्तव्य भी यही है कि यह [3]सारा कल्पित जगत्-प्रपञ्च, वास्तव में, अन्तकरणों के धर्म बने हुए ज्ञान, जिसको उनकी शब्दावली में 'विज्ञप्ति' कहते हैं, का विकासमात्र है। यह ज्ञान ही विचित्र रूपों को अवभासित करने वाला है परन्तु स्वयं, कल्पित तत्त्वादि का रूप धारण नहीं करता है। यह चेतनक्रिया के साथ सम्बन्धित होने के कारण 'चित्त' कहलाता है और यही एक पारमार्थिक सत्य है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शून्यवादियों क 'शून्य' और विज्ञानवादियों के 'चित्त' में शाब्दिक भेद के अतिरिक्त कोई सैद्धान्तिक भेद दृष्टिगोचर नही होता है।

जहाँ तक शैवों का सम्बन्ध है वे तो ज्ञान को चित्तरूप या अन्तःकरणरूप मानने के पक्ष में नहीं हैं। अन्तःकरण इन्द्रिय होने के कारण स्वतः जड़ हैं। ज्ञान सर्वस्वतन्त्र और चैतन्य होने के कारण उनका धर्म कैसे बन सकता है ?

---

१. द्रष्टव्य, भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १५४–६२

२. अथ 'सर्वालम्बनधर्मैश्च ················' इत्याद्युक्तयुक्त्या ग्राह्यग्राहकभावादिना कल्पितेन रूपेण शून्यं न तु संविदापि इति चेत्, एवं ह्युच्यमाने विज्ञानवादे एवाभ्युपगमः स्यात्'। (तं० वि० १.३३)

३. 'इत्यन्तःकरणस्यैव विचित्रात्मावभासिनः ।
अविभावितत्त्वस्य विस्फूर्जितमिदं जगत् ॥'
(तं० १.३३ में उदाहृत)

'शून्य' की कल्पना के विषय में भी शैवों का दृष्टिकोण अन्य दार्शनिकोंसे नितरां भिन्न है। इनके कथनानुसार 'शून्य' शब्द से वास्तव में [1]अशून्य अर्थात् चिदानन्दघन और सतत स्फुरणाशील परमशिवतत्त्व ही अभिप्रेत है। उसको 'शून्य' की संज्ञा इसलिये दी गई है कि वह विश्वोत्तीर्ण रूप में, [2]माया का अविषय होने के कारण, उससे (माया से) जनित परिणमित्व इत्यादि धर्मों से शून्य है। उस तत्त्व का यह 'शून्य' अर्थात् विश्वोत्तीर्णरूप ही कुछ ऐसा है जिसमें यह सारा इदंवाच्य प्रमेय-मण्डल, उसी रूप में विश्रान्त होकर, अभिन्न 'अहं रूप' में ही अवस्थित है। विश्वोत्तीर्ण दशा में इस नामरूपात्मक प्रमेयमण्डल का अलग भाव न होने का नाम ही 'अभाव' है और ऐसे ही अभाव का नाम 'शून्य' है। यह 'शून्य' ही एक महान सत्ता है जो कि पूर्णज्ञानक्रियात्मक स्वातन्त्र्य होने के कारण प्रत्येक भाव या अभाव को सत्ता प्रदान कर देती है। इस पद में जिस कारण प्रत्येक प्रकार की भेदकल्पना विश्रान्त होती है उस कारण यह शान्त एवं अनिर्वाच्य है।

यह शून्यतत्त्व एक अति अद्भुत एवं विलक्षण तत्त्व है क्योंकि वह शून्य होकर भी अशून्य है। इसका अभिप्राय यह है कि (शून्यतत्त्व) विश्वोत्तीर्णता के अतिरिक्त, नाद, बिन्दु, भुवन, भाव इत्यादि रूपों में आभासमान विश्वमयता में भी, सुमन में वास की तरह, [3]व्याप्त होकर अवस्थित है। संक्षेप में कहने का तात्पर्य यह है कि शैव आचार्यों के मतानुसार 'शून्य' सर्वाभाव न होकर, पूर्णवेदक अर्थात् स्वतन्त्र ज्ञान-क्रियात्मक प्रमातृसत्ता का अभिव्यञ्जक है।

इस सारे पर्यालोचन का निष्कर्ष यही निकलता है कि शैवमान्यता के अनुसार व्युत्थान, समाधि, शून्य, अभाव इत्यादि सारी अवस्थाओं में अनुभवितारूप आत्मा की ज्ञान-क्रियात्मक स्पन्दना में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। फलतः सतत-स्पन्दमयी आत्मसत्ता के प्रत्यभिज्ञान की अवस्था न सर्वाभाव, न सर्वशून्यता और न मूढ़ता की ही अवस्था है ॥ १२ ॥

---

१. अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः ॥
सत्तामात्रं परं शान्तं तत्पदं किमपि स्थितम् ॥
(स्व० तं० ४.२९२-९३)

२. यत्तु अस्य शून्यत्वमुक्तं तन्मायाक्षयोपचारेण तद्धर्मैः परिणामित्वादिभिः शून्य-त्वाच्छून्यम्। (तं० वि०, १.७६)

३. यत्र यत्र च नादादि स्थूला अन्येऽपि संस्थिताः।
तत्र तत्र परं शून्यं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ॥
(स्व० तं०, ४.२९४)

[स्मर्यमाणता की असंगति]

अब सूत्रकार अभावसमाधि को साधारण पशुवर्ग में पाई जाने वाली मोहात्मक सुषुप्ति (प्रगाढ़ निद्रा) जैसी कृत्रिम एवं जड़ता की ही अवस्था सिद्ध करने के अभिप्राय से अगला सूत्र बतला देते हैं—

अतस्तत्कृत्रिमं ज्ञेयंसौषुप्तपदवत् सदा ।
न त्वेवंस्मर्यमाणत्वं तत्तत्त्वं प्रतिपद्यते ॥ १३ ॥

अभावभावनालब्धभूमिकस्यापि कृत्रिमा अनित्या सा अवस्था, यथा सौषुप्ते पदे; यस्मात् चिद्रूपत्वं तु आत्मनः स्वरूपं नित्यसन्निहितम्, तदेव गुरूपदेशेन नित्यमेवानुशीलनीयम् ॥ १३ ॥

अनुवाद

सूत्र :—उक्त कारणों से वह अभाव समाधि प्रतिसमय (साधारण पशुवर्ग की) सुषुप्ति (तामसिक निद्रा) के समान कृत्रिम ही समझनी चाहिये । वह तत्त्व (स्पन्दतत्त्व = आत्मतत्त्व = स्वरूप) इस जडसमाधि की तरह कभी भी स्मर्यमाणता का विषय नहीं बन जाता है ॥ १३ ॥

वृत्ति :—(मैं नहीं हूँ, मैं नहीं हूँ—इस प्रकार की) अभाव-भावना का अभ्यास करने से यदि योगी को ऐसी किसी भूमिका का साक्षात्कार भी हो जाये, वह अवस्था तो कृत्रिम अर्थात् अनित्य ही होती है । उसकी अनुभूति कुछ ऐसी ही होती है जैसी कि (जीवभाव की मोहात्मक) सुषुप्ति में होती है । इसका कारण यह है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप चित्-रूपता है और उसकी अवस्थिति सतत सन्निहित अर्थात् त्रिकालाबाधित ही है । प्रतिसमय गुरु के उपदेश पर कटिबद्ध रहकर उसी का (आत्मतत्त्व का) अनुशीलन करते रहना चाहिये ॥ १३ ॥

विवरण

सूत्र का अभिप्राय अच्छी प्रकार समझने के लिए यहाँ पर पहले 'सौषुप्तपद' के विषय में दो शब्द कहना आवश्यक है । अनुग्रहमूर्ति भगवान भूतनाथ ने स्वयं एक [1]सूत्र में साधारण पशुवर्ग और योगी-वर्ग की दृष्टि से सौषुप्तपद का निरूपण किया है ।

पशुवर्ग की सुषुप्ति—साधारण पशुभाव में सुषुप्ति प्रगाढ निद्रा की अवस्था होती है । इसमें तमोगुण से उद्भूत मोह की घनता के कारण वेद्यपदार्थों का प्रत्यक्ष-

१. अविवेको मायासौषुप्तम् । (शिव सूत्र, १.१०)

ज्ञान या [1]स्मृति नहीं रहती है। इस अवस्था में अविवेक अर्थात् [2]ज्ञानरूप और ज्ञेयरूप चित्‌शक्ति पर अख्याति का इतना मोटा आवरण छा जाता है कि अपनी चित्-रूपता और, बाह्यरूप में अवभासमान भाववर्ग की, स्फुटतर रूप में, विवेचना का सामर्थ्य पूर्णतया रुक जाता है। भाव यह है कि यह अवस्था मृत्यु की जडता जैसी होती है। सुषुप्ति काल तक ज्ञानज्ञेयरूपाशक्ति पर [3]मायीय आवरण पड़ा रहने के कारण, स्पष्टरूप में, न तो बाह्य अर्थों की ओर उन्मुखता, न उनका ऐन्द्रियबोध और न उनकी स्मृति ही सम्भव हो सकती है। वास्तव में सुषुप्ति में पड़े हुए व्यक्ति की सारी चेतनाशक्ति शरीर, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय इत्यादि से सिमट कर पर्यष्टकप्रमातृभाव पर ही केन्द्रित हुई होती है। पुर्यष्टक पर लगे हुए सुषुप्ति-कालीन संस्कारों के फलस्वरूप वह व्यक्ति, सुषुप्ति से निकलने के अनन्तर, तत्कालीन दशा को धुंधली स्मर्यमाणता के रूप में अभिव्यक्त कर लेता है यथा—"मैं सुख से सोया था, मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है" ॥

स्मर्यमाण रूप में अभिव्यक्त किये जाने के कारण यह दशा कृत्रिम होती है। सच्ची आत्म-अनुभूति तो सतत उदीयमान होने के कारण कभी भी स्मर्यमाण नहीं बन सकती है।

योगियों की दृष्टि में सुषुप्ति–पशुभाव की सुषुप्ति के प्रतिकूल योगियों की सुषुप्ति समाधि की अवस्था होती है। इसमें समाधिकाल तक बाह्य भाववर्ग की ओर उन्मुखता न रहने के कारण सब कुछ [4]स्वरूप में ही विश्रान्त हुआ होता है और फलतः योगी की आत्मा विशुद्ध चिन्मात्र रूप में ही अवस्थित रहती है। यही कारण है कि [5]समाधिनिष्ठ योगी को तावत्कालपर्यन्त ग्राह्यता और ग्राहकता के भेदभाव की चेतना नहीं रहती है, प्रत्युत उसको सारे भाव स्वात्मरूप में ही अवभासित होते हैं। योगी को समाधिकाल में निजी ज्ञान-क्रियात्मक स्पन्दना की

---

१. "यत्रार्थस्मरणे न स्तस्तत्सौषुप्तमुदाहृतम्। (शिव सूत्र, १.१० टिप्पणी)

२. ज्ञानज्ञेयस्वरूपायाः शक्तेरनुदयो यदा।
चिद्रूपस्याविवेकः स्यादसावेवाविमर्शतः।
सैव मायावृत्तिजालपोषकत्वात्प्रकीर्तिता।
........................सुषुप्तता॥ (शिव सूत्र वा०, १.१०)

३. यस्तु अविवेको विवेचनाभावोऽख्यातिः, एतदेव मायारूपं मोहमयं सौषुप्तम्॥
(शिव सूत्र वि०, १.१०)

४. अर्थस्मृती स्वात्मसंस्थे चिद्रूपे सा सुषुप्तता।
पत्युः................................॥ (शिव सूत्र वा०, १.१०)

५. ग्राह्यग्राहकभेदासंचेतनरूपश्च समाधिः सौषुप्तम्, इत्यप्यनया वचोयुक्त्या दर्शितम्॥
(शिव सूत्र वि०, १.१०)

पूर्ण चेतना रहती है अतः यह साधारण सुषुप्ति की तरह मूढ़ता की जैसी अवस्था कदापि नहीं होती है। वेदकता सम्पूर्ण रूप में अक्षुण्ण रहने के कारण इस काल में योगी को किसी प्रकार के अभाव या शून्यता की अनुभूति नहीं होती है। साथ ही अनुभवी गुरुओं का कथन है कि समाधिकाल में प्राप्त की हुई स्वरूप-अनुभूति त्रिकालाबाधित और सतत उदीयमान होती है। अतः ऐसी अवस्था न तो कृत्रिम और न अनित्य ही होती है।

फलतः शैवगुरु अपनी यथार्थ अनुभूति के आधार पर यह उपदेश देते हैं कि अभाव-समाधि या शून्य-समाधि दोनों उपरिवर्णित पशुभाव की सुषुप्ति के समान जड़, कालपरिधि में संकुचित और कृत्रिम अवस्थायें हैं। जो भी कोई आध्यात्मिक अनुभूति, अनुभवकाल के अनन्तर, बीते हुए रूप में स्मरण की जाती है वह केवल भूतकाल के साथ सम्बन्धित होने के कारण कालकल्पना की परिधि में सीमित हो जाती है। कालकल्पना में सिमट जाने के साथ ही वह अनित्य बन जाती है। आत्म-अनुभूति तो सतत स्फुरणामय होने के कारण इससे बिल्कुल विपरीत है। वह तो अनुभव के समय और स्मृति के समय में भी एक ही उदीयमान रूप में अवभासमान रहती है।

एक और बात ध्यान में रखने के योग्य है कि अभाव या शून्य की भावना करनेवाले योगियों में जो यह अपनी विद्यमान सत्ता को—'मैं नहीं हूँ' कहकर आग्रहपूर्वक झुठलाने की प्रवृत्ति पाई जाती है वह तो, उनमें, चित्-रूपता के अभाव की नहीं, प्रत्युत सद्भाव की ही द्योतिका है। उदाहरण के तौर पर यदि कोई व्यक्ति घर के अन्दर बैठा हो और बाहर से कोई ऐसा व्यक्ति आकर उसको बुलाने लगे जिसके साथ उसको मिलने की इच्छा न हो तो ऐसी स्थिति में यदि वह पहला व्यक्ति अन्दर से स्वयं ही चिल्लाने लगे—'जी, मैं यहाँ नहीं हूँ'—उसका ऐसा स्वरूप-अपलाप, सहज ही में, उसके वहाँ विद्यमान न होने को नहीं, प्रत्युत सद्भाव को ही सिद्ध कर देता है।

फलतः कौन व्यक्ति ऐसा मूर्ख होगा जो स्वयं चेतन होकर, अपने आपको ही अभावरूप या शून्यरूप समझने की गलती करे ॥ १३ ॥

[कर्तृता की अनश्वरता]

स्पन्दात्मक आत्मतत्व की, वेदकरूप और वेद्यरूप दो अवस्थायें हैं। इनको शास्त्रीय शब्दों में क्रमशः कर्तृता और कार्यता अथवा भोक्तृता और भोग्यता कहते हैं। इनमें से कर्तृतारूप अवस्था ही आत्मा का वास्तविक रूप है। कार्यता उसके द्वारा स्वयं अङ्गीकृत कृत्रिमरूप है। यही कारण है कि पहली अवस्था अनश्वर और दूसरी नश्वर है। अगले सूत्र में चित्तत्त्व की इन्ही दो अवस्थाओं पर प्रकाश डाला जा रहा है :—

अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् ।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥ १४ ॥

अवस्थायुगलम्, अवस्थाद्वयमेव कार्यकर्तृत्वसंज्ञं भोग्यभोक्तृभेदभिन्नम्, तत्र यो भोग्यरूपो भेदः स उत्पद्यते नश्यति च; भोक्तृभेदस्तु चिद्रूपः पुनर्न जायते, न कदाचित् विनश्यति तेन नित्यः ॥ १४ ॥

अनुवाद

सूत्र—(इस स्पन्दमार्ग में) स्पन्दात्मक आत्मतत्त्व की दो अवस्थाओं को कार्यता और कर्तृत्व (कर्तृता) इन दो शब्दों से अभिव्यक्त किया जाता है। इनमें से कार्यता नश्वर है परन्तु कर्तृत्व कभी नष्ट नहीं होता है ॥ १४ ॥

वृत्ति—(स्पन्दात्मक आत्मतत्व की) दो अवस्थायें हैं। इन दो अवस्थाओं को कार्यता और कर्तृत्व (कर्तृता) नाम दिया गया है। इनमें भेद यह है कि एक भोग्य है दूसरी भोक्ता है। इनमें से जो 'भोग्य' नामवाला भेद है वह उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी होता है। परन्तु 'भोक्ता' नामवाला भेद मात्र चित्-रूप होने के कारण न तो उत्पन्न ही होता है और न कभी नष्ट ही होता है। अतः वह नित्य है ॥ १४ ॥

विवरण

पहले भी शैवदर्शन के इस सिद्धान्त का उल्लेख किया जा चुका है कि अहं-विमर्शात्मक स्पन्दतत्त्व, स्वतन्त्र होने के कारण, प्रतिसमय दो प्रकार की अवस्थाओं में स्पन्दायमान रहता है। इनमें पहली सामान्य-अवस्था और दूसरी विशेष-अवस्था है। सामान्य-अवस्था किसी भी प्रकार के उपराग से रहित और विशुद्ध चिद्रूपता की अवस्था है। इसमें बाह्य प्रमेयवर्ग विभागहीन अहंविमर्श के रूप में ही अवस्थित रहता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी अवस्था को कर्तृत्व की अवस्था का नाम दिया गया है। दूसरी विशेष-अवस्था वह अवस्था है जिसमें मौलिक चित्-रूपता, स्वयं उत्पादित अख्याति के द्वारा, अपने ही वास्तविक रूप को आच्छादित करके, देह, प्राण, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, अथवा घट, पट इत्यादि अनन्त एवं विचित्र जड़ वेद्य पदार्थों के रूप में अवभासमान है। इस अवस्था को प्रस्तुत सूत्र में कार्यता की अवस्था का नाम दिया गया है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने कहा है कि मौलिक तत्त्व अपने स्वातन्त्र्य से प्रतिसमय [1]आवरणरहित अर्थात् वेदक और आवरण-सहित अर्थात् वेद्य के रूप में स्वयं अवभासमान है। वह तत्त्व युगपत् ही कर्तृता की अवस्था और कार्यता की अवस्था भी है; पहले रूप में अपरिणामी, अविचल और अनश्वर और दूसरे रूप में परिणामी, चल और नश्वर है।

१. 'निरावरणमाभाति भात्यावृतनिजात्मकः ।' (तं० १.९३)

अनुभवी शैवगुरुओं ने तुरीयारूप शाक्तभूमिका का यथार्थ अनुभव प्राप्त करके इस बात को स्पष्ट किया है कि शक्ति के 'कर्तृत्व' अंश में, किसी भी दशा में, कोई परिवर्तन नहीं होता है। वेदकता का भाव, शाश्वतरूप में, अटल एवं अक्षुण्ण है क्योंकि यही शक्ति का वास्तविकरूप है। 'कार्यता' अंश में देश, काल एवं आकार के भेद के अनुसार उतार-चढ़ाव अथवा उदय एवं अस्त होते ही रहते हैं। समाधि की अवस्था में कार्यता का क्षय हो जाता है। इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि कार्यता संहृत होकर कर्तृता में ही विश्रान्त हो जाती है और वह अपने विशुद्ध ज्ञानक्रियात्मक चित्-रूप में अवभासमान रहती है ॥ १४ ॥

[समाधि में मात्र कार्यता का लोप]

समाधिकाल में सतत स्पन्दमयी कर्तृता (वेदकता) बाह्य प्रमेयवर्ग की ओर उन्मुख न होने के कारण, अपने ही कार्यता अंश को अपने में ही विलीन करके, विशुद्ध चिन्मात्र रूप में अवस्थित रहती है। ऐसी अवस्था में [1]सुप्रबुद्ध योगीजन ही उस चिन्मात्ररूपता को पहचानने में समर्थ होते हैं। अभाव की भावना करने वाले योगी वास्तव में अबुद्ध होते हैं अतः समाधिकाल में कार्यता अंश के निलीन होते ही उनको ऐसा लगता है कि हम अभाव में लय हो गये। अगले सूत्र में इस रहस्य का उद्घाटन किया जा रहा है :—

कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते ।
तस्मिँल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥

कार्यसंपादनसामर्थ्यं बाह्यकरणव्यापाररूपं केवलं विलुप्यते, स्थगितेन्द्रियस्य तस्मिन् विलुप्ते सामर्थ्ये स्वभावो मे विलुप्त इति अबुधो जानाति, न तु भावस्य विनाशोऽस्ति ॥ १५ ॥

अनुवाद

सूत्र—(समाधि-काल में) केवल इतना हो जाता है कि बहिर्मुख कार्यता के प्रति उन्मुखता रूप प्रयत्न लुप्त हो जाता है। उसके लुप्त हो जाने पर अबुध योगी को ऐसा लगता है कि—'मैं स्वयं भी लुप्त हो गया हूँ अर्थात् अभाव में ही लय हो गया हूँ' ॥ १५ ॥

वृत्ति—(समाधि-काल में) केवल इतना हो जाता हैं कि कार्य सिद्ध करने का सामर्थ्य, जिसका रूप बाह्य इन्द्रियों का, अपने शब्द, स्पर्श इत्यादि विषयों को ग्रहण करने का व्यापार होता है, लुप्त हो जाता है। बाह्य इन्द्रियों के विरत हो जाने की दशा में; विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य लुप्त हो जाने पर, अबुध

---

१. आगे सूत्र १७ का विवरण देख लेवें।

योगी ऐसा समझ लेता है कि—'मेरे स्वभाव का ही लोप हो गया है।' परन्तु जो भाव हो अर्थात् जिसकी सत्ता त्रिकालाबाधित हो, उसका विनाश कभी नहीं होता है ॥ १५ ॥

विवरण

पहले भी इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि अभाववादी लोग किसी भी पदार्थ की सत्ता के अनिस्तित्व को ही वास्तविक यथार्थ मानते हैं। उनके मतानुसार यही सिद्धान्त आत्मसत्ता पर भी लागू हो जाता है। यही कारण है कि वे लोग इसी अनस्तित्व की अवस्था को प्राप्त करने के लिए प्रतिसमय—'मैं नही हूँ, मेरा भाव नही है'—इस प्रकार की भावना का अभ्यास करते रहते हैं। निरन्तर अभ्यास करते करते कभी ऐसे किसी योगी को, समाधि-काल में, इन्द्रियों का व्यापार विरत हो जाने पर बाह्य विषयों के साथ पूर्णतया सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। उसके बाह्य इन्द्रिय वर्ग में अपने अपने शब्द, स्पर्श आदि विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं रहता है क्योंकि उसकी चेतना बहिर्मुखता से निवृत्त होकर अन्तर्मुख होने लगती है। ऐसी दशा में वह अबुध होने के कारण यह समझ लेता है कि 'मैं' अर्थात् मेरी आत्मा अभाव में ही लय हो गई है।"

कहना न होगा कि समाधि-काल में ऐसी अवस्था का उदय हो जाना केवल साधना की अपरिपक्वता और साधक की अबुधता का परिचायक है। सुप्रबुद्ध योगी ही अपने पुरुषार्थ से इस अवस्था को पार करके तुरीया-रूप शाक्त-भूमिका का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं। उनकी उस भूमिका (तुरीया-भूमिका) पर पहुँच कर अपनी ज्ञानक्रियामयी स्पन्दना से पूर्ण वेदकता की अनुभूति हो जाती है। इसमें सद्गुरु की कृपा परम अपेक्षणीय है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखना परम आवश्यक है कि कार्योन्मुख प्रयत्न के लुप्त होने की दशा में यदि कर्तृत्व अंश का भी सचमुच लोप ही हुआ होता तो उस सर्वाभाव-दशा के साक्षात्कार की अनुभूति किसको होती? कौन सा तत्त्व एक ओर स्वयं को 'अहं रूप' में सत्ता देकर' परन्तु दूसरी ओर अभाव में लय होकर, ऐसे लयीभवन की अनुभूति को अभिव्यक्त कर लेता? फलतः यह एक तथ्य है कि योगी में अथवा सर्वसाधारण जीवधारियों में भी जो यह 'अहं रूप' प्रतीति विद्यमान है वही वेदकता का अंश है। उसी में अनुभव करने की, सोचने की, समझने की अथवा किसी प्रकार की भी अनुभूति को अभिव्यक्त करने की शक्ति है। वही अभाव को भी अभाव के रूप में (न होने के भावरूप में) सत्ता देकर उसकी अनुभूति प्राप्त कर लेता है। उस वेदक अंश का, किसी भी अवस्था में, लोप नहीं होता है अतः अभाववादियों की सर्वाभाव जैसी कपोलकल्पित अवस्था मूढ़ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ॥ १५ ॥

[आत्मतत्त्व की स्थिरता]

अगले सूत्र में, कर्तृत्व अंश के, किसी भी अवस्था में नष्ट न होने के मौलिक शैवसिद्धान्त की पुष्टि, हेतु के द्वारा की जा रही है—

न तु योऽन्तर्मुखो भावः सर्वज्ञत्वगुणास्पदम् ।
तस्य लोपः कदाचित्स्यादन्यस्यानुपलम्भनात् ॥ १६ ॥

न तु यः अन्तर्मुखः अन्तश्चक्रारूढस्वभावः सर्वज्ञत्वादिगुणाश्रयः तस्य विनाशः कदाचित्, तस्मात् द्वितीयस्यान्यस्याभावात् तत्स्वरूपमेव व्योमवत् चिद्रूपतया सर्वत्र अनुभवति इति ॥ १६ ॥

अनुवाद

सूत्र—परन्तु वह अन्तर्मुख (शाश्वत अहंरूप में ही स्पन्दायमान) चेतनसत्ता, सर्वज्ञता इत्यादि गुणों की एकमात्र आश्रय है। उसका नाश कभी भी नहीं होता है क्योंकि (समाधि-काल में) किसी भी अतिरिक्त-सत्ता की विद्यमानता अनुभव में नहीं आती है ॥ १६ ॥

विशेष

कई प्राचीन स्पन्दशास्त्रियों ने इस सूत्र के चौथे पाद—'अन्यस्यानुपलम्भनात्' से दूसरे प्रकार के अभिप्राय भी लिये हैं। उनका आशय इस प्रकार है।

१. उस कर्तृत्वसत्ता का कभी भी नाश नहीं होता है क्योंकि यदि वैसा होता तो दूसरे अर्थात् विश्व का भी अनुपलम्भ (अदर्शन) हो जाता।

२. उस वेदकसत्ता का कभी नाश नहीं होता है क्योंकि यदि वैसा होता तो दूसरे अर्थात् अभाववादियों के अभाव और शून्यवादियों के शून्य का भी स्वरूप-निर्धारण नहीं हो सकता।

वृत्ति—परन्तु जो तत्त्व अन्तर्मुख अर्थात् आन्तरिक संवित्तिचक्र के रूप में प्रतिसमय स्पन्दायमान होते रहने के स्वभाव वाला और सर्वज्ञता इत्यादि गुणों का आधार है, उसका कभी भी नाश नहीं होता है। अतः यह बात निर्विवाद है कि उससे इतर और किसी वेदकसत्ता का अस्तित्व न होने के कारण वही, आकाश के समान स्वच्छ और सर्वव्यापक चैतन्यरूप तत्त्व प्रत्येक अवस्था का अनुभव कर लेता है ॥ १६ ॥

विवरण

पूर्वोक्त सूत्र १४ में उल्लिखित 'कर्तृत्व सत्ता' को प्रस्तुत सूत्र में 'भाव' शब्द के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। इसका एक विशेष अभिप्राय है। 'भाव' शब्द का मूल

धातु 'भू' है जिसका अर्थ 'सत्ता' अर्थात् अस्तित्व है। [1]शैवशास्त्रों में सत्ता या भाव शब्दों का अर्थ ऐसा अकालकलित अस्तित्व है जिसकी वर्तमानता से स्वयं अस्तित्व भी सार्थक होता है। किसी भी प्रकार की क्रिया से पहले उसके कर्ता की वर्तमानता आवश्यक है क्योंकि कर्ता के बिना क्रिया सिद्ध नहीं हो सकती है। फलतः प्रत्येक क्रिया को सिद्ध करने की अबाध क्षमता रखने वाले और, शाश्वत रूप में स्वयं वर्तमान रहने वाले, स्वतन्त्र कर्तृत्व को ही भाव या सत्ता की संज्ञा दी गई है।

साधारण जीवभाव के स्तर पर भी यदि यह कहा जाए—'देवदत्त अन्न पकाता है', तो इस 'पकाता है' क्रियापद में से 'पकाता' अंश से पकाने की क्रिया का और, 'है' अंश से किसी चेतना कर्ता—जो कि पकाने की क्रिया करने में स्वतन्त्र है—का अवबोध हो जाता है। इस उदाहरण से यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि देवदत्तरूप चेतन सत्ता की पूर्ववर्तमानता से ही पकाने की क्रिया निष्पन्न हो सकती है। पारमार्थिक स्तर पर भी यही सिद्धान्त लागू हो जाता है।

इस शाश्वत 'कर्तृत्व' का स्वरूप अहंविमर्शात्मक स्पन्द है। दूसरे शब्दों में इसको 'विमर्शशक्ति' भी कहते हैं। विमर्शशक्तिरूप 'कर्तृत्व' ही एक ऐसा अनिर्वचनीय 'भाव' है जो कि विश्व के अणु अणु को सत्ता प्रदान करने वाला सारभूत चैतन्य है।

भगवान उत्पलदेव ने इस भाव अथवा अहंविमर्शात्मक स्फुरण को '[2]महासत्ता' का नाम दिया है क्योंकि यही सारे जड़ अथवा चेतन भावों की विश्रान्ति का स्थान अर्थात् 'हृदय' है। [3]जड भावों की विश्रान्ति का स्थान चेतन है। चेतनों का आधार प्रकाशमानता है परन्तु स्वयं प्रकाश की प्रकाशमानता का रहस्य भी विमर्श में ही अन्तर्निहित है। यह तो [4]विमर्शरूप स्पन्दना ही है जो कि स्वयं अदेशकालकलित होने के कारण, विभिन्न एवं विचित्र प्रकार के देश, काल एवं आकारों से परिवलित प्रमेयवर्ग को जीवन देकर, स्वयं उन उन रूपों में निरर्गल क्रीडा करती रहती है। यद्यपि खरगोश के सींग या आकाश के फूल जैसी कल्पनाओं का प्रत्यक्षरूप में कहीं भी अस्तित्व नहीं है परन्तु विमर्श में इनकी भी सत्ता ठीक उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार दृश्यमान पदार्थों की है। फलतः यह ऐसा शाश्वत भाव है जिसमें अभाव भी अन्तर्निहित है।

---

१. सत्ता च भवनकर्तृता सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम्। (ई० प्र० वि०, १.५.१४)

२. सा स्फुरता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥ (ई० प्र०, १.५.१४)

३. हृदयं च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते, तच्च उक्तनीत्या जडानां चेतनम्, तस्यापि प्रकाशत्वकरत्वम्, तस्यापि विमर्शशक्तिः॥ (ऊपर के सूत्र पर विमर्शिनी टीका)

४. महासत्ता महादेवी विश्वजीवनमुच्यते। (ऊपर के सूत्र में उदाहृत)

सूत्र १ में इस बात का उल्लेख किया गया है कि कोई भी क्रिया ज्ञान के बिना सम्भव नहीं हो सकती है। ज्ञान का मौलिकरूप स्वतन्त्र इच्छा है। अतः प्रस्तुत प्रकरण में वर्णित 'कर्तृत्व' अथवा 'भाव', स्वतन्त्र एवं अकालकलित इच्छा; ज्ञान और क्रिया की समरसता है, इसी को शैवशब्दों में चित्-रूपता कहते हैं ॥१६॥

[प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध को अनुभूति]

अब यहाँ से अगले कई सूत्रों में इसी चिन्मात्ररूप स्वभाव के अनुभवपक्ष पर प्रकाश डाला जा रहा है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम अगले सूत्र में सुप्रबुद्ध और प्रबुद्ध योगियों में पाई जाने वाली आध्यात्मिक अनुभूति के स्तर में तारतम्य दिखाने के साथ साथ, सूत्र में अन्तर्निहित व्यंग्य के द्वारा, इस रहस्य का उद्घाटन किया जा रहा है कि प्रबुद्ध भूमिका पर अवस्थित योगी को सुप्रबुद्ध-भाव प्राप्त करने के लिये गुरूपदेश की आवश्यकता होती है :—

तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी ।
नित्यं स्यात् सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्तेऽपरस्य तु ॥ १७ ॥

तस्य चिद्रूपस्य सर्वगतस्य स्वस्वभावस्य उपलब्धिः त्रिषु जाग्रदादिषु पदेषु नित्यं सुप्रबुद्धस्य भवति; तदाद्यन्ते अपरस्य प्रबुद्धस्य स्वप्नसुषुप्तादौ; जाग्रत्तुर्यौ त्वागममात्रगम्यौ ॥ १७ ॥

अनुवाद

सूत्र—सुप्रबुद्ध योगी को, उस चिद्रूप स्वभाव की उपलब्धि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के आदि, मध्य और अन्त में समान एवं अखण्ड रूप में, प्रतिसमय, होती रहती है। परन्तु इसके प्रतिकूल प्रबुद्ध योगी को, [1]इन तीनों अवस्थाओं में से पहली (जाग्रत् अवस्था) की अन्तिम दो अवस्थाओं में (स्वप्न और सुषुप्ति में) उपलब्धि होती है ॥ १७ ॥

वृत्ति—सुप्रबुद्ध योगी को, विश्व के कण कण में अनुस्यूत चित्-रूप स्वभाव की अनुभूति, जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में, प्रतिसमय अर्थात् प्रत्येक अवस्था के आदि, मध्य और अन्त में, अखण्डरूप में होती रहती है। परन्तु प्रबुद्ध योगी को, इन अवस्थाओं में से पहली अर्थात् जाग्रत अवस्था के अन्त में अर्थात् स्वप्न और

१. सूत्र के चौथे चरण का उपरिलिखित हिन्दी अनुवाद श्रीरामकण्ठाचार्य की विवृत्ति के आधार पर किया गया है। आचार्य जी ने सूत्र में उल्लिखित 'तदाद्यन्ते' पद का इस प्रकार विग्रह किया है : "तद् = इन जाग्रत आदि अवस्थाओं की, आदि = पहली अर्थात् जाग्रत अवस्था के, अन्ते = अन्तिम दो पदों में अर्थात् स्वप्न और सुषुप्ति में", (स्प० का०, २.१)

सुषुप्ति में तथा इन्हीं दो अवस्थाओं में अन्तर्भूत होने वाली [1]अन्य अवस्थाओं में ही होती है। उसको जाग्रद् और तुर्या अवस्थाओं में ऐसी अनुभूति केवल सद्गुरु के उपदेश से ही प्राप्त हो सकती है ॥ १७ ॥

विवरण

प्रस्तुत सूत्र का वर्ण्य विषय लोकोत्तर अनुभूति होने के कारण साधारण रूप में दुरूह एवं असंगत जैसा प्रतीत होना स्वाभाविक है। यदि इस सूत्र को कुछ मात्रा तक कूटसूत्र की संज्ञा दी जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। विशेष रूप में इसके चौथे चरण में वर्तमान कूटता [2]श्री क्षेमराज और श्री भट्टलोल्लट जैसे प्राचीन व्याख्याकारों के लिये भी माथापच्ची का कारण बनी हुई थी। प्रस्तुत वृत्तिकार भट्टकल्लट ने भी अपनी वृत्ति में 'तदाद्यन्ते' इस मूलपद के लिये 'स्वप्नसुषुप्तादौ' यह पर्याय लिख कर ही इतिश्री कर दी है। मूलसूत्र और वृत्ति दानों का गम्भीर अनुसन्धान करने पर भी सूत्र का वास्तविक अभिप्राय समझ में नहीं आता है। वृत्ति का अध्ययन करने पर केवल इतनी बात समझ में आती है कि जहाँ सुप्रबुद्ध योगी को तीनों अवस्थाओं के आदि, मध्य और अन्त में आत्म-अनुभूति अखण्ड रूप में होती रहती है वहाँ प्रबुद्ध योगी को केवल स्वप्न और सुषुप्ति में ही होती है। परन्तु इतने से इस शङ्का का समाधान नहीं होने पाता है कि क्या प्रबुद्ध योगी की आत्म-अनुभुति का रूप भी, चाहे दो ही अवस्थाओं में सही, ठीक वैसा ही अखण्ड होता है जैसा सुप्रबुद्ध योगी की अनुभूति का होता है? तात्पर्य यह है कि क्या प्रबुद्ध योगी को भी इन दो अवस्थाओं के आदि, मध्य और अन्त में समानरूप से आत्म-अनुभूति स्थिर रहती है या नहीं? भट्टकल्लट की वृत्ति के ही आधार पर लिखी हुई श्रीरामकंठाचार्य की विवृति में भी इस शङ्का का कोई संतोषजनक समाधान नहीं मिलता है। फलतः वास्तविक स्थिति पूर्वरूप से स्पष्ट नहीं होने पाती है।

श्रीरामकंठाचार्य ने अपनी विवृति में 'तदाद्यन्ते' इस मूलपद का जैसा अर्थ लिखा है वैसे ही अर्थ को आधार मान कर इसका हिन्दी अनुवाद किया गया है। इस स्थल पर आचार्य जी की विवृति को ही हिन्दी अनुवाद का आधार बनाने का कारण यह है कि आचार्य जी ने स्वयं भट्टकल्लट की वृत्ति को ही अपनी विवृति का आधार बनाया हैं।

---

१. रामकंठाचार्य के मतानुसार भट्टकल्लट की, वृत्ति में 'स्वप्न-सुषुप्तादौ' इस समस्त पद में स्वप्न और सुषुप्ति शब्दों के साथ 'आदि' शब्द जोड़ देने से संवेदन की वे सारी अवस्थायें अभिप्रेत हैं जिनका अन्तर्भाव इन दो अवस्थाओं में होता है। (स्प० का०, २.१)

२. द्रष्टव्य, स्पन्दनिर्णय : ३४ पृष्ठ

इस सन्दर्भ में निःसंकोच रूप में इस बात को स्वीकार करना आवश्यक है कि प्रातः स्मरणीय ईश्वरस्वरूप जी को रामकंठाचार्य के द्वारा प्रस्तुत किया हुआ 'तदाद्यन्ते' शब्द का विश्लेषण मान्य नहीं है। आपने कई बार अपने मौखिक प्रवचनों में इस आध्यात्मिक गुत्थी को, इस मूल शब्द का दूसरी प्रकार से अर्थ लगाकर, सुलझाने की कृपा की है। आपके मन्तव्यानुसार प्रबुद्ध योगी को, सदगुरु के उपदेश से, स्वप्नपद के अन्त और सुषुप्ति पद के आदि में, अर्थात् स्वप्नपद से सुषुप्ति-पद में, प्रविष्ट होने के अवसर पर, दोनों पदों के अन्तरालवर्ती संधिक्षण में स्वभाव की अनुभूति प्राप्त होती है परन्तु वह बिजली की कौंध के समान क्षणपर्यवसायिनी होने के कारण अखण्ड नहीं कही जा सकती है। जब वह, सद्-गुरु के द्वारा बताई गई विधि का अक्षरशः परिपालन करता हुआ, निरन्तर अभ्यास एवं अनुसन्धान के द्वारा, इस तुर्यारूप स्वभाव पर स्थिर रहने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, तब वह प्रबुद्ध-भाव से निकल कर सुप्रबुद्ध-भाव में प्रविष्ट हो जाता है और उसकी आत्म-उपलब्धि तीनों पदों के आदि, मध्य और अन्त में समानरूप से स्थिर बनी रहती है।

अब रह जाता है प्रश्न सुप्रबुद्ध योगी का। उसके विषय में कुछ कहना चमकते हुए सूर्य को दीये के द्वारा ढूँढने के बराबर है। उसने तो परमेश्वर के अनुग्रह से तुर्यारूप शाक्तभूमिका (सामान्य-स्पन्दभूमिका) आक्रान्त की हुई होती है और वह साक्षात् शिवभाव पर आरूढ़ सिद्ध होता है। उसमें भेदव्याप्ति के संस्कार भी अवशिष्ट नहीं होते हैं अतः उसकी आत्म-अनुभूति में, कभी भी, कोई उतार-चढ़ाव आने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

अभी ऊपर कहा गया है कि इस सूत्र में गुरूपदेश के लिये उपयुक्त एवं अधिकारी पात्र का निर्देश व्यंग्यरूप में अन्तर्निहित है। वृत्तिकार ने 'जाग्रत्तुर्यौ त्वागममात्रगम्यौ' इतना कह कर ही उस व्यंग्य का स्पष्टीकरण किया है। इस कथन के अनुसार केवल प्रबुद्ध-भाव पर अवस्थित व्यक्ति ही गुरूपदेश के लिए उपयुक्त पात्र है।

इस सम्बन्ध में यहाँ पर प्रबुद्ध, सुप्रबुद्ध इत्यादि भूमिकाओं पर अवस्थित प्रमाताओं की स्वभावगत विशेषताओं पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि उससे पाठकों को सूत्र का अर्थ भली-भांति हृदयङ्गम करने में सहायता मिलने की आशा है।

शास्त्रकारों ने, आध्यात्मिक संदर्भ में, संसार के प्रमातृवर्ग को [१]अबुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध इन चार भेदों में विभक्त किया है। तंत्रग्रन्थों में इन चार

१. चतुर्विधं तु पिण्डस्थमबुद्धं बुद्धमेव च।
प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च.................. ॥ (मा० वि०, २.४३)

प्रकार के प्रमाताओं की स्वरूपगत विशेषताओं का जो उल्लेख किया गया है उसका संक्षिप्त आशय इस प्रकार है—

अबुद्ध-प्रमातृवर्ग—इस [1]वर्ग में ऐसे प्रमाताओं को रखा गया है जो पारमेश्वरी तिरोधानात्मिका शक्ति के द्वारा संहार की अवस्था में धकेले गये होते हैं। वे इस संहार की अवधि में, मायारूपी कालरात्रि अथवा दूसरे शब्दों में गुणत्रय की साम्यावस्था के गर्भ में; प्रगाढ अंधकार से परिपूर्ण गहन गुफाओं में गहरी नींद में पड़े हुए अजगरों की तरह, निःसंज्ञ बनकर पड़े रहते हैं। इस वेला में उनकी चेतना पर स्वात्म-अख्याति का इतना दुर्भेद्य आवरण छाया रहता है कि उनको अपने सद्भाव या असद्भाव की चेतना नहीं रहती है और परिणामस्वरूप वे शब्दादि विषयों को ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। तावत्कालपर्यन्त उनको सुख, दुःख इत्यादि की कोई अनुभूति भी नहीं रहती है। यही कारण है कि ऐसे प्रमातृवर्ग को अबुद्ध की संज्ञा दी गई है।

इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखने के योग्य है कि संहृत होने के समय ऐसे प्रमाताओं के संचित-कर्म भी तावत्कालपर्यन्त वासना अथवा संस्कारों के रूप में उनके साथ ही प्रसुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं।

बुद्ध प्रमातृवर्ग—[2]इन संहारावस्था में पड़े हुए प्रमाताओं में से किन्हीं के कर्मपरिपाक का समय आने पर, भगवान अनन्त-भट्टारक[3] अपनी इच्छा शक्ति से उनको पूर्वसंचित कर्मों के अनुसार योनियों में धकेल कर, उनके फलों का भोग करने की ओर प्रवृत्त करते हैं। उस समय भगवान् कलातत्व के द्वारा उनमें पुनः अंशतः चेतना का संचार कर लेते हैं और वे प्राकृतिक प्रतिविधान के अनुसार, स्थूल शरीरों को धारण करके विचित्र योनियों में भटकते रहते हैं। ऐसे ही प्रमाताओं को दूसरे शब्दों में संसारी जीव या पशु कहा जाता है। विषय-पिपासा को विषयोपभोग के द्वारा शान्त करना ही उनका मात्र कर्तव्य बन जाता है। फल यह निकलता है कि वे प्रति-समय पारमेश्वरी निग्रहशक्ति के घोरतर प्रभाव में पड़कर, कामिनी-कञ्चन को ही सर्वोत्कृष्ट एवं उपादेय फल समझते हुये, कभी भी आत्म-चिन्तन की ओर प्रवृत्त नहीं होते हैं। कामिनी-कंचन को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझने के कारण उनको 'बुद्ध' कहा जाता है॥

१. द्रष्टव्य—स्वच्छन्द तन्त्र, ११. ९१–९५

२. द्रष्टव्य, श्री स्वछन्द तन्त्र, ११. ९६–११२

३. शैव सिद्धान्त के अनुसार शुद्धाध्व में भगवान शिव भेदरहित शिवरूप में ही सृष्टि-संहार आदि करते रहते हैं। अशुद्धाध्व में अर्थात् मायातत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व तक के विश्व में, स्वयं भी भेदव्याप्ति को अपना कर ही, सृष्टि-संहार आदि करते हैं। उनके इस रूप का नाम अनन्त-भट्टारक है।

प्रबुद्ध प्रमातृवर्ग—[1]भगवान परम कारुणिक हैं अतः उनके शक्तिपात से किसी समय किसी प्रमाता में अकस्मात् ऐसी योग्यता उभर आती है कि उसके अंतर-तममें दिव्य शाङ्कर-भक्ति की किरण स्वयं फूट पड़ती है। इसके फलस्वरूप सर्वप्रथम उसके हृदय में सांसारिक विषयों के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। उसके सद्-ज्ञान पर छाया हुआ मायीय आवरण हठने लगता है और वह संसार के सारे कृत्रिम सम्बन्धों को इन्द्रजाल के समान अनुभव करने लगता है। गुरु कृपा से वह आत्म अनुसंधान करने की ओर प्रवृत हो जाता है। जब उसकी आत्मजिज्ञासा तीव्रतर रूप धारण करती है तब भगवान चन्द्रमौलि स्वयं ही गुरु का रूप धारण करके, उसको शाङ्कर-मार्ग में दीक्षित कर देते हैं और वह प्रबुद्ध-भाव की अवर भूमिका से निकलकर सुप्रबुद्ध-भाव की उच्चतर भूमिका में प्रविष्ट होकर कृतार्थ हो जाता है। ऐसे प्रमाता को शैव शब्दों में प्रबुद्ध-प्रमाता कहते हैं।

सुप्रबुद्ध प्रमातृवर्ग—[2]प्रबुद्ध–प्रमाता ही, अनथक प्रयत्न और निश्चल एवं पवित्र भक्ति के द्वारा प्रसन्न किये हुए, शङ्कर–स्वरूप गुरु से शैवी दीक्षा प्राप्त करके, योगमार्ग पर अग्रसर होता हुआ सुप्रबुद्ध अवस्था में प्रविष्ट हो जाता है। उसको उत्कृष्ट एवं अवर्णनीय तुर्यारूप शाक्त–भूमिका की अखण्ड अनुभूति प्राप्त हो जाती है। ऐसा प्रमाता, भगवान के तीव्रतम शक्तिपात के प्रभाव से एक ऐसी भूमिका पर पहुँचा हुआ होता है जो वर्ण पद, मन्त्र, कला, तत्त्व और भुवन इन छः मार्गों से अतिगत होने के कारण पूर्णतया विरज, विमल और शान्त है। संक्षपे में केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि सुप्रबुद्ध योगी साक्षात् शिवभाव पर पहुँचा हुआ प्रमाता होता है अतः उसको प्रत्येक अवस्था में, प्रतिसमय और प्रत्येक दिशा में आनन्द रस से परिपूर्ण मात्र शिवभाव की अनुभूति त्रिकालाबाधित रूप में होती है।

इतनी बातें समझने के अनन्तर पाठक स्वयं इस निष्कर्ष पर पहुच जाता है कि प्रबुद्ध योगी ही गुरूपदेश के लिये उपयुक्त पात्र है। अबुद्ध तथा बुद्ध प्रमाता उपदेश के पात्र हीं नहीं होते क्योंकि वे प्रमाद–मदिरा के नशे में झूमते हुए कभी भी आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्त ही नहीं होते हैं। हाँ यदि उनमें से स्वयं ही भगवान किसी को उभारना चाहें तो वह बात दूसरी है। सुप्रबुद्धयोगी को उपदेश देने की आवश्यकता ही नहीं हैं क्योंकि साक्षात् शिवभाव पर अवस्थित व्यक्ति को उपदेश देने का प्रयोजन ही क्या है? ॥ १७ ॥

[अवस्था भेदों में स्वरूप की अभेद अवस्था]

अगले सूत्र में इस रहस्य को अनावृत किया जा रहा है कि अतृभूति के दृष्टिकोंण से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य अवस्थाओं में स्वभाव की उपलब्धि किन किन रूपों में होती है :—

---

१. दृष्टव्य, मा० वि०, १. ४२–४५, तथा स्व० तं०, ११. ११३–१२०

२. दृष्टव्य, मा० वि०, १. ४६–४७, तथा स्व० तं०, ११. १२१–२५

[1]ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः ।
पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः ॥ १८ ॥

ज्ञानज्ञेयभेदेन द्विरूपे [2]जाग्रत्स्वप्नात्मके पदद्वये संवेदनम्, सुषुप्ततुर्यात्मके पदद्वये पुनश्चिद्रूपत्वेन केवलम् अनुभवः, न तु द्वितीयमन्यत्वेन उपलभ्यते ॥ १८ ॥

अनुवाद

सूत्र—शक्तिघन एवं सर्वव्यापक आत्मतत्व जाग्रत्–अवस्था में केवल ज्ञेयपदार्थों का रूप धारण करने वाली और, स्वप्नअवस्था में केवल ज्ञान (मानसिक संकल्प-विकल्पात्मक ज्ञप्ति) का रूप धारण करने वाली, महान् विमर्शशक्ति के द्वारा प्रकाशमान रहता है। उस दो अवस्थाओं से इतर अवस्थाओं में (सुषुप्ति और तुर्या में) केवल चिन्मात्र रूप में प्रकाशमान रहता है ॥ १८ ॥

वृत्ति—जाग्रत् और स्वप्न इन दो अवस्थाओं की अवस्थागत द्विरूपता का आधार यह है कि पहली में संवेदन का रूप ज्ञेय और दूसरी में ज्ञान होता है। इसके प्रतिकूल सुषुप्ति और तुर्या नामवाली दो अवस्थाओं में, स्वभाव कीं अनुभूति, विशुद्ध चिन्मात्र रूप में ही होती है। इन दो अवस्थाओं में, स्वभाव की उपलब्धि (चित्–रूपता के अतिरिक्त) और किसी रूप में नही होती है ॥ १८ ॥

विवरण

जाग्रत् आदि अवस्थाओं के सर्वसाधारण लौकिक रूप पर [3]पहले प्रकाश डाला गया है। यह भी कहा गया है कि वास्तव में ये अवस्थाभेद औपचारिक हैं क्योंकि इन सबों का अनुभविता (वेदक) एक ही होता है। अब यहाँ पर केवल इतना विचारणीय है कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इन अवस्थाओं की स्वरूपगत विशेषतायें कौन सी हैं और इनमें शक्ति की स्पन्दना किन किन रूपों में विलासमान होती है।

---

१. इस सूत्रमें पाठक्रम को छोडकर आर्थक्रम से ज्ञानरूपता का सम्बन्ध स्वप्न के साथ और ज्ञेयरूपता का सम्बन्ध जाग्रत्–अवस्था के साथ जोडना चाहिये क्योंकि पाठक्रम की अपेक्षा आर्थक्रम बलवान होता है'॥ (श्री स्वामी ईश्वर स्वरूप जी)

२. प्रस्तुत संदर्भ में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से योगियों की ध्यान धारणा और समाधि इन तीन अवस्थाओं का अभिप्राय है ॥

३. दृष्टव्य, सूत्र ३ का विवरण।

[1]**मुख्य जाग्रत्-अवस्था**—अनुभवी सिद्ध पुरुषों का कथन है कि मुख्य जाग्रत्-अवस्था पूर्णरूप में [2]प्रमेय-भूमिका है। इसमें संवित्-भट्टारिका (विमर्श शक्ति) प्रमेय-भूमिका पर उतर कर, सांसारिक प्रमेय, प्रमाण, [3]प्रमाता और प्रमा की विचित्रताओं से भरे हुए, प्रमेय विश्व के रूप में ही स्पन्दायमान है। शास्त्रीय शब्दों में इस अवस्था को अधिष्ठेय-अवस्था कहते हैं क्योंकि इसमें, [4]मन में अन्तः-संकल्पात्मक संवेदन के रूप में भासमान घट-पट आदि वेद्य पदार्थों के द्वारा ही, बाहर के स्थूल घट-पट आदि वेद्यपदार्थों का अवभासन हो जाता है। यही कारण है कि मानसिक संकल्परूप घट-पट आदि वेद्यभाव अधिष्ठाता पदवी पर और उनके द्वारा अवभासित होने वाले बाह्य स्थूल घट-पट आदि वेद्यभाव अधिष्ठेय पदवी पर अवस्थित हैं। जाग्रत्-अवस्था में, अन्तःसंवेदन के रूप में वर्तमान वेद्य पदार्थों का बाह्य स्थूल वेद्य पदार्थों के रूप में अवभासित होना आवश्यक है क्योंकि तभी तो इस अवस्था की सार्थकता मानी जाती है। इस कारण से यह अवस्था प्रति समय अधिष्ठेय-अवस्था ही कही जाती है। यह [5]कभी भी अधिष्ठातृ-अवस्था नहीं बन सकती है। इस अवस्था में शक्ति (स्पन्दमयी विमर्शशक्ति) ज्ञेयरूप में ही विलासमान रहती है अतः सावधान पुरुषों को ज्ञेयता में ही स्वरूप की अनुभूति होती रहती है।

मुख्य स्वप्न-अवस्था—मुख्य स्वप्नावस्था में संवित्-भट्टारिका वैकल्पिक ज्ञानरूप में ही स्पन्दित होती हुई, [6]जाग्रत्-अवस्था के ही घट पट आदि ज्ञेय

---

१. 'मुख्य-अवस्था' कहने से किसी भी अवस्था का वह विशुद्धरूप अभिप्रेत है जिसमें अभी उससे इतर अवस्थाओं का संकर न हुआ हो। जैसे मुख्य जाग्रत्-अवस्था विशुद्ध जाग्रत् को ही कहा जायेगा जाग्रत्-जाग्रत्, जाग्रत स्वप्न इत्यादि को नहीं।

२. मेयभूमिरियं मुख्या जाग्रदाख्या............... ॥ (तं०, १०.२४०)

३. इस प्रमाता शब्द से संसार भूमिका पर अवस्थित पशुवर्ग का अभिप्राय है। संसार का पशुवर्ग चेतन होने पर भी विश्वात्मक संवित् की अपेक्षा से प्रमेय वर्ग में ही अन्तर्भूत हो जाता है।

४. तथा हि भासते यत्तन्नीलमन्तः प्रवेदने।
संकल्परूपे बाह्यस्य तदधिष्ठातृबोधकम् ॥
यत्तु बाह्यतया नीलं चकास्त्यस्य न विद्यते।
कथंचिदप्यधिष्ठातृभावस्तज्जाग्रदुच्यते ॥ (तं०, १०.२३४–३५)

५. यदधिष्ठेयमेवेह नाधिष्ठातृ कदाचन।
संवेदनगतं वेद्यं तज्जाग्रत्समुदाहृतम् ॥ (तदेव १०.२३१)

६. यत्त्वधिष्ठानकरणभावमध्यास्य वर्तते।
वेद्यं सत्पूर्वकथितं भूततत्त्वाभिधामयम्।
तत्स्वप्नो मुख्यतो ज्ञेयं तच्च वैकल्पिके पथि ॥ (तं०, १०.२४७–४८)

पदार्थों को, मानसिक संकल्परूप में इस प्रकार सुस्पष्ट रूप में अवभासित कर लेती है कि मानो प्रमाता, जाग्रत्-अवस्था के समान ही, बाह्य इन्द्रियों के द्वारा उनका ग्रहण कर रहा हो। शास्त्रों के अनुसार जहाँ जाग्रत्-अवस्था को ज्ञेयप्रधानता के कारण प्रमेय पद कहते हैं, वहाँ स्वप्नावस्था को वैकल्पिक ज्ञानप्रधानता के कारण [१]प्रमाण पद कहते हैं। प्रमाण पद होने का अभिप्राय यह है कि इस अवस्था में अनुभविता के मानसिक संकल्प, स्थूल घट-पट आदि वेद्य पदार्थों की वास्तविक स्थिति के अभाव में भी, संकल्परूप में उनकी छाया[२] को अवभासित करते हैं। फलतः यह बात स्पष्ट है कि स्वप्नावस्था में, जाग्रत्-अवस्था के ही अनुभूयमान वेद्य पदार्थ, बाह्य स्थूल रूप में वर्तमान न होते हुए भी, मानसिक संकल्परूप में (ज्ञान-रूप में) वर्तमान रहते हैं। इसी कारण से इस अवस्था का दूसरा शास्त्रीय नाम अधिष्ठान-अवस्था भी है। सावधान पुरुषों को इस अवस्था में, वैकल्पिक ज्ञानरूप में ही स्पन्दायमान स्वरूप की अनुभूति प्राप्त होती है।

मुख्य सुषुप्ति-अवस्था— यद्यपि सुषुप्ति शब्द का अर्थ पूर्णस्वाप है तथापि आध्यात्मिक स्तर पर इसका अभिप्राय प्रगाढ़ निद्रा नहीं है। योग की प्रक्रिया के अनुसार यह समाधि की अवस्था है। इसको सुषुप्ति की संज्ञा इसलिए दी गई है कि इस अवधि में, वह जाग्रत् एवं स्वप्न का अनुभव करने वाला अनुभविता ही, चिन्मात्र रूप में अवस्थित रह कर, जाग्रत् के ज्ञेयरूप और स्वप्न के वैकल्पिक ज्ञानरूप वेद्य पदार्थों को ग्रहण करने के प्रति पूर्णतया [३]सुप्त अर्थात् विमुख हो जाता है। फलतः इस काल में, वही पूर्वोक्त [४]अधिष्ठातृरूप में (अन्तःसंवेदन के रूप में) वर्तमान प्रमेयभाव, जो कि बाह्य प्रमेयविश्व के बीज जैसे होते हैं, संस्कार रूप बन कर, मानो गहरी नींद में जैसे पड़े रहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति काल में वेद्यता पूर्णतया गलकर चिन्मात्ररूपता में लय नहीं हो जाती है, प्रत्युत तावत्कालपर्यन्त संस्काररूप में वर्तमान रहती है। यही कारण है कि सुषुप्ति काल के बीत जाते ही अन्तःसंवेदन में फिर भी वेद्यता का उदय हो जाता है। शास्त्रकारों ने इस अवस्था को 'मुख्य मातृदशा'[५] की संज्ञा दी है क्योंकि इसमें, तावत्काल पर्यन्त,

---

१. मानभूमिरियं मुख्या स्वप्नो ह्यामर्शनात्मकः। (तं०, १०.२५६)

२. मेयच्छायावभासिनी मानप्रधाना स्वप्नावस्थेयमित्यर्थः। (तं० वि०, १०.२४८)

३. अनुभूतौ विकल्पे च योऽसौ द्रष्टा स एव हि।
न भावग्रहणं तेन सुष्ठु सुप्तत्वमुच्यते॥ (तं०, १०.२५८-५९)

४. यत्त्वधिष्ठातृभूतादेः पूर्वोक्तस्य वपुर्ध्रुवम्।
बीजं विश्वस्य तत्तूष्णींभूतं सौषुप्तमुच्यते॥ (तं० १०.२५७-५८)

५. मुख्या मातृदशा सेयं सुषुप्ताख्या निगद्यते॥ (तं०, १०.२६०)

ज्ञेयरूपता और वैकल्पिक ज्ञानरूपता का सारा क्षोभ शान्त होने के कारण, प्रमाता मुख्य चिन्मात्ररूप में अवस्थित रहता है।

तुर्या अवस्था – सुषुप्ति कालीन प्रमातृभाव अमित नहीं, अपितु मित ही है क्योंकि इस काल के बीतते ही, संस्काररूप में, विद्यमान वेद्यता फिर भी उदय में आ जाती है और, चिन्मात्ररूपता पर भेदव्याप्ति का आवरण पड़ जाता है। अतः सावधान योगी, अपने अथक अनुसंधान के द्वारा इस अवस्था को लांघ कर, इसके उपरितन स्तन पर विद्यमान एक ऐसी अवर्णनीय अवस्था में प्रविष्ट हो जाते हैं जहाँ उनके मन में विद्यमान वेद्यता के संस्कार भी अवशिष्ट नहीं रहते हैं। इसको तुर्यावस्था कहते हैं। शास्त्रों के अनुसार यह विशुद्ध [१]प्रमारूप अर्थात् विरज, विमल, अखण्ड एवं सर्वतोमुखी चिन्मात्ररूपता की अवस्था है। यही अन्तिम शिव-भाव में प्रविष्ट होने का सिंहद्वार है और यहाँ पर पहुँचे हुये साधक की सारी मायीय उदासीनतायें सदा सर्वदा के लिये शान्त हो जाती हैं। इसी अवस्था को, स्पन्दशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में, ज्ञान-क्रिया की शाश्वतस्पन्दमयी विमर्श-भूमिका अथवा शाक्त-भूमिका कहते हैं।

सामान्य स्पन्द–भूमिका होने के कारण इसका कोई विशिष्ट नामकरण सम्भव नही है अतः शास्त्रों में इसको 'तुर्या' अर्थात् चौथी अवस्था की संज्ञा देकर ही संतोष किया गया है। साथ ही यह समझना भी आवश्यक है कि इस अवस्था को मुख्य या अमुख्य अवस्था भी नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि पूर्ण चिन्मात्ररूप होने के कारण यह अवस्था, स्वयं ही, जाग्रत् आदि पूर्वोक्त तीन अवस्थाओं ने व्याप्त रहकर, उनको [२]जीवन देती है; अतः वे अपने मिश्रण से इसमें मुख्यता या अमुख्यता कैसे उत्पन्न कर सकती हैं? वास्तव में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें, अन्ततो गत्वा, इसी अवस्था में लय हो जाती हैं और उस लयीभाव की प्रक्रिया यह है कि [३]प्रमेय प्रमाण में, प्रमाण प्रमाता में और प्रमाता प्रमा में लय होकर कृतकृत्य हो जाते हैं। प्रमाता में अन्तः बहिः पूर्ण शाक्तसमावेश हो जाता है अतः यह अवस्था साक्षात् [४]शाक्तसमावेशात्मक अभेदव्याप्ति की ही अवस्था है॥

---

१. यत्तु प्रमात्मकं रूपं प्रमातुरुपरि स्थितम्।
पूर्णतागमनोन्मुख्यमौदासीन्यात्परिच्युतिः।
तत्तुर्यमुच्यते ....॥ (तं०, १०.२६५)

२. ....इति सैवेषा देवी विश्वैकजीवितम् (तं०, १०. २६७)

३. मेयं माने मातरि तद् सोऽपि तस्यां मितौ स्फुटम्।
विश्राम्यति .... ॥ (तदेव)

४. शक्तिसमावेशो ह्यसौ मतः। (तं०, १०. २६५)

इस प्रकार चारों अवस्थाओं के स्वरूप-विश्लेषण से निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है :—

१. जाग्रत्-अवस्था में शक्ति की स्फुरणा का रूप ज्ञेयता है।
२. स्वप्न-अवस्था में शक्ति की स्फुरणा का रूप संकल्प-विकल्पात्मक ज्ञप्ति है।
३. सुषुप्ति-अवस्था में शाक्त-स्फुरणा का रूप चिन्मय है परन्तु ज्ञेयता संस्कार रूप में अवशिष्ट रहने के कारण पूर्ण चिन्मय नहीं हैं।
४. तुर्या-अवस्था में ज्ञेयता के संस्कार भी अवशिष्ट नहीं रहते हैं अतः इसमें शक्ति की स्फुरणा का रूप पूर्ण चिन्मय है ॥ १८ ॥

[ज्ञानी और विशेषस्पन्द]

अगले सूत्र में यह उपदेश दिया जा रहा है कि जिस भाग्यशाली योगी को, पूर्ण शाक्त-समावेश हो जाने के फलस्वरूप, प्रत्येक अवस्था में, सामान्य-स्पन्दामक स्वभाव की अनुभूति होती रहती हो, उसके मार्ग में विशेष-स्पन्दों के अनन्त प्रवाह कोई बाधा नहीं डाल सकते हैं :—

गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥ १९ ॥

गुणस्पन्दस्य सत्त्वरजस्तमोरूपस्य ये निःष्यन्दाः प्रवाहाः, ते सामान्य-स्पन्दमाश्रित्य प्रसृता अपि सततं ज्ञस्य विदितवेद्यस्य योगिनः स्युर्भवेयुः, भवन्त्यपरिपन्थिनः अनाच्छादकाः स्वभावस्य ॥ १९ ॥

अनुवाद

सूत्र—(सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्थारूप अव्यक्त-तत्त्व से निकले हुए और सारे प्राधानिक सर्ग क रूप प्रवाहमान) [१]गुणादि स्पन्दों के अनन्त प्रवाहों को, सामान्य-स्पन्द का ही आधार होने से, उन उन रूपों में सत्ता प्राप्त हुई है। अतः वे उस योगी के शत्रु नहीं बन सकते हैं जिसने जानने के योग्य रहस्य को जान लिया हो ॥ १९ ॥

वृत्ति—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के रूप में प्रवाहभान, गुण-स्पन्दों के अनन्त प्रवाह, सामान्य-स्पन्द पर ही आधारित हैं। ऐसी परिस्थिति में वे अजस्र रूप में प्रवाहमान होते रहने पर भी, उस योगी के प्रतिद्वन्दी नहीं बनते हैं जिसने ज्ञातव्य विषय को जान लिया हो। इसका तात्पर्य यह है कि वे उसके (चिन्मात्र) स्वभाव का आवरण नहीं बन जाते हैं ॥ १९ ॥

---

१. गुणादि-स्पन्दों को ही स्पन्दशास्त्र में विशेष-स्पन्द कहा जाता है। इनसे नील एवं सुख रूप में प्रवाहमान अनन्त प्रकारों के विकल्प-प्रत्ययों का अभिप्राय है।

विवरण

पहले इस बात का उल्लेख किया गया है कि स्पन्द-तत्व के सामन्य-स्पन्द और विशेष-स्पन्द ये दो रूप हैं। इनको दूसरे शास्त्रीय शब्दों में क्रमशः प्रतिष्ठित-स्पन्द और अप्रतिष्ठित-स्पन्द कहते हैं। प्रतिष्ठित-स्पन्द समूचे विश्ववैचित्र्य की एकमात्र एवं मौलिक विराट्-चेतना होने के कारण, सारे नामरूपात्मक अनेकत्व की मूलभूत इकाई है। अप्रतिष्ठित—स्पन्द का रूप, मायातत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व तक फैला हुआ और पग पग पर अनेक भेदों और उपभेदों से भरा हुआ विश्वप्रपञ्च होने के कारण, यह (अप्रतिष्ठत-स्पन्द) उसी एकत्व से निकला हुआ अनेकत्व है। सूत्रकार ने, प्रस्तुत सूत्र में, इसी अनेकत्व को स्पन्द-निष्यन्द अर्थात् अनेक रूपों में प्रवाहमान स्पन्दधाराओं का नाम दिया है। सूत्रकार का आशय यह है कि इस जड़चेतनात्मक विश्व का प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह हमारी दृष्टि में घास के तिनके के समान कितना तुच्छ एवं नगण्य ही क्यों न हो, वास्तव में विराट् स्पन्द-शक्ति का ही एक प्रवाह है। इन विशेष-स्पन्दों की धाराओं की प्रवाहमानता तभी सम्भव हो सकती है जब कि पारमेश्वरी सामान्यस्पन्दशक्ति का अक्षय सागर इसका आधार है। शैवग्रन्थों में वर्णित, विशेषस्पन्दों की प्रवाहमानता की प्रक्रिया का संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है :—

भट्टकल्लट जैसे महान सिद्धों ने, अपने आध्यात्मिक अनुसन्धानों के आधार पर इस तथ्य को खोज निकाला है कि शाश्वत-स्पन्दमयी संवित् (स्पन्द-शक्ति) बाह्य-प्रसार की ओर उन्मुख होकर, सर्वप्रथम, प्राण अर्थात् सूक्ष्म [1]प्राणना या दूसरे शब्दों में विश्वचेतना के रूप में परिणत हो जाती है। संवित् प्रकाशरूपा होने के साथ साथ विमर्शमयी भी है। इस प्रकाश-विमर्शमय [2]संघट्ट को शास्त्रीय शब्दों में आनन्द-शक्ति कहते हैं। विश्ववैचित्र्य के अनन्त रूपों में स्पन्दित होना इस आनन्द-शक्ति का अकाट्य स्वभाव है। फलतः यह एक प्रसिद्ध शैवमान्यता है कि संवित् प्रतिसमय उच्छलनात्मक है। यह विशुद्ध प्रकाशरूपा संवित्, विशेष-स्पन्दों के रूप में प्रवाहमान होने की दशा में, इसी उच्छलनात्मक स्वभाव के कारण, स्वरूप में ही अवस्थित [3]वेद्यभोग को स्वरूप से अलग करके, स्वयं आकाशतुल्य [4]शून्यातिशून्य

---

१. तेनाहुः किल संवित् प्राक् प्राणे परिणता…… (तं०, ६. १२)

२. तयोर्यद्यामलं रूपं स संघट्ट इति स्मृतः।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते ॥ (त०, ३. ६८)

३. संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम्।
तन्मेयमात्मनः प्रोज्झ्य विविक्तं भासते नभः।
तदेव शून्यरूपत्वं संविदः परिगीयते ॥ (तं०, ६. ९–१०)

४. यही वह शून्यदशा है जिसको प्रसिद्ध शून्यवादी बौद्ध-आचार्य नागर्जुन सर्वोत्कृष्ट दशा मानते हैं।

रूप में अवस्थित रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि इस दशा में अवस्थित होकर, एक ओर अपने से ही अलग किये हुए वेद्यभाग का पूर्ण निषेध करके, उसको अपनाने के प्रति विमुख हो जाती है। दूसरी ओर उसका, इस प्रकार की निषेधात्मक विमुखता को अपनाना ही, असीमता को भूलकर ससीमता के क्षेत्र में पहला पदार्पण है। परिणामतः इतने अंश में इसकी पूर्णता भी खण्डित हो जाती है। इसके इसी रूप को शैवशब्दों में 'आकाशकल्प शून्यातिशून्य' कहते हैं क्योंकि यह रूप न तो पूर्ण ही है और न अपूर्ण ही। अस्तु, यह (संवित्) इस प्रकार की शून्यातिशून्य भूमिका पर उतर कर ही, स्वरूप से पृथक् किये हुए [1]वेद्य अंश को, उत्तरोत्तर स्थूल रूपों में विकसित करने के प्रति उन्मुख हो जाती है और, इस प्रक्रिया को कार्यान्वित करती हुई, सर्वप्रथम, उसी पूर्वोक्त विश्वप्राणना के रूप में उच्छलित हो जाती है। फलतः विश्वप्राणना के रूप को धारण करना ही, स्पन्दशक्ति का सर्वप्रथम बहिर्मुखीन निःष्यन्द है। इसको शास्त्रीय शब्दों में 'प्राण-स्पन्द' कहते हैं। विश्वप्राणना आगे आगे प्रवाहमान होती हुई, पांच स्थूल प्राणों का रूप धारण करती है। कहना [2]न होगा कि ये पांच प्राण, किसी भी प्रकार की पाञ्चभौतिक काया में प्रविष्ट होकर, उसको इस प्रकार से नचवाते रहते हैं कि जड़ होने पर भी वह एक पूर्ण चेतन-पिंड जैसा ही दिखाई देती है। प्राण-स्पन्द के अनन्तर फिर यह स्पन्दशक्ति किन किन रूपों में प्रवाहमान रहती है इसकी कोई गणना नहीं है। सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों; मनस्, बुद्धि और अहंकार इन तीन अन्तःकरणों; इनके द्वारा वेद्य सुखिता, दुखिता और मूढता इन तीन अन्तःकरण विषयों; पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, सारे घट-पट आदि वेद्यविषयों अर्थात् आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समूचे प्रमेय विश्व के अनन्त भावों के रूपों में, प्रतिसमय प्रवाहमान रहती है। प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित स्पन्द-निःष्यन्दों से इन्हीं विशेष स्पन्द-प्रवाहों का अभिप्राय है।

अनुभवी सिद्ध पुरुषों का कथन है कि इन विशेष-स्पन्दों का गोरखधन्धा पग पग पर इतनी उलझनों से भरा हुआ है कि संसार का सारा पशुवर्ग इसमें फंसकर दिग्भ्रम में पड़ा हुआ है। सही दिशा किस ओर है यह किसी को सूझता नहीं है।

इसके प्रतिकूल सुप्रबुद्ध-भूमिका पर पहुँचे हुए योगियों की बात ही निराली है। उनको, सद्-गुरुओं की कृपा से, तुर्यरूप शाक्तभूमिका का समावेश हुआ होता है। अतः उनको विशेष-स्पन्दों की अनेकाकारता में भी सामान्य-स्पन्दात्मक एकाकारता की ही अखण्ड अनुभूति प्रतिसमय होती रहती है। ऐसी परिस्थिति में, विशेष–

---

१. स एव स्वात्मा मेयेऽस्मिन् भेदिते स्वीक्रियोन्मुखः।
पतत्समुच्छलत्वेन प्राणस्पन्दोर्मिसंज्ञितः॥ (तं०, ६.११)

२. सा प्राणवृत्तिः प्राणाद्यै रूपैः पञ्चभिरात्मसात्।
देहं यत्कुरुते संवित् पूर्णस्तेनैष भासते॥ (तं०, ६.१४)

स्पन्दों के अनन्त रूपों में प्रवहमान शाङ्कर–[1]शक्तियाँ ही, उसको अन्तिम शिवधाम पर पहुँचाने में सहायिकायें बन जाती हैं ।। १६ ।।

[अज्ञानी और विशेष स्पन्द]

अगले सूत्र में यह बात समझाई जा रही है कि ये पूर्वोक्त विशेष-स्पन्द, प्रतिक्षण, अप्रबुद्ध पशुओं के अन्तस् में विद्यमान चिन्मात्रता पर आवरण डालने में व्यस्त रहते हैं :—

अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः ।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ॥ २० ॥

स्वल्पप्रबोधांस्तु स्वस्थितेः चिद्रूपायाः स्थगनं कृत्वा, ते गुणाः पातयन्ति दुरुत्तारे अस्मिन् विषमे संसारवर्त्मनि, यतस्तदात्मकमेव नित्यमात्मानं पश्यन्ति, न तु शुद्धबुद्धस्वरूपतया ॥ २० ॥

अनुवाद

सूत्र— (गुणादिरूपों में प्रवाहमान विशेष-स्पन्दों की यह एक अचूक विशेषता है कि) ये प्रतिसमय, स्वरूप की वास्तविक स्थिति (चिन्मात्रता) पर, आवरण डालने पर कटिबद्ध रहते हैं । फलतः ये [2]अप्रबुद्ध बुद्धिवाले पशुओं को, अत्यन्त कठिनाई से पार किये जाने के योग्य और अत्यन्त भयावह संसार के रास्ते पर लगाकर, दिग्भ्रम में डाल देते हैं ।। २० ।।

वृत्ति—ये गुण अर्थात् गुणादि रूपों में प्रवाहमान विशेष-स्पन्द, परिमित ज्ञान वाले पशुओं की वास्तविक चिद्रूपता पर आवरण डालकर, उनको अत्यन्त कठिनता से पार किये जाने के योग्य, संसार के ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर लगा कर पथभ्रष्ट कर देते हैं । इसका कारण यह है कि वे (अज्ञानी पशु), स्वरूप को प्रतिसमय उन गुणादि विशेष-स्पन्दों के रूप में ही देखते रहते हैं । वे, उसको (स्वरूप को) शुद्ध अर्थात् गुणत्रय से जनित सुखिता, दुःखिता और मूढ़ता की उपाधियों की कलुषता से रहित और बुद्ध अर्थात् अपरिमित बोध के रूप में अनुभव नहीं कर सकते हैं ।। २० ।।

विवरण

शैवदर्शन का यह सिद्धान्त है कि बहिर्मुख होकर, विशेष रूप में प्रवाहमान शक्ति की मुख्य विशेषता यही है कि वह प्रतिक्षण स्वरूप के ऊपर आवरण डालने पर उद्यत रहती है । इसका अभिप्राय यह है कि बहिर्मुख प्रवाहमानता में शक्ति,

---

१. द्रष्टव्य; मा० वि०, ३.३३.

२. ऐसे प्रमाता जिनकी बुद्धि पर से अभी अज्ञान की काई हटी न हो ।

एक ओर पञ्चकञ्चुक, स्थूलदेह इत्यादि आवरणों के रूपों को धारण करके जीवात्मा के चारों ओर इस प्रकार चिमट जाती है कि वह स्वत्त्वाधिकारिता को भूलकर, इन्हीं अनात्मभूत और जड़ पदार्थों पर आत्माभिमान करता रहता है और दूसरी ओर गुणत्रय से उद्भूत सुखिता, दुःखिता और मूढ़ता, इन तीन रागात्मक भावनाओं के रूप को धारण करके, उसको (जीव को), मूलतः निर्गुण, निष्कल और निरञ्जन होने पर भी, इन पर ममत्व अभिमान रखने पर विवश बना लेती है। इन्हीं भावनाओं से उद्भूत अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप, संसार का पशुवर्ग, प्रतिसमय, सांसारिक भोगलिप्साओं को, कामिनी और कंचन इत्यादि विषयों के उपभोग के द्वारा, शान्त करने पर दिन-रात लगा रहता है। जितना जितना वह (पशुवर्ग) इस भोगलिप्सा की अनबुझ पिपासा को, विषयोपभोग के द्वारा, शान्त करना चाहता है उतनी उतनी इसकी चक्रवृद्धि हो और परिणामतः युग युगों तक, उसके लिए वासनात्मक चक्रवात से निकलने की सम्भावना नहीं रहती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अज्ञानी पुरुषों के लिए, शाङ्कर-शक्ति का रूप, विषवेग से फुफकारती हुई महाभयंकर नागिन के समान [1]घोरतर होता है और वे इसके विषैले दंश से वास्तविक सुध-बुध को खोकर, निर्विवेकता की नींद में पड़े हुये रहते हैं। उनका वितण्डापूर्ण बुद्धिवाद जितने अतिस्वनिक वेग से आगे बढ़ता रहता है उतने ही वेग से हृदयपक्ष पिछड़ता रहता है। शुष्क बुद्धिवाद, रागात्मक वासनाओं को जन्म देता है और सरस हृदयपक्ष के अभाव में स्वरूप का स्थगित होना स्वाभाविक है।

पशुजनों में पाई जाने वाली इस दशा को यदि स्वशक्तिविरोध की दशा कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। शैवशास्त्रों में भी इस दशा को शक्तिदारिद्रय की संज्ञा देकर प्रस्तुत किया गया है। शक्तिदरिद्रता से ज्ञान क्रियात्मक स्पन्दना का अभाव नहीं, प्रत्युत पशुभाव के स्तर पर उसके स्वतन्त्रप्रसार में विशेष प्रकार के संकोच का अभिप्राय लिया जाता है। पशुभाव तब तक सम्पन्न नहीं हो सकता है जब तक असीम स्वातन्त्र्य ससीम पराधीनता न बन जाये।

सर्वस्वतन्त्र शिव, स्वशक्ति विरोध से ही अस्वतन्त्र पशु बन कर अशुद्धाध्व का राही बन गया है। शैवशास्त्रों में, तत्त्वक्रम की दृष्टि से, चिन्मात्ररूप आत्म-तत्त्व की अवरोह-प्रक्रिया की वैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत की गई है। प्रस्तुत विषय के साथ सम्बन्धित होने के कारण यहाँ पर संक्षेप में उसका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है :—

---

१. विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून्।
रुद्राणून्याः समालिङ्ग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः ॥ (मा० वि०, ३. ३१)

अशुद्धाध्व अर्थात् मायातत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व तक के शाक्त अवरोहक्रम में, सतत स्पन्दनामयी और सर्व स्वतन्त्र चित्–शक्ति जड मायातत्त्व का रूप धारण कर लेती है। यह तत्त्वरूपा [1]माया पशु को, जोकि वास्तव में शिव का ही अंश है, मौलिक चिन्मात्ररूप शिवभाव से अलग करके, पहले निःसंज्ञ जैसा बना लेती है। निःसंज्ञ होने का यह अर्थ नही है कि जीव शिव से अलग होने की दशा में पूर्णतया चेतनाहीन हो जाता है, अपितु इसका यह अभिप्राय है वह सशक्त एवं दुर्भेद्य मायीय आवरण के द्वारा आवृत होने के कारण, पूर्णचेतना को खोकर, अंशत, चेतना से युक्त रह जाता है और उसकी ऐसी दशा हो जाती है कि मानो गहरी नींद में पडा हुआ हो। निःसंज्ञ जैसा बन जाने की दशा में उसके निरंकुश ज्ञान–क्रिया के प्रसाद में बाधा पड जाना भी स्वाभाविक ही है। पहले भी इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि पूर्ण शिवभाव के स्तर पर, शक्ति के चित्, निर्वृति, इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये पांच मुख हैं और इसकी व्यापकता और प्रसार में कहीं कोई देशकालादि से जनित बाधा या सीमा नही है। इसके प्रतिकूल जहाँ एक ओर माया, अपने प्रभाव से पूर्ण-चेतन शिव को अंशतः चेतन पशु बनाकर संकुचित बना लेती है, वहाँ इन उपर्युक्त पाँच असीम शक्तियों को भी ससीम बना कर क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियति इन पाँच तत्त्वों के रूप में अवभासित कर लेती है। माया का आवरणात्मक प्रभाव, सर्वव्यापी होने के कारण, किसी भी पक्ष को अछूता नहीं रहने देता है क्योंकि उसी दशा में संसारभाव की चरितार्थता सिद्ध हो सकती है। प्राकृतिक प्रतिविधान के अनुकूल यही बात है कि अंशतः स्वतन्त्र पशु की शक्तियाँ भी अंशतः ही स्वतन्त्र अर्थात् दरिद्र होनी चाहिये। अस्तु, माया-तत्त्व सबसे पहले कलातत्त्व को जन्म देता है। यह [2]कलातत्त्व, मायीय प्रभाव से निःसंज्ञ जैसे बने हुए अणु में, संकुचित कर्तृतारूप चेतना का संचार करता है और उससे वह, जीवभाव के अनुकूल अत्यन्त सीमित रूप में, केवल सांसारिक आदान-प्रदान करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इसको पारिभाषिक शब्दों में किञ्चित्कर्तृत्व कहते हैं। इसके अनन्तर विद्यातत्त्व का आविर्भाव हो जाता है। [3]यह तत्त्व इसको (अणु को), बुद्धिदर्पण में प्रतिबिम्बित सुख-दुःख आदि प्रत्ययों अथवा हान-आदान इत्यादिरूप कर्मजाल की विवेचना करने का, सीमित सामर्थ्य

---

१. माया हि चिन्मयाद्भेदं शिवाद्बिदधती पशोः।
सुषुप्ततामिवाधत्ते तत एव ह्यदृक्क्रियः॥ (तं०, ६.२७५)

२. असूत सा कलातत्त्वं यद्योगादभवत्पुमान्।
जातकर्तृत्वसामर्थ्यो ··· ··· ··· ··· ···॥
(मा० वि०, १. २७)

३. विद्या विवेचयत्यस्य कर्म तत्कार्यकारणे। (मा० वि०, १. २८)

प्रदान करता है। इसको शैवशब्दों में किञ्चित्-ज्ञत्व कहते हैं। [1]शैवदार्शनिकों का विचार यह है कि बुद्धि स्वतः जड होने के कारण स्वयं सुख-दुःख आदि प्रत्ययों का विवेचन नहीं कर सकती है। फलतः यह विद्यातत्त्व ही है जिसके द्वारा, प्रत्येक जीव इन्द्रियों की सरणियों से बुद्धिदर्पण में प्रतिबिम्बित सुख-दुःख आदि विषयों की पारस्परिक भिन्नता का विश्लेषण कर सकता है। विद्या के अनन्तर [2]राग-तत्त्व-उद्भूत होकर, इसमें (पशु में) अपूर्णम्मन्यतारूप आसक्ति उत्पन्न कर देता है। पशु में आसक्ति के द्वारा ही, संसार के भोगों को भोगने के प्रति लगाव उत्पन्न हो जाता है। प्रत्येक जीव उन्हीं भोगों को भोगने की ओर आकृष्ट हो जाता है जो कि उसकी दृष्टि में, उसके लिये रुचिकर हों, चाहे अन्यथारूप में, वे कितने ही भद्दे और घिनौने ही क्यों न हों। राग-तत्त्व के सम्बन्ध में शैवशास्त्रियों ने यह विवेचन प्रस्तुत किया है कि संसार के सारे आदान-प्रदान, चाहे वे अविरोधी हों या विरोधी हों, रागमूलक ही हैं। यदि किसी को किसी के साथ [3]द्वेष है तो वह इस कारण से है कि उसको अपने आप के लिए इष्टप्राप्ति के प्रति राग है। यदि किसी के मन में संसार के पदार्थों के प्रति [4]विरक्ति उत्पन्न हुई है वह इसलिए नहीं कि वह इनको हेय समझता है अपितु इसलिये कि उसको इनके जञ्जाल से छुटकारा पाने के प्रति आसक्ति है। फलतः संसार का समूचा आडम्बर केवल रागमूलक है। यह राग स्वतः प्रत्येक जीव में किसी न किसी प्रकार की अपूर्णता का द्योतक है। [5]अपूर्णता की भावना ही प्रत्येक प्राणी को, उसकी दृष्टि में हेय या उपादेय कर्मों में से कइयों की ओर प्रवृत्त और कइयों से निवृत्त होने पर विवश करके, सामान्यतः—'मुझे कुछ चाहिये'—इस प्रकार की भावनारूप मृगतृष्णा से लिप्त बना देती है। राग-तत्त्व को पारिभाषिक शब्दों में 'अतृप्ति' भी कहते हैं।

अस्तु, उपर्युक्त रागतत्त्व के द्वारा कर्तव्यों की हेयोपादेयता के निश्चय के साथ ही, काल–तत्त्व [6]उद्भूत होकर, इस पशु को त्रुटि, क्षण, इत्यादिरूप कालभेद की परिधियों में फंसा लेता है। जीव, काल की तथाकथित परिधियों के संकोच में

---

१. बुद्धि के विषय में शैवों और सांख्यों के दृष्टिकोण की भिन्नता समझने के लिये द्रष्टव्य तं०: ६, १९१. ६८.

२. रागोऽपि रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि। (मा० वि०, १. २८)

३. एवं द्वेषोऽप्यस्यैव प्रसरः, तत्रापि अनिष्टप्रहानादाभिष्वङ्गस्यैव संभवात्॥ (तं० वि, ६. २०१)

४. विरक्तावपि तृप्तस्य सूक्ष्मरागव्यवस्थितेः। (तं०, ६. २०१)

५. तस्माद्यत्र क्वचनोपादेये हेये वा—'किञ्चिन्मे भूयात्' इति सामान्येनाभिष्वङ्गमात्रं रागतत्वम्'। (तं० वि, ६. २०१)

६. कालोऽपि कलयत्येनं तुल्यादिभिरवस्थितः॥ (मा० वि, १. २९)

पड़ने के कारण ही, संसार के प्रत्येक कार्यकलाप के लिये निश्चित क्षणों या प्रहरों की कल्पनाओं में व्यस्त रहता है। उसकी प्रत्येक रतिकर्तव्यता पर—'इस समय केवल घट बनाना ही ठीक रहेगा, पट बनाने का सुयोग्य अवसर कल ही है; श्री गीता का पाठ करने के लिये प्रातःकाल का समय ही उपयुक्त है, मध्याह्न में ऐसा करने में अनिष्टापत्ति का भय है'—इस प्रकार की कालकलनाओं का रंग चढ़ा रहता है। यही कारण है कि कालतत्त्व को दूसरे शब्दों में 'अनित्यता' भी कहते हैं। पांचवाँ [१]नियतितत्त्व पशु के वैचारिक क्षेत्र को, निश्चित [२]कारणों से ही निश्चित कार्यों की उत्पत्ति, मानने के नियमों में सीमित कर देता है। 'किसी [३]विशिष्ट कारण से कोई विशिष्ट कार्य होगा या अमुक विशिष्ट कार्य का अमुक विशिष्ट कारण था'—इस प्रकार के संकोचों में पड़ा हुआ जीव, प्रतिसमय, विशिष्ट कार्यों और कारणों को जन्मभर ढूँढ़ता हुआ ही काल-कवलित हो जाता है। जन्मभर स्वार्थ को ही सर्वोपरि मान्यता देकर, [४]नियत कारणों से नियत अर्थक्रिया की सिद्धि चाहता हुआ पशु, नियत वस्तुओं का ही उपादान करता रहता है और इतरों को छोड़ता रहता है। ऐसी भावनायें उसकी अव्यापकता को सूचित कर देती हैं। यही कारण है कि नियति को दूसरे शब्दों में 'अव्यापकता' भी कहते हैं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तालिका को ध्यान में रखें।

स्वातन्त्र्यशक्ति		**मायातत्त्व**	
संकोचहीन शिव की अभिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति के पांच मुख		संकुचित पशुभाव को जन्म देने वाली भेदपूर्ण माया के पांच मुख	
चित्	सर्वज्ञता	विद्या	अल्पज्ञता
निर्वृति	सर्वकर्तृता	कला[५]	अल्पकर्तृता
इच्छा	पूर्णता	राग	अपूर्णता
ज्ञान	नित्यता	काल	अनित्यता
क्रिया	व्यापकता	नियति	अव्यापकता

१. नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम्। (मा० वि०, १. २९)
२. नियतिर्हि—'अस्मादेव कारणादिदमेव कार्यं भवेत्' इति नियममादध्यात्। (तं० वि०, ९. २०२)
३. नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले। (तं०, ९. २०२)
४. नियतामर्थक्रियामर्थयता नियतमेव वस्तु उपादातव्यम्। (तं० वि०, ९. २०२)
५. तालिका में कला को विद्या के पश्चात् लिखा गया है इससे पाठकों को किसी सैद्धान्तिक मतभेद की कल्पना नहीं करनी चाहिये। हो सके तो अधिक स्पष्टीकरण के लिए 'तन्त्रालोक' नवम आह्निक का अध्ययन करें।

मायातत्त्व और उसके विकासरूप उपरिलिखित पांच तत्त्वों को मिला कर शैव शब्दों में, षट्-कञ्चुक कहते हैं। यह मौलिक अंतरंग [1]आवरण है क्योंकि यह पूर्णसंवित् को आच्छादित करके, उसके साथ ऐसा चिपका रहता है कि चावल के दाने के साथ चिपके हुये ऊपरी छिलके की तरह [2]व्यतिरिक्त होने पर भी अव्यतिरिक्त जैसा लगता है। इसके प्रतिकूल देह, प्राण, पुर्यष्टक, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ इत्यादिकों को बहिरङ्ग आवरण कहा जाता है। इन [3]वेद्यभूत आवरणों के द्वारा आच्छादित ज्ञान-क्रियारूप संवेदन अर्थात् चेतन-प्रमाता, मूलतः वेदक होने पर भी, स्वरूप संकोच की दशा में (शक्तिदरिद्रता की दशा में) पड़ जाने के कारण अणु अर्थात् संसारी जीव बना हुआ है और इसको शास्त्रीय शब्दों में 'पुरुष-तत्त्व' कहा जाता है।

इस प्रकार के विश्लेषण से प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित सिद्धान्त सरलता से समझ में आ सकता है कि बहिर्मुखीन संसारभाव की ओर अजस्ररूप में प्रवहमान, गुणादि-स्पन्दों के निष्यन्द अथवा दूसरे शब्दों में अपनी ही शक्तियों की दरिद्रता, संसार के अपरिपक्व बुद्धिवाले व्यक्तियों को, अपनी वास्तविक स्थिति की अनुभूति प्राप्त करने में बाधा उपस्थित कर देती है।

उपरिलिखित रागतत्त्व के विषय में और अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये जिज्ञासु पाठकों को निम्नलिखित बातें भी ध्यान में रखने का प्रयत्न करना चाहिये। यद्यपि ये बातें कुछ मात्रा तक अप्राकरणिक भी सिद्ध हो सकती हैं परन्तु आत्म-अन्वेषण के मार्ग में प्राकरणिकता या अप्राकरणिकता की सीमाओं का वशवर्ती बनना भी ठीक नहीं है।

शैवदार्शनिकों का विचार है कि पूर्वोक्त आणवमल ही राग का मूल उद्गमस्थान है। संवित्-भट्टारिका में भी, विश्वरूप में उच्छलित होने का आन्तर-अभिलाष वर्तमान है। यह बात अलग है कि उस अवर्ण्य स्तर पर वर्तमान अभिलाषा को क्षुद्र पशुओं में वर्तमान क्षुद्र अभिलाषा की संज्ञा नही दी जा सकती है परन्तु अभिलाषा तो अभिलाषा ही है क्योंकि उसी ने सर्वस्वतन्त्र संवित् को पृथिवीतत्त्व तक की निकृष्ट कोटि पर अवरूढ़ होने के लिये विवश किया है।

---

१. मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम्। (प० सा० १७)

२. तथा एतत् मायादिकञ्चुकम् अणोः तण्डुलस्थानीयस्य अन्तरङ्गत्वात् कम्बुकस्थानीयं व्यतिरिक्तमपि, अव्यतिरिक्ततया पूर्णसंवित्स्वरूपम् आच्छाद्य स्थितम्। (प० सा० वि० १८)

३. देहपुर्यष्टकाद्येषु वेद्येषु किल वेदनम्।
एतत्षट्कससंकोचं यदवेद्यमसावणुः ॥ (तं० ९.२०५)

संसार-भाव के स्तर पर अवस्थित पशुओं में भी यही आणवमल पहले सूक्ष्माति-सूक्ष्म [1]लोलिका के रूप प्रकट हो जाता है। शैवग्रन्थों में 'लोलिका' अभिलाषा के उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप को कहते हैं जिसमें अभिलषणीय विषय की स्पष्टता तो नही होती है परन्तु मन में अपूर्णता की अनुभूति से जन्य सिहरन जैसी होती है। यह एक प्रकार की निष्कर्म अभिलाषा है और पशु के मन में—'मुझे कुछ चाहिये' इस प्रकार की जैसी अस्पष्ट आकांक्षा की अनुभूति को जन्म देती है। यह लोलिका ही परिपुष्ट होकर और, चतुर्दिक क्षोभ में पडकर, कर्मसहित स्थूल अभिलाषा का रूप धारण कर लेती है और, इस रूप में इसको बुद्धि का धर्म बना हुआ 'राग-तत्त्व' कहते हैं ॥ २० ॥

[निरन्तर प्रयत्न की अनिवार्यता]

परमकारुणिक गुरु अगले सूत्र में यह परामर्श देते हैं कि आत्मा का उद्धार चाहने वाले व्यक्तियों को अपने आप ही स्पन्दशक्ति की अनुभूति प्राप्त करने के लिये लगातार प्रयत्नशील बनना चाहिये। निरन्तर उद्योग करने से इच्छापूर्ति होने में अधिक समय नही लगता है :—

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये ।
जाग्रदेव निजं भावं न चिरेणाधिगच्छति ॥ २१ ॥

अतः सततं सर्वकालं यः करोत्युद्योगं स्पन्दतत्त्वस्य स्वरूपाभिव्यक्त्यर्थं, स जाग्रदवस्थायामेव निजमात्मीयं तुर्यभोगाख्यं स्वभावम् अचिरेणैव कालेन प्राप्नोति ॥ २१ ॥

अनुवाद

सूत्र— इस पूर्वोक्त कारण को दृष्टिपथ में रखकर, जो कोई (प्रबुद्ध भूमिका पर अवस्थित योगी), अपने आप में स्पन्द-तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिये, प्रतिसमय अथक प्रयत्न करता रहता है, उसको जाग्रत्-अवस्था में ही अपने चिन्मात्र भाव की उपलब्धि, अति अल्प समय में हो जाती है ॥ २१ ॥

वृत्ति— अतः जो कोई (प्रबुद्ध योगी) अपने में, स्पन्दतत्त्व के स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करने के लिये, प्रतिसमय उद्योग करता रहता है, वह जाग्रत-अवस्था में ही, अपने भाव अर्थात् तुर्यचमत्कारमय स्पन्द तत्त्व की अनुभूति, अति अल्प समय में प्राप्त कर लेता है ॥ २१ ॥

---

१. अणूनां लोलिका नाम निष्कर्मा याभिलाषिता ।
अपूर्णमन्यताज्ञानं मलं सावच्छिदोज्झिता ॥ (तं०, ९.६२)

विवरण

प्रस्तुत सूत्र में उन व्यक्तियों को प्रतिसमय प्रयत्नशील रहने का उपदेश दिया गया है जो स्पन्दात्मक परसंवित्-धाम में प्रवेश पाने के इच्छुक हों। इस सम्बन्ध में मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि प्रयत्न किस बात का करना है? भगवान चन्द्रमौलि ने—'प्रयत्नः साधकः' (शिवसूत्र, २.२) इस सूत्र में, दो ही शब्दों में, शङ्कानिवारण किया है। शास्त्रकारों ने बहुत विस्तार से भगवान के इस सूत्र में अन्तर्निहित अभिप्राय का विश्लेषण किया है। संक्षेप में उसका अभिप्राय इस प्रकार है:—

बहिर्मुखीन विश्वप्रसार की ओर लगातार गुणादि रूपों में प्रवाहमान स्पन्द-प्रवाहों का रूप चित्त है। पाञ्चभौतिक काया में रहते रहते केवल [1]चित्त के द्वारा ही परतत्त्व का अनुसन्धान किया जाता है। अतः मननधर्मा होने के कारण वास्तव में चित्त को ही मन्त्र की संज्ञा दी गई है। त्रिगुणमय होने के कारण चित्त में प्रति-समय संकल्प-विकल्प उठते और बैठते ही रहते हैं। इसी संकल्प-विकल्पात्मक चित्त को धीरे धीरे आन्तरिक अनुसन्धान अर्थात् सद्विमर्श के बल से सामान्य-स्पन्दरूप पर प्रतिभा अर्थात् विकल्पहीन परसंवित्-धाम में निलीन करने के अकृत्रिम प्रयास को पारिभाषिक शब्दों में 'प्रयत्न' कहते हैं। भगवान के सूत्र में ऐसे ही प्रयत्न को करते रहने का आदेश दिया गया है क्योंकि यही अन्ततोगत्वा, योगी के हृदय में शाक्तस्वरूप की अभिव्यक्ति कर देता है। सहज प्रयत्न के द्वारा पूर्ण अहंरूप आत्म अनुभूति प्राप्त करने को ही शास्त्रीय शब्दों में मन्त्रवीर्य की अनुभूति प्राप्त करना कहते हैं क्योंकि पूर्ण-अहंभाव की अनुभूति ही सर्वोत्कृष्ट वीर्य है।

आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये अपेक्षित प्रयत्न या उद्योग का स्वरूप समझने के साथ ही, मन में, ऐसे प्रयत्न को क्रियान्वित करने की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा का उत्पन्न होना भी स्वाभाविक ही है। शास्त्रकारों ने शाक्तभूमिका की अनुभूति प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है परन्तु भगवान अभिनवगुप्त ने इस विषय में, 'विकल्प-संस्कार'[2] की प्रक्रिया को ही सर्वप्रथम मान्यता प्रदान की है।

आत्मिक-उन्नति के मार्ग में 'विकल्प-संस्कार' अर्थात् अपनी भावनाओं का परिष्कार करना ही प्रयत्न की मुख्य प्रक्रिया है और, कम से कम, आधुनिक युग

१. 'चित्तं मन्त्रः', चेत्यते विमृश्यते अनेन परम् तत्वम् इति चित्तम्……तदेव मन्त्र्यते गुप्तम् अन्तरभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन इति कृत्वा मन्त्रः ॥

(शिवसूत्र वि०, २.१)

२. ……………स्वभावे पारमेश्वरे।

प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा ॥ (तं०, ४,३)

की शतशः उलझनों से भरे हुये व्यस्त जीवन में इसी का कार्यान्वयन भी संभव हो सकता है। आध्यात्मिक पक्ष में ही नही, अपितु साधारण जीवनपक्ष में भी इस प्रक्रिया को अपनाने से प्रत्येक मानव का और उसके द्वारा सारे जगत् का श्रेय हो सकता है। विकल्पों का संस्कार किस प्रकार हो सकता है–इस विषय में गुरुओं का कथन है कि बार बार कामिनी-कंचनरूप प्रतिकूल दिशा में प्रवाहमान विकल्पों की परम्परा का मार्ग बदलकर, बलपूर्वक, स्वरूप-चिन्तन की अनुकूल दिशा में लगाने से स्वयं ही विकल्पों का संस्कार हो जाता है। पहले इस बात का उल्लेख हो चुका है कि गुणादि-स्पन्दों के निःष्यन्द प्रतिक्षण आत्मा के वास्तविक रूप पर आवरण डालते रहते हैं। यही कारण है कि मानसिक विकल्प प्रतिक्षण मायीय एवं निहित स्वार्थों की पूर्ति करने पर ही कटिबद्ध रहते हैं। बुरे विकल्पों के संस्कार और भी शतगुणा बुरे ही विकल्पों की परम्पराओं को जन्म देते हैं। फलतः सांसारिक विषयोपभोगों की शृंखलायें इस प्रकार उलझ जाती है कि जन्म-जन्मान्तरों तक चित्त की स्थिरता प्राप्त करता स्वप्न बन जाता है। अतः प्रबुद्ध व्यक्तियों को खाते, पीते, सोते, जागते अर्थात् जीवन का प्रत्येक कार्य-कलाप करते करते ही इद्रियों की सरणियों से बाहरी हेय-विषयों की ओर दौड़ने वाली विकल्प-परम्पराओं को, अलंग्रास की युक्ति से ग्रस्त करके अथात् सत्-विमर्श क बल से बाह्य-विषयों से निवृत्त करके, हृदय में अर्थात् चित्प्रकाशमय संवित्-धाम में, एकाग्रभाव से लगाने का निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये। ऐसा करने से मन में संस्कृत (परिष्कृत) विकल्प ही उठने लगते हैं संस्कृत विकल्पों के संस्कार शतगुणा संस्कृत विकल्पों को ही [1]जन्म देते रहते हैं और असत् विकल्प स्वयं ही क्षीण होते रहते हैं।

सावधान रहकर लगातार अभ्यास करते रहने से विकल्प संस्कृत होकर संस्कार की पूर्ण परिणति की अवस्था पर पहुँच जाते हैं। पूर्ण-संस्कृत विकल्प का शास्त्रीय नाम 'स्फुटतम विकल्प' है। पूर्णसंस्कार की अवस्था में पहुँचने से पहले विकल्प को [2]'अस्फुट स्फुटता के उन्मुख, स्फुट होता हुआ और पूर्णप्रस्फुटित' इन चार अवस्थाओं में से गुजरना पडता है। अन्तिम अवस्था पूर्णविकास की अवस्था है। यहाँ तक पहुँचते पहुँचते असत्-विकल्पों के संस्कार भी नष्ट हुये होते हैं। फलतः संवित् स्वयं ही [3]निर्मल पारमार्थिक विकल्प के रूप में निखर उठती है। संस्कृत विकल्पों के

१. विकल्पः संस्कृतः सूते विकल्पं स्वात्मसंस्कृतम्।
स्वतुल्यं सोऽपि सोऽप्यन्यं सोऽप्यन्यं सदृशात्मकम्॥ (तं०, ३.३)

२. चतुःष्वेव विकल्पेषु यः संस्कारः क्रमादसौ।
अस्फुटः स्फुटताभावी प्रस्फुटत् स्फुटितात्मकः॥ (तदेव, ३.४)

३. ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम्॥ (तदेव, ३.६)

संस्कारों क द्वारा आगे आगे जो दूसरे संस्कृत विकल्प उद्‍भूत होते रहते हैं वे शुद्ध-विद्या के ही [1]अंश होते हैं। दूसरे शब्दों में इनको सद्-ज्ञान या सत्-तर्क[2] के विकल्प भी कहते हैं। सत्-तर्क ही तो योग का उत्तम अंग माना गया है क्योंकि इसके द्वारा शनैः शनैः, चित पर जमी हुई तामसिक या राजसिक काई हट जाती है और, विकल्प का वह अनुपम रूप विकसित हो जाता है जोकि संसारिता का कारण बने हुये असत्-तर्क का सशक्त [3]प्रतिद्वन्दी बनकर, उसको मटियामेट कर देता है।

यद्यपि संस्कार की प्रक्रिया के द्वारा संस्कृत हो जाने पर, विकल्प का पारमार्थिक रूप उदित हो जाता है तथापि इतने से ही उपर्युक्त प्रयत्न की इतिश्री नही हो जाती है। विकल्प अन्ततः विकल्प ही है चाहे वह सत्-विकल्प (पारमार्थिक विकल्प) हो या असत्-विकल्प (सांसारिक विकल्प) हो। जब तक मन में किसी भी प्रकार का विकल्प विद्यमान हो तब तक विशुद्ध चिन्मात्ररूप शिवभाव की अखण्ड अनुभूति प्राप्त होना या स्वशक्तिविरोध के भूत से पिंड छूटना दुर्लभ ही है। अतः सिद्ध गुरुओं ने श्रेयस्काम शिष्यों को बार बार सचेत किया है कि मन में पारमार्थिक विकल्पों का उदय हो जाने पर भी विवेकी व्यक्तियों को [4]इतराना नही चाहिये अपितु संस्कार-प्रक्रिया के द्वारा उनका भी तब तक संस्कार करते रहना चाहिये जब तक विशेषस्पन्द रूप चित्त, सामान्य स्पन्दरूप अभेद-भूमिका में पूर्णतया विश्रान्त होकर, विकल्पहीन संवित्-स्वभाव में ही निलीन न हो जाये।

ऐसे ही निर्मल [5]चित्त के साथ शाक्त उपाय के आधारभूत मन्त्रगण का विमर्शात्मक तादात्म्य हो जाने पर, चित, मंत्र और मंत्र के देवता तीनों एकाकार बन जाते हैं। अतः योगी के निर्मल चित्त को ही मन्त्र की संज्ञा दी गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसी स्थिति में सारे वर्णात्मक मन्त्र भी निर्विकल्प अहंरूप में ही विश्रान्त हो जाते हैं और तब जाकर उनमें स्पन्दात्मक [6]शाक्त बल का संचार हो

१. इत्थं विचित्रैः शुद्धविद्यांशरूपैः विकल्पैः............। (तं० मा०, पृष्ठ २७)

२. न च अत्र सत्तर्कात् शुद्धविद्याप्रकाशरूपात् ऋते अन्यत् योगाङ्गं साक्षात् उपायः ॥ (तदेव, पृष्ठ २३)

३. अतः प्रतिद्वन्दिरूपो विकल्प उदितः संसारहेतुं विकल्पं दलयति इति अभ्युदयहेतुः ॥ (तं० सा०, पृष्ठ २१)

४. परमार्थविकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डितः।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाप्यथवाशुभे ॥ (तं०, ४. ६ में उदाहृत)

५. अथ च मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मन्त्रः ॥
(शिवसूत्र वि०, २. १)

६. मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिराख्या।
तया हीना वरारोहे ! निष्फलाः शरदभ्रवत् ॥
(तं० स०, शिवसूत्र, २. १ में उदाहृत)

जाता है। यदि मन्त्र एवं चित्त की अहंरूप एकाकारता न हो जाये तो चाहे कितने ही मन्त्रों का उच्चारण क्यों न किया जाये वह केवल वर्णमात्र का उच्चारण होगा और उससे कोई भी अभीष्ट सिद्ध नही होगा। आगे सूत्राङ्क २६ के विवरण में इस विषय पर सविस्तार चर्चा होगी।

प्रस्तुत संदर्भ में अभी यह शङ्का विद्यमान है कि इस पूर्वोक्त विकल्पसंस्कार की दिशा में आगे बढ़ने की क्षमता कैसे प्राप्त हो सकती है? इस विषय में भी भगवान आशुतोष ने स्वयं यह आदेश दिया है–'गुरुरुपायः' (शिवसूत्र; २. ६), अर्थात् ऐसी क्षमता तो केवल सद्गुरु की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। सद्गुरु के उपदेशमात्र से ही शिष्य के मन में विद्यमान कुंठायें दूर हो जाती हैं और वह अभ्यासक्रम का रहस्य अवगत करने में समर्थ हो जाता है। श्री गीता में भगवान ने स्वयं उद्घोषणा की है:

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥'
'अथ्यावेशयितुं चित्तं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय!॥'

[जाग्रत में स्पन्दतत्त्व की अनुभूति]

सतत प्रयत्नशील प्रबुद्ध व्यक्तियों को, सत्-गुरु, जाग्रत् अवस्था में भी कई निश्चित अवसरों पर स्पन्दशक्ति की अनुभूति करवा लेते हैं। तदनन्तर वे स्वयं बार बार उस अनुभूति को ग्रहण करने का भगीरथ प्रयत्न करके, अन्ततोगत्वा उस पर स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं। अगले सूत्र में जाग्रत्-अवस्था के उन्ही निश्चित अवसरों का वर्णन किया जा रहा है। विवेकी व्यक्तियों को उन अवसरों पर सावधान रहने से, सहज ही में, स्पन्दतत्त्व की उपलब्धि होती है:—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्।
धावन् वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥ २२॥

तस्य च स्पन्दतत्त्वस्य अतिक्रुद्धे **प्रहृष्टे** धावमाने **च** किं करोमि, इत्येवं **चिन्ताविष्टे यदा** शक्तिप्रत्यस्तमयः, तदा स्पन्दतत्त्वस्य स्फुट एवोदयो गुरूपदेशात् अधिगन्तव्यः॥ २२॥

अनुवाद

सूत्र—सहसा क्रोध की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ अथवा हर्ष की पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ अथवा (किसी अतर्कित कारण से)—'मैं क्या करूँ?' इस प्रकार की किंकर्तव्यविमूढता की अवस्था में पड़ा हुआ अथवा अकस्मात् दौड़ पड़ने के लिए विवश बना हुआ व्यक्ति, जिस अवस्था में प्रविष्ट हो जाता है, उसी में प्रतिष्ठा स्पन्दतत्त्व की उपलब्धि हो जाती है॥ २२॥

वृत्ति—अत्यन्त क्रोधी होने, हर्ष में पड़ने, अकस्मात् दौड़ पड़ने और (किसी समय अकस्मात्)—'मैं क्या करूँ ?' इस प्रकार की चिन्ता में पड़ जाने पर, जब किसी व्यक्ति के अन्तस् में शक्तिप्रत्यस्तमित दशा का उदय हो जाता हैं, तब (उस क्षणिक अवधान में) स्पन्द-तत्त्व का स्पष्ट-रूप में उदय हो जाता है। उसकी अनुभूति गुरु के उपदेश से प्राप्त कर लेनी चाहिये ।। २२ ।।

विवरण

प्रस्तुत सूत्र में अन्तर्निहित ध्वनि को अच्छी प्रकार हृदयङ्गम करने के लिये, सूत्र की वृत्ति में प्रयुक्त 'शक्तिप्रत्यस्तमितदशा' शब्द का तात्पर्य समझना अत्यावश्यक है। जीवभाव के साथ सम्बन्ध रखने वाले दैनिक आदा-प्रदान में, कभी कभी ऐसे भी क्षण आते हैं उस मनोभावों के रूप में बाहर की ओर प्रवहमान विशेष स्पन्दों के प्रवाहों में, सहसा किसी अतर्कित कारण से, पलभर के लिए गतिनिरोध की अवस्था उभर आती है। विशेष रूप में प्रवहमान शक्ति की इस गतिनिरोधात्मक अवस्था को 'शक्तिप्रत्यस्तमितदशा', 'वृत्तिक्षयदशा', 'निस्तिमितबुद्धिदशा' इत्यादि शास्त्रीय शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाता है। इस सम्बन्ध में यह बात विशेषरूप में स्मरणीय है कि शक्तिप्रत्यस्तमित दशा के क्षणों पर शक्ति की प्रवहमानता कदापि रुकती तो नहीं है अपितु होता यह है कि इसकी बहिर्मुखीन प्रवहमानता सहसा दिशा बदलकर क्षणभर के लिए अन्तर्मुखीन हो जाती है और इतने ही, स्थूल बुद्धि के द्वारा अग्राह्य, कालखण्ड में विद्युत् की तरह अत्यन्त तीव्र गति से, मौलिक सामान्यरूपता के साथ एकाकार होकर फिर विशेष रूप में प्रवहित होने लगती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शक्ति-स्फुरणा किसी भी रूप में रुकती नहीं है क्योंकि स्फुरणा एक अविराम गतिशीलता है।

जाग्रत्–अवस्था में सामान्य-स्पन्दतत्त्व का अनुभव ऐसे ही 'शक्तिप्रत्यस्तमित' क्षणों पर हो सकता है क्योंकि इन क्षणों पर विशेष-स्पन्दों का क्षोभ पूर्णतया शान्त हुआ होता है। वस्तुस्थिति इस प्रकार है कि जब किसी व्यक्ति के मन में क्रोध, हर्ष, भय या अन्य कोई मनोभाव, अपने अनुकूल [1]आलम्बन के साथ सामना होने

१. प्रत्येक मनोभाव का अपना कोई निश्चित आलम्बन अर्थात् आश्रय होता है। विविध प्रकार के आलम्बनों के अवलम्बन से विविध प्रकार के मनोभाव उभर आते हैं। उदाहरण के तौर पर अकस्मात् प्राणघातक शत्रु को देखकर क्रोध, प्राणों से भी प्रिय इष्टजन को चिरकाल के अनन्तर देखकर हर्ष, अपने स्वामी की कठोर एवं जोखिम भरी आज्ञा को सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़ता अथवा जंगल के सुनसान मार्ग में चलते समय अचानक सामने आते हुये शेर या फनियाले को देख कर भय का भाव उभर आता है। इसी प्रकार अन्य मनोभावों के विषय में समझना चाहिये।

की दशा में, अकस्मात् अतिस्वनिक वेग से उभर आता है तब उसके मन पर इसकी एक विलक्षण प्रतिक्रिया हो जाती है। वह यह कि जितनी अलक्ष्य तीव्रता से उभर आनेवाला भाव उभर आता है, उतनी ही तीव्रगति से उसका पूर्ववर्ती मनोभाव डूब आता है। इन दोनों मनोभावों के ऐसे अप्रत्याशित अन्त एवं आरम्भ के बीचवाले संधिक्षण में सारी विशेषरूप मानसिक वृत्तियों की बहिर्मुखीन गति स्तब्ध हो जाती है। दूसरे शब्दों में यह [1]क्षण एक प्रकार का निर्विकल्प क्षण जैसा होता है और इसमें बिजली की तीव्रतम कौंध की तरह, अलक्षित रूप में, विगलित-वेद्यान्तरता अपनी झलक दिखाकर फिर शान्त हो जाती है। सुखिता, दुःखिता या मूढ़ता इत्यादि अन्तःकरणवृत्तियों की चेतना का नाममात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता है और फलस्वरूप इस क्षण में केवल सामान्य स्पन्द-तत्त्व की प्रकाशमानता ही अवशिष्ट रह जाती है। प्रत्येक जीव की मानसिक प्रक्रिया में, प्रतिसमय न जाने कितने ऐसे शक्तिप्रत्यस्तमित दशा के क्षण आते-जाते रहते हैं क्योंकि प्रतिक्षण मनोभावों की उन्मज्जन और निमज्जन की क्रिया अविराम गति से चलती रहती है। कठिनता तो यह है कि मनोभावों का उन्मज्जन और निमज्जन इतना तीव्र होता है कि साधारण रूप में किसी मनुष्य को भी—मानवेतर प्राणियों की तो बात ही नहीं—बीचवाले सन्धिक्षण का आभास भी नही मिलता है। इसका कारण यह है कि यह क्षण अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण स्थूल-बुद्धि के द्वारा ग्राह्य नहीं है।

जिन भाग्यशाली व्यक्तियों पर परमेश्वर का तीव्रतम शक्तिपात हो उनको सद्गुरु लोकोत्तर प्रातिभ ज्ञान के द्वारा, इन अन्तरालवर्ती सन्धिक्षणों और इनमें प्रकाशमान रहने वाले स्पन्दतत्त्व की अनुभूति करवा लेते हैं। अनन्तर वे अभ्यास की दृढ़ता से, ऐसे ही क्षणों पर, अपनी बहिर्मुखीन शक्ति को कूर्माग [2]संकोच की युक्ति से एकदम समेट कर, अन्तर्मुख हो जाते हैं और धीरे धीरे इस भाव पर स्थिर रहने की क्षमता भी प्राप्त कर लेते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में हर्ष, क्रोध और मूढ़ता इनसे क्रमशः सारी सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक अन्तःकरणवृत्तियों का ग्रहण करके, सारी ज्ञानेन्द्रियों की व्यापार-

---

१. क्षुधाद्यन्ते भये शोके गह्वरे वारणद्रुते।
कुतूहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्तामयी दशा॥ (वि वै०, ११६)
इस विषय में वि. वै० ७१–१०१ और शि० दृ० १.६-११ भी द्रष्टव्य हैं।

२. जिस प्रकार कछुवा भय की भनक पाते ही, पलक भर में, अपने सारे अंगों को अपनी ही पीठ पर वर्तमान कटाह के नीचे समेट लेता है।
'प्रसृताया अपि वा कूर्माङ्ग संकोचवत् त्राससमये हृत्प्रवेशवच्च सर्वतो निवर्तनम्'। (प्र० हृ०, सू० १८)

रूपा जाग्रत्-अवस्था में और, दौड़ने की क्रिया के द्वारा सारी बहिरंग कर्मेंद्रिय-वृत्तियों का ग्रहण करके कर्मेन्द्रियों की व्यापाररूप जाग्रत्-अवस्था में, समान रूप से स्पन्द-तत्त्व की उपलब्धि की ओर संकेत किया गया है ॥ २२ ॥

[चित्त की एकाग्रता – सोम-सूर्य]

यहाँ तक के प्रकरण में जिस प्रकार का वर्णन किया गया है उस प्रकार की अनुभूति प्राप्त करवाने में, शिष्य पर सद्‌गुरु की छत्रच्छाया का होना अनिवार्य है। परन्तु जिस समय कोई साधक स्पन्दात्मक शाक्तभूमिका में वास्तविक प्रवेश कर लेता है उस समय से सत्-गुरु का साथ भी छूट जाता है। इसका कारण यह है कि तुर्याधाम में प्रविष्ट होने के समय तक विकल्पों का इतना संस्कार हुआ होता है कि गुरुभाव और शिष्यभाव का विकल्प भी समाप्त हुआ होता है। फलतः यहाँ से आगे का क्षेत्र पार करने में, साधक को, अपनी उद्-बुद्ध शक्ति ही पथप्रदर्शिका बन जाती है।

अगले तीन[1] सूत्रों में, ऐसे ही, शाक्त भूमिका में प्रविष्ट होने के बिल्कुल अभिमुख योगी की, मानसिक संकल्प-बद्धता, यौगिक प्रक्रिया और सुषुम्णाधाम में अन्तिम लयीभवन का वर्णन किया जा रहा है।

यामवस्थां समालम्ब्य यदयं मम वक्ष्यति ।
तदवश्यं करिष्येऽहमिति संकल्प्य तिष्ठति ॥ २३ ॥
तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोमसूर्यावुभावपि ।
सौषुम्नेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम् ॥ २४ ॥
तदा तस्मिन्महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥ २५ ॥

यां स्पन्दस्वरूपरूपामवस्थामवलम्ब्य 'यत्किंचित् अयं मम वक्ष्यति, तत् अवश्यं करिष्यामि' इत्यध्यवसायेन स्पन्दतत्त्वमधिष्ठाय यो वर्तते ॥ २३ ॥

तस्य, तामवस्थामाश्रित्य पुरुषस्य, सोमसूर्यौ द्वावपि सौषुम्ने अध्वनि मध्यनाड्यभिधाने, अस्तमयं कुरुतः, ब्रह्माण्डगोचरं शरीरमार्गं परित्यज्य योगिनः ॥ २४ ॥

तस्मिन् महाव्योम्नि प्रत्यस्तमित-शशिभास्करे यस्य स्वस्वभावाभिव्यक्तिः न सम्यक् वृत्ता, स स्वप्नादिना मुह्यमानोऽप्रबुद्धो निरुद्धः स्यात्, प्रबुद्धः पुनरनावृत एव भवति ॥ २५ ॥

---

१. इन तीनों सूत्रों में से पहला सूत्र, दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों रूपों में प्रस्तुत किया है।

अनुवाद—(सूत्र २३ दृष्टान्त के रूप में)

सूत्र—(साधारण जीवभाव के स्तर पर, जिस प्रकार किसी महान गौरवशाली और सहानुभूति से पूर्ण हृदय वाले स्वामी का परिचारक, उसकी कोई आवश्यक आज्ञा सुनने के पूर्ववर्ती क्षण में—)

'यह मेरा स्वामी मुझे जो कोई भी (साध्य या दुस्साध्य) कार्य करने की आज्ञा देगा, वह मैं अवश्य उसी यथावत् रूप में करके ही रहूँगा' इस प्रकार संकल्पबद्ध होकर, जिस प्रकार की मानसिक अवस्था (वृत्तिप्रत्यस्तमित-अवस्था) का आश्रय लेकर अवस्थित रहता है—

(दार्ष्टान्तिक के रूप में)

(उसी प्रकार साधना के क्षेत्र में कोई भी प्रबुद्ध-भूमिका पर अवस्थित साधक) 'यह स्पन्दात्मिका शक्ति मुझे जिस प्रकार की स्वरूपविमर्शात्मक अनुभूति करवायेगी, मैं उस पर आरूढ होकर रहूँगा'—इस प्रकार संकल्पबद्ध होकर जिस प्रकार की मानसिक अवस्था (वृत्तिप्रत्यस्तमित-अवस्था) का आश्रय लेकर अवस्थित रहता है ।। २३ ।।

उस योगी की उसी अवस्था का आश्रय लेकर, उसके चन्द्रमा और सूर्य (मनस् एवं प्राण अथवा प्राण एवं अपान) शरीर व्याप्ति को छोड़कर, ऊर्ध्व मार्ग से सुषुम्नाधाम में पहुँचकर, उसी में लय हो जाते हैं ।। २४ ।।

जहाँ पहुँचकर चन्द्रमा और सूर्य दोनों ही लीन हो जाते हैं उस महान आकाश में (तुर्यारूप शाक्तभूमिका के अनन्त आकाश में) प्रबुद्ध योगी की चिन्मात्ररूप अनुभूति पर कोई भी आवरण नहीं रहा है । इसके प्रतिकूल मूढ़ अर्थात् सम्यक्-अनुभूति से हीन योगी, उस अवस्था में भी, सुषुप्ति[१]-पद की जैसी प्रगाढ़ अन्धतमस् की दशा में अचेत पड़ा रहता है ।। २५ ।।

वृत्ति—(तुर्यारूप शाक्तभूमिका में प्रविष्ट होने के अभिमुखीभाव के अवसर पर) जो योगी–'यह मेरी स्वभावभूत स्पन्द शक्ति मुझे जो कुछ भी कहेगी अर्थात् इसमें प्रविष्ट होने के लिए जैसा भी पथप्रदर्शन करेगी, मैं अवश्य उसी का अनुसरण करूँगा' इस प्रकार का अटल संकल्प मन में धारण करके, स्पन्दतत्त्व का स्वरूप ही बनी हुई अवस्था का आश्रय लेकर, स्पन्दतत्त्व पर अधिष्ठित होकर रहता है—

उस योगी की उसी अवस्था के आधार पर, उसके चन्द्रमा और सूर्य दोनों, शरीरव्याप्ति को छोड़कर अर्थात् पाञ्चभौतिक काया में अपने बहिर्मुखीन प्रसार को छोड़कर, 'मध्यनाडी' नामवाले सुषुम्नामार्ग में लय हो जाते हैं । जिसमें चन्द्रमा और सूर्य दोनों का अस्तमन हो जाता है उस महान आकाश में अर्थात् विशुद्ध

१. यहाँ पर सुषुप्ति-पद से योगी की उस अवस्था का अभिप्राय है जिसमें उसको आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर भी उसकी चेतना नहीं रहती है ।

चिन्मात्ररूप तुर्याभूमिका के असीम आकाश में, ऐसा योगी जिसको पूर्णरूप से स्वभाव की अभिव्यक्ति न हुई हो, साधारण स्वप्न इत्यादि (लौकिक स्वप्न और सुषुप्ति) के द्वारा मूढभाव (तामसिक मोह) में डाला जाने के कारण, अप्रबुद्ध बनकर [1]निरुद्ध अवस्था में पड़ा रहता है। इसके प्रतिकूल प्रबुद्ध योगी की आत्म-चेतना निरावृत रूप में प्रकाशमान रहती है ।। २३-२५ ।।

विवरण

प्रस्तुत सूत्र (सूत्र २३) में विशेषस्पन्द कही जाने वाली बहिर्मुखीन चित्त-वृत्तियों की निरोधात्मक प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। बहिर्मुखीन चित्तवृत्तियों को, अलंग्रासयुक्ति के द्वारा दिशा बदलकर, अन्तर्मुखीन बनाना ही 'चित्तनिरोध' है और यही शाक्त-उपाय का आधार-स्तम्भ है। इस विषय में पहले भी पर्याप्त उल्लेख हो चुका है अतः उन बातों को फिर दोहराने की आवश्यकता नही है। यहाँ पर केवल इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि इस सूत्र में, एक कर्मचारी (जो अन्य सारे कर्तव्यों को भूलकर प्राणपन से अपने हितैषी स्वामी की आज्ञा को पूर्ण करने पर उद्यत हो) की क्षणपर्यवसायिनी वृत्तिप्रत्यस्त-मितदशा के दृष्टान्त की पृष्ठभूमि पर, इस बात का स्पष्ट संकेत किया गया है कि, स्पन्दमयी शाक्तभूमिका में प्रवेश पाने के प्रति उत्सुक योगी को, पहले अपने में प्रखर मानसिक नियन्त्रण की क्षमता प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये संकल्प की दृढता, सद्विचार, अटल श्रद्धा और आत्म-शक्ति की तीव्रता परम अपेक्षित अंग हैं। दृढसंकल्प वाला योगी ही, स्वरूप की उपलब्धि के लिए सांसारिक बाधाओं एवं तथाकथित विभीषिकाओं को अपनी शक्ति से परास्त कर सकता है अन्यथा नहीं।

भारतीय जनगण के मानसविहारी भगवान मुरलीमनोहर ने 'चित्तनिरोध' की क्षमता रखने वाले व्यक्ति को 'स्थित-प्रज्ञ' कहा है। भगवान का कथन है कि स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति सारी सांसारिक कामनाओं को भूलकर केवल अपने आप में रमणशील होकर रहते हैं। वे न तो किसी दुःख के आने पर उद्विग्न होते हैं और न सुखभोग की सरिता में ही वह जाते हैं। उन पर भगवान का पूर्ण अनुग्रह होता है जिससे वे मायीय द्वन्द्वों के द्वारा प्रभावान्वित होने के बिना, अपने मार्ग पर आगे बढ़ते जाते हैं।

सूत्र २४ में योग की प्रक्रिया के द्वारा मनस् एवं प्राण अथवा प्राण एवं अपान को सुषुम्नाधाम के अन्तर्वर्ती चिदाकाश में लय करने का भाव अभिव्यक्त किया

---

१. चित्त की ऐसी अवस्था जिसमें वह अपनी मौलिक चितिरूपता का साक्षात्कार करने के क्षण पर मूढता (मोहजनित स्तब्धता) में पड़ जाता है।

गया है। इस सम्बन्ध में सूत्र में उल्लिखित कई पारिभाषिक शब्दों पर यथासम्भव प्रकाश डालना आवश्यक हैं—

सोमसूर्य—भट्टकल्लट ने अपनी वृत्ति में इन दो शब्दों को, व्याख्या करने के विना, अस्पष्ट रूप में ही छोड़ रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जान-बूझ कर ही ऐसा किया होगा। आगमशास्त्रों में भिन्न भिन्न प्रकार की धारणाओं के आधार पर इस शब्द-युग्म के भिन्न भिन्न अर्थ लगाये गये हैं। कहीं इनसे प्रमेयपद और प्रमाणपद का, कहीं प्राण और अपान का अथवा कहीं शिवकला और जीवकला का अर्थ लिया गया है। शायद भट्टकल्लट ने भी इसी बात को दृष्टि में रखकर, इस शब्द-युग्म को किसी निश्चित अर्थ की परिधि में बांधने के बिना साधकों की रुचि पर ही छोड़ दिया है।

आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करते समय अत्यन्त सावधानी से काम लेना आवश्यक है अतः केवल इतना कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सूत्र में पूर्व प्रकरण के आधार पर इन दो शब्दों से [1]मनस् एवं प्राण ये ही दो अभिप्राय लेना युक्तिसंगत है। कारण यह कि पूर्ववर्ती सूत्रों में इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है कि सामान्य स्पन्द-शक्ति एक ओर से ज्ञानरूपता के द्वारा गुणत्रय पर आधारित अन्तःकरण की वृत्तियों (जिनको साधारण रूप में मनस् या चित्त कहते हैं) और दूसरी ओर क्रियारूपता के द्वारा पांच स्थूल प्राणों के रूप में, पाञ्चभौतिक काया में व्याप्त होकर रहती है। कहना न होगा कि अपान स्वयं भी पांच प्रकार के स्थूल प्राणों में ही अन्तर्भूत हो जाता है। फलतः योगी के लिए, प्राण के साथ मनस् का भी चिदाकाश में लयीकरण परम आवश्यक है। श्रीयुत क्षेमराज ने अपनी व्याख्या में इस शब्द-युग्म का अर्थ [2]प्राण एवं अपान ही लगाया है।

सुषुम्ना मार्ग—आगम शास्त्रों में सुषुम्ना नाडी का प्रधान नाम 'मध्यनाडी' रखा गया है। भट्टकल्लट ने भी अपनी वृत्ति में इसी नाम से इसका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इसको 'ब्रह्मनाडी' भी कहते हैं।

इस नाडी को 'मध्य' कहे जाने के दो कारण हैं। एक यह कि मूलरूप में यह नाडी स्वतः संवित्-रूपा ही है और संवित् ही प्रत्येक जड़ अथवा चेतन पदार्थ का 'मध्य' अर्थात् [3]अन्तरतम जीवन है। प्रत्येक प्राणी के शरीर में यही नाडी जीवनी शक्ति का मूलस्रोत है। पहले भी कहा गया है कि संवित् भगवती ही अवरोह-

१. चन्द्रसूर्यौ मनःप्राणौ द्वावपि ॥ (स्प० का० वि०, ७६ पृष्ठ)
२. चन्द्रसूर्यौ अपानः प्राणश्चोभावपि ॥ (स्प० वि०, ४२ पृष्ठ)
३. सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात्······संविदेव भगवती मध्यम् ॥
(प्र० हृ०, १७)

क्रम में सूक्ष्म [1]प्राणना का रूप धारण करके, क्रमशः उत्तरोत्तर स्थूलता को प्राप्त होती हुई, समूचे अस्थिमेदोमय स्थूल शरीर का और, उसमें फैली हुई असंख्य शिराओं के जाल का रूप धारण कर लेती है। [2]स्वयं इन असंख्य नाडियों के जाल के ठीक मध्य में ब्रह्मरन्ध्र से लेकर मूलाधार तक प्रधान प्राणशक्तिरूपा सुषुम्नानाडी के रूप में अवस्थित रहती है। शिराजाल के ठीक मध्य में इसका अवस्थित रहना ही दूसरा कारण है जिसके लिये इसको 'मध्य' की संज्ञा दी गयी है। शिराजाल के [3]मध्य में यह ठीक उसी प्रकार ऊपर से नीचे तक अवस्थित रहती है जिस प्रकार पलाश के पत्ते के ठीक बीचोंबीच एक प्रधान शिरा ऊपर से नीचे तक अवस्थित रहती है।

मध्यनाडी के आकार-प्रकार के विषय में अनुभवी व्यक्तियों का कथन है कि यह नाडी [4]मृणाल के तन्तु के समान अत्यन्त सूक्ष्म है। इसके अन्तराल में [5]शून्य अवकाश की वर्तमानता है और उसी को सूत्रकार ने 'महान-व्योम' की संज्ञा के द्वारा अभिव्यक्त किया है। यह अन्तरालवर्ती अवकाश अपरिमित चैतन्यरूप होने के कारण 'चिदाकाश' कहलाता है। इसी महान व्योम से [6]प्राणशक्ति का निकास होता रहता है और प्राणशक्ति पर ही विश्व के सारे चेतन पदार्थों का जीवन निर्भर रहता है। फलतः मध्यनाडी ही शरीर की वह प्रधान नाडी है जहाँ से शरीर के रोम रोम को चेतना वितीर्ण होती है; [7]जहाँ से सारी मानसिक वृत्तियाँ उदित होती हैं और जिसमें अन्ततोगत्वा लय भी होती हैं।

साधारण जीवभाव की अवस्था में किसी भी जीवधारी को इस नाडी की वर्तमानता अथवा इसकी मौलिक स्पन्दना का आभास नहीं मिल सकता है। केवल योगीजनों को ही प्राणाभ्यास की प्रक्रिया के द्वारा इसके महत्व की अनुभूति हो जाती है।

ऊर्ध्व मार्ग—साधारण रूप में इस शब्द का अर्थ उत्कृष्ट-मार्ग है और आगम-शास्त्रों में उत्कृष्ट मार्ग से उदान वायु के मध्यनाडी रूप मार्ग का अभिप्राय लिया

१. सा तु मायादशायां......प्राणशक्तिभूमिं स्वीकृत्य, अवरोहक्रमेण बुद्धिदेहादि-भुवम् अधिशयाना नाडीसहस्रसरणिम् अनुसृता। (प्र० हृ०, १७)
२. तत्रापि च पलाशपर्णमध्यशाखान्यायेन आब्रह्मरन्ध्राद् अधोवक्त्रपर्यन्तं प्राण-शक्तिमध्यनाडीरूपतया प्राधान्येन स्थिता। (तदेव)
३. मध्यनाडी मध्यसंस्था। (वि० भै०, ३५)
४. सूक्ष्मत्वात् मृणालसूत्रतुल्यरूपया। (तदेव)
५. मध्यनाड्यामन्तश्चिदात्मकं शून्यमेवास्ति। (तदेव)
६. तस्मात् (शून्यात्) प्राणशक्तिर्निःसरति। (तदेव)
७. तत एव सर्ववृत्तीनामुदयात् तत्रैव च विश्रामात्। (प्र० हृ०, १७)

जाता है। साधारण जीवधारियों में, प्राण एवं अपान की प्रवहमानता का मार्ग, मध्यनाडी के बायें और दायें पार्श्वों में अवस्थित दो अन्य नाडियाँ हैं। इस अवस्था में प्राणापान की प्रवहमानता के लिये सुषुम्ना का मार्ग बिल्कुल बन्द रहता है। योग की प्रक्रिया के द्वारा प्राण एवं अपान का छेदन करने से अर्थात् दोनों के बहिर्मुखीन संचार को रोक कर दोनों को हृत्-मंडल में ही अवस्थित करने से, ये उदानवायु का रूप धारण करके, सुषुम्नामार्ग अर्थात् ऊर्ध्वमार्ग से [2]ऊर्ध्वसंचार करने लगते हैं। प्राणापान के ऊर्ध्वसंचार की अवस्था पर पहुँचे हुये योगी के अन्तस् में विद्यमान भेद-भावना स्वयं ही पिघल कर अभेद-भावना के रूप में उदित हो जाती है क्योंकि प्राणापान का ऊर्ध्वसंचार तुर्यारूप शाक्तभूमिका का समावेश हो जाने पर ही होने लगता है।

सूत्र २५ में मूढ़ और प्रबुद्ध व्यक्तियों की समाधिकालीन अनुभूति के अन्तर को स्पष्ट किया गया है। इस सम्बन्ध में पहले ही सूत्र १२ से सूत्र २० तक के विवरणों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है अतः यहां पर फिर से उन्हीं बातों को दोहराना पिष्टपेषण ही होगा ॥ २३, २४, २५ ॥

इति श्रीकल्लटाचार्यविरचितायां स्पन्दकारिकवृत्तौ 'स्वरूपस्पन्दः'
नामा प्रथमो निःष्यन्दः ॥ १ ॥

श्रीकल्लटाचार्य के द्वारा विरचित स्पन्दकारिका वृत्ति का 'स्वरूपस्पन्द'
नामक पहला निःष्यन्द समाप्त हुआ ॥ १ ॥

---

२. द्रष्टव्य, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (३.२.१९.२०)

दूसरा निष्यन्द

'सहजविद्योदय' नामक दूसरा निष्यन्द

यहां तक के प्रकरण में ग्रन्थकार ने अनेकों युक्तियों और उपपत्तियों के द्वारा यह तथ्य निर्धारित किया कि विश्व के कण कण में चैतन्यमयी स्पन्दशक्ति सामान्यरूप में अनुस्यूत है। योगी लोग पूर्वोक्त विकल्पसंस्कार की प्रक्रिया के द्वारा अपने संवेदन को निर्मल बना कर, अपने ही हृदयमण्डल में इस शाक्त-भूमिका की अनुभूति प्राप्त करते हैं। फलस्वरूप वे पशुभाव की संकुचित सीमाओं को लांघ कर असीम विश्वात्म-भाव में लय हो जाते हैं ॥

अब प्रस्तुत प्रकरण के सूत्रों में आध्यात्मिक उपलब्धियों के आधार पर इस रहस्य का उद्घाटन किया जा रहा है कि विकल्प-संस्कार की प्रक्रिया का निरन्तर अभ्यास करने से प्रबुद्ध योगियों के हृदयों में 'सहजविद्या' का उदय हो जाता है। शुद्ध विकल्प अथवा अहंविमर्शात्मक स्वरूप की यथार्थ अनुभूति ही इस 'सहजविद्या' का स्वरूप होता है। निर्मल हृदय में शुद्धविद्या का प्रकाश फैल जाने से ही योगी को वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। उसको मन्त्रवीर्य का अनुभव हो जाता है और वह प्रबुद्ध अवस्था से निकल कर सुप्रबुद्ध अवस्था में प्रविष्ट हो जाता है ॥

[मन्त्र और मन्त्रवीर्य]

इस सम्बन्ध में अब सूत्रकार अगले दो सूत्रों में इस तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि सिद्ध योगियों की वाणी में ऐसे आत्मबल का संचार हो जाता है कि उनके द्वारा उच्चारे गये मन्त्र कागज़ के पत्रों पर लिखे हुए साधारण वर्णमात्र न रह कर अमोघ वीर्य बन जाते हैं। उनमें, योगी की रुचि के अनुसार भोगरूप या मोक्षरूप फलों को प्राप्त करवाने की क्षमता निश्चित बन जाती है :—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम् ॥ २६ ॥

तत् बलं निरावरणचिद्रूपमधिष्ठाय, मन्त्राः सर्वज्ञत्वादिना बलेन श्लाघा-युक्ताः प्रवर्तन्ते अनुग्रहादौ स्वाधिकारे। करणानि यथा देहिनाम्, नान्येन आकारादिविशेषेण ॥ २६ ॥

तत्रैव संप्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः ।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिणः ॥ २७ ॥

तत्रैव स्वस्वभावव्योम्नि निवृत्ताधिकाराः प्रलीयन्ते, शान्तरूपाः, माया-कालुष्यरहिताः, सह साधकचित्तेन; अनेन कारणेन शिवसंयोजनास्वभावेन, इति शिवात्मका उच्यन्ते ॥ २७ ॥

अनुवाद

सूत्र—प्रत्येक प्रकार के मन्त्र उस स्पन्दरूप आत्मबल के साथ तादात्म्य प्राप्त करने से ही सर्वज्ञता इत्यादि (छः प्रकार के) माहेश्वर [1]बलों को प्राप्त करके शोभित होने लगते हैं। ऐसी परिस्थिति में वे(मन्त्र) किसी भी मनचाहे कार्य को अधिकार पूर्वक सिद्ध करने के लिये, उसी प्रकार, सहज ही में प्रवृत्त होते हैं जिस प्रकार शरीरधारियों की इन्द्रियां संकल्पमात्र से ही अपने अपने कार्यों को सिद्ध कर देती हैं ॥ २६ ॥

वृत्ति—सारे मन्त्र उस आवरणहीन चिद्रूपता के साथ एकाकार होने से ही सर्वज्ञता इत्यादि माहेश्वर बलों को प्राप्त करके श्लाघ्य बन जाते हैं और, शरीर-धारियों की इन्द्रियों की तरह ही, अपने अनुग्रह इत्यादि अधिकारिता के कामों की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। (आत्मबल का स्पर्श प्राप्त करने के बिना) वे किसी दूसरे प्रकार के आकारविशेष अर्थात् अक्षरों और मात्राओं की (किसी पुस्तकादि में अंकित) विशेष रचनामात्र के द्वारा किसी भी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकते हैं ॥ २६ ॥

सूत्र—(दूसरी ओर) वे मन्त्र शान्तरूप अर्थात् शुद्ध संवित्-रूप और निरञ्जन अर्थात् मायीय उपराग से रहित होकर, आराधना करने वाले के चित्त के साथ-साथ, चिदाकाश में ही लीन हो जाते हैं। इस कारण सारे मन्त्र मूलतः शिवधर्मा अर्थात् शिवरूप ही हैं ॥ २७ ॥

वृत्ति—ये ही मन्त्र सांसारिक भोगसिद्धि से निवृत्त होकर और, माया के उपराग से रहित होकर शान्तरूप बन जाने के कारण, साधक के चित्त के साथ ही उस स्वभाव अर्थात् विशुद्ध चिद्-रूपता या दूसरे शब्दों में सामान्य-स्पन्दात्मक शाक्तभूमिका के असीम अवकाश में लीन हो जाते हैं। वास्तव में प्रत्येक प्रकार के मन्त्र का पार्यन्तिक एवं अनौपचारिक स्वभाव यही है कि वह (पशुभाव में पड़ी हुई) आत्मा को शिवभाव के साथ एकाकार बना लेता है। इन कारणों से सारे मन्त्रों को शिवात्मक अर्थात् शिवरूप ही कहा जाता है ॥ २७ ॥

विवरण

भोगरूप और मोक्षरूप फलों के आधार पर मन्त्र दो प्रकार के हैं—(१) साञ्जन, (२) निरञ्जन ॥

१. सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि-बोध, अप्रतिहत-स्वातन्त्र्य, शक्ति का निर्बाध प्रसार, विश्वरूप में विकसित अनन्त शक्तियों का ऐश्वर्य, ये छः प्रकार के माहेश्वरबल हैं ॥

मन्त्रशक्ति का साञ्जनरूप वह है जिसको सांसारिक भोगरूप फलों को प्राप्त करने के अभिप्राय से प्रयोग में लाया जाता है। कई साधक, अपने में मन्त्रवीर्य को विकसित करने के अनन्तर, उसके द्वारा दैनिक जीवव्यवहार के साथ सम्बन्ध रखने वाले कार्यों को सिद्ध करने लगते हैं। उदाहरणार्थ वे किसी पर अनुग्रह, किसी पर निग्रह, किसी का रोगनिवारण, किसी का मारण इत्यादि अवरकोटि के लक्ष्यों को पूरा करने में लग जाते हैं। ऐसे मन्त्र मायीय उपरागों के द्वारा ही रंजित होने के कारण 'साञ्जन-मन्त्र' कहलाते हैं।

निरञ्जन मन्त्रशक्ति वह है जिसको केवल अपने आप में शिवतत्व की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रयोग में लाया जाता है। ऐसे मन्त्रों पर किसी भी प्रकार का मायीय रंग चढ़ा हुआ नहीं होता है अतः ये 'निरञ्जन-मन्त्र' कहलाते हैं।

यह बात मन्त्रवीर्य के अनुभवी साधकों की रुचि पर निर्भर है कि क्या वे मन्त्रों का साञ्जन उपयोग करें या निरञ्जन ?

प्रस्तुत दो सूत्रों में ऐसे लोगों का मुखमुद्रण करने का प्रयास किया गया है जिनके विचार में मन्त्रशक्ति की बातें एक ढकोसले अथवा आज की शब्दावली में 'शोषण' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सूत्रकार के विचारानुसार ऐसे लोग मन्त्र और मन्त्रवीर्य का वास्तविक रूप समझने में गलती कर रहे हैं। साधारण रूप में 'मन्त्र' शब्द से पुस्तकों के पन्नों में अंकित अनेक प्रकार की [1]वर्णरचनाओं का अभिप्राय लिया जाता है परन्तु वह बिल्कुल गलत है क्योंकि उसमें कोई बल नहीं होता है। वास्तव में मन्त्र उच्चतर-भूमिका पर अवस्थित उस निर्मल एवं विकल्प-हीन [2]संवेदन को कहते हैं जिसके द्वारा योगियों को अपनी भौतिक काया में ही छिपी हुई अमोघ और असीम आत्मशक्ति की अनुभूति हो जाती है। फलतः साधारण से साधारण मन्त्र का उच्चारण भी महान प्रभावोत्पादक बन सकता है परन्तु यदि उसके साथ आत्मशक्ति का सहयोग हो, अन्यथा नहीं।

सूत्रकार के इस उपरिलिखित अभिप्राय को अच्छी प्रकार समझने के लिए मन्त्रशक्ति के साथ सम्बन्ध रखने वाली कई निम्नलिखित बातें ध्यान में रखना आवश्यक है।

मन्त्र का स्वरूप—[3]मन्त्र शब्द अवबोधनार्थक 'मनु' और पालनार्थक 'तृ' इन दो धातुओं के संयोग से बना हुआ है। इस आधार पर मन्त्र का सीधा सम्बन्ध कोरी

१. लिपिस्थितस्तु यो मन्त्रो निर्वीयः सोऽत्र कल्पितः (तं०, ४. ६६ में उदाहृत)
२. मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मन्त्रः, न तु विचित्रवर्णसंघट्टनामात्रम्........................ । (शिव सूत्र वि०, २.१)
३. मनु अवबोधने,' 'तृ पालने' इत्येताभ्यां निरुक्ततया निर्वचनीयत्वेन निर्णीततया उच्यते। (शिव सूत्र, २.१ की टिप्पणी)

लिपिबद्ध वर्णरचना से ऊपर उठ कर, आंतरिक संवेदन के साथ जुड़ जाता है क्योंकि मानव में संवेदनात्मक शक्ति ही ऐसी है जिसके द्वारा वह सामान्य-स्पन्दात्मक स्वरूप का आन्तररूप में मनन करने से, अपनी आत्मा को पशुता के संकुचित स्तर से बहुत ऊपर उठाने के रूप में उसका पालन कर सकता है। शैव शब्दों में संवेदन को 'चित्त' कहते हैं। चित्त के द्वारा ही साधारण व्यवहार से लेकर परमतत्त्व के स्वरूप तक का विमर्श संभव हो सकता है। पहले यह बात समझाई गई है कि संवेदन, चित्त, मंत्र और विमंश इन का स्वरूप आंतरिक आत्मस्फुरणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अतः ये सारे शब्द पर्यायवाची होने के कारण एक ही आत्म-स्पन्दना के द्योतक हैं।

शैवदार्शनिकों के विचारानुसार विमर्श या आत्मस्पन्दना ही प्रत्येक भाव का [1]हृदय है क्योंकि सारे भाव यहाँ से निकलकर अन्ततोगत्वा इसी में विश्रान्त भी हो जाते हैं। इस बात का उल्लेख हो चुका है कि अभिनवगुप्ताचार्य जी के कथनानुसार जड़ का हृदय चेतन, चेतन का हृदय प्रकाश और प्रकाश का हृदय विमर्श है। विमर्शात्मक आत्म-स्फुरणा ही परमन्त्र है और इसका वास्तविक स्वरूप मात्र 'अहंविमर्श' है।

यहाँ तक यह बात स्पष्ट हो गई कि [2]'मंत्र' का वास्तविक स्वरूप 'अहंविमर्श' है। अब देखना यह है कि विमर्श किस रूप में कार्यनिरत होता है? विमर्श चाहे जिस किसी भी भूमिका पर अवस्थित हो शब्दना अथवा अभिलाप ही इसका रूप है। शब्दना से रहित विमर्श के अस्तित्व की कल्पना भी नही की जा सकती है। उच्चतम भूमिका पर अवस्थित विमर्शात्मक शब्दना को शास्त्रीय शब्दों में 'परा-वाणी' कहते हैं। यह परा-वाणी अथवा आन्तर-शब्दना एक ऐसी मात्र स्पन्दनामयी शब्दना है जिसमें अनन्त एवं अतर्क्य स्थूल वाचक और वाच्यरूप शब्दराशि, मोर के अण्डरस के न्याय से, केवल स्फुरणा के रूप में ही अवस्थित है। इस भूमिका पर अवस्थित शब्दना में कोई स्थूल वाच्यवाचकरूप विभाग न होने के कारण यह 'बीजरूप' अर्थात् 'अहंरूप' ही है। सारे मन्त्र मूलतः 'परा-वाणी' रूप ही हैं।

'परावाणी' के विषय में पहले भी इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि यही वह सामान्य स्पन्दना है जिसका स्वरूप अगतिमय गति है और जो अचल

---

१. हृदयं च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते, तच्च उक्तनीत्या जडानां चेतनम्, तस्यापि प्रकाशात्मकत्वम्, तस्यापि विमर्शशक्तिः इति विश्वस्य परमे पदे तिष्ठतो विश्रान्तस्य इदमेव हृदयं विमर्शरूपं परमन्त्रात्मकं यत्र तत्र अभिधीयते।

(ई० प्र० वि,० १.५.१४)

२. मंत्रश्च विमर्शनात्मा (ई० प्र० वि०, १.५.१४)

आत्मा में [1]चलत्ता का आभास करा देती है। यह चलत्ता ही परमेश्वर की ज्ञान क्रियात्मक विमर्शना है।

परा-शब्दना बहिर्मुख प्रसार की प्रक्रिया में पश्यन्ती और मध्यमा अवस्थाओं में से प्रसृत होती हुई और, उत्तरोत्तर स्थूल होती हुई, वैखरी वाणी का रूप धारण करके, [2]'अ' से 'क्ष' तक मातृका या 'न' से 'फ' तक मालिनी के रूप में विकसित होती है। इस दृष्टि से यदि देखा जाये तो अनेकों शास्त्रों में लिखे गये केवल विशिष्ट वर्ण-रचनात्मक मंत्र ही नही, प्रत्युत प्रत्येक शब्द, वर्ण, मात्रा अर्थात् मुख से उच्चारण की जाने वाली प्रत्येक ध्वनि 'मन्त्र' कहलाती है। इन वैखरी रूप स्थूल ध्वनियों की पृष्ठभूमि में भी वह आन्तर-विमर्श ही कार्यनिरत होता है। यही कारण है कि साधारण सांसारिक आदान-प्रदानों में भी मुख से उच्चारित ध्वनियाँ विचित्र प्रकार के प्रभावों को उत्पन्न कर सकती हैं। स्पष्ट है कि जब स्पन्दशक्ति का ही विकासमात्र होने के कारण साधारण से साधारण वर्ण भी कभी कभी कल्पनातीत हलचल को पैदा करने की क्षमता रखता है तो मन्त्र में ऐसी शक्ति क्योंकर नहीं हो सकती है? [1]वास्तव में सारे वर्ण पररूप अर्थात् शिवरूप और उनसे बने मन्त्र शक्तिरूप हैं।

तन्त्रशास्त्रों में अनेक प्रकार के मन्त्रों का उल्लेख मिलता है। साथ ही वहाँ पर, उनसे विशेष प्रकार के प्रभावों को उत्पन्न करने के लिये, उनके उच्चारणों और जपों की विशेष परिपाटियों और तदनुकूल विशेष वातावरणों एवं देश-कालों का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया गया है। अनुभवी गुरुओं का कथन है कि यदि शास्त्रों में वर्णित नियमों का शत-प्रतिशत पालन करते हुये, मन्त्रों का अभ्यास किया जाये तो वे अवश्य मनचाहे प्रभावों को उत्पन्न कर लेते हैं। शर्त केवल

---

१. एषैव च किञ्चिद्रूपता यत् अचलमपि चलमाभासते। (ई०प्र०वि०, १.५.१४)

२. संस्कृत वर्णमाला का 'अ' से 'क्ष' तक का क्रम आज भी प्रचलित है। इस क्रम को शास्त्रीय शब्दों में 'मातृका' या 'पूर्वमालिनी' कहते हैं। स्वच्छन्द तन्त्र में इसी क्रम को स्वीकारा गया है। इसके प्रतिकूल मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र में वर्णमाला को 'न' से 'फ' तक के दूसरे क्रम में भी रखा गया है। इसका शास्त्रीय नाम 'मालिनी' है। यह क्रम इस प्रकार है—

न, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, थ, च, ध, ई, ण, उ, ऊ, ब, क, ख, ग, घ, ङ, इ, अ, व, भ, य, उ, ढ, ठ, झ, ज, र, ट, प, छ, ल, आ, स, अः, ह, ष, क्ष, म, श, अं, न, ए, ऐ, ओ, औ, द, फ ॥

१. सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
(तं० स० शि० सूत्र २. ३ में उदाहृत)

इतनी है कि साधक को मन्त्रशक्ति का प्रयोग करने से पहले आत्मशक्ति की अनुभूति हुई होनी चाहिये ।

गुरुओं का कथन है कि [1]मन्त्रों में स्पन्दात्मक बल स्वभाव से ही अन्तर्निहित है । कसर इस बात की है कि पशुओं के चित्त की निर्मलता पर कुत्सित विकल्पों की काई जमी होती है अतः उनको अपनी ही शक्ति का परिचय नहीं होता है। आत्मबल की विस्मृति की अवस्था में मन्त्र का वीर्यहीन होना स्वाभाविक है और, बार बार उच्चारण करने पर भी, पतझड़ की मेघमाला के समान, उससे कोई अभीष्ट फल प्राप्त नहीं हो सकता है ।

योगियों को मन्त्रशक्ति का अनुभव स्वरूप की स्पन्दमयता का निरन्तर [2]अनुसन्धान करने के भगीरथ प्रयत्न से होता है, अन्यथा नहीं । वास्तव में स्वरूप का विकास ही [3]मंत्रशक्ति का विकास समझना चाहिये । आन्तर-अनुसन्धान के परिपक्व हो जाने पर मन्त्र के उच्चारणमात्र से ही अभीष्ट परिणाम प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि ऐसी अवस्था में मन्त्रशक्ति [4]स्वात्मरूप में ही स्फुरित होती रहती है ।

आन्तर अनुसन्धान की क्षमता प्राप्त करने के लिये सबसे पहले अपने चित्त को निर्मल बनाना एक मौलिक आवश्यकता है क्योंकि निर्मल चित्त में ही स्वरूप का प्रकाशपुञ्ज अखण्डरूप में प्रतिबिम्बित हो जाता है । इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये पूर्वोक्त 'विकल्पसंस्कार' की युक्ति ही सरलतम उपाय है क्योंकि इसमें अन्य उपायों के लिये आवश्यक दुरूह शास्त्रीय विधि-विधानों का पालन करने की माथा-पच्ची का टंटा नहीं होता है । पहले भी कहा गया है कि उत्सुक व्यक्ति दैनिक आदान-प्रदान करता हुआ भी, अपने मानसिक संतुलन पर दृढ नियन्त्रण रखकर, धीरे धीरे सद्विमर्श के द्वारा चित्त से कुत्सित विकल्पों का बहिष्कार कर सकता है । विकल्पों का संस्कार करने से भावनायें निर्मल हो जाती हैं और परिणामतः मनमें स्वयं ही शुद्धविद्या का उदय हो जाता है । साधक को, मन में शुद्धविद्या की स्वर्णिम आलोक का उदय होते ही, मन्त्रशक्ति की अनुभूति हो जाती है ।।

---

१. मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया ।
तया हीना वरारोहे, निष्फलाः शरदभ्रवत् ।।
(तं० स० शि० सू० २. १ में उदाहृत)

२. तस्यानुसन्धानम्.........मन्त्रवीर्यस्यानुभवः । (शिव सूत्र वि०, १. २२)

३. शक्तिः मंत्रवीर्यस्फाररूपा । (शिव सूत्र, २. १ उपक्रमणिका)

४. स्वात्मरूपतया स्फुरणं भवति । (शिव सूत्र वि०, १. २२)

इस सम्बन्ध में भगवान [1]अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ तन्त्रालोक में भावनाओं की स्वच्छता की भूरि भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने इस महान ग्रन्थ में एक स्थान पर श्री-मालिनीविजय के प्रमाणवाक्य को उद्धृत करके 'तदाक्रम्य' इत्यादि प्रस्तुत सूत्रों का यही अभिप्राय निकाला है कि आत्मोद्धार करने के दुर्गम मार्ग को पार करने के लिये भावनाओं की निर्मलता से बढ़कर और कोई भी सहायक सामग्री उपयुक्त नहीं बन सकती है। फलतः मन्त्रवीर्य की अनुभूति प्राप्त करने का सरलतम और प्रभावोत्पादक उपाय 'विकल्प संस्कार' ही है।

अभी ऊपर जिस शुद्धविद्या का उल्लेख किया गया है उसके सम्बन्ध में यहाँ पर थोड़ा सा स्पष्टीकरण आवश्यक है। छत्तीस तत्त्वों में ईश्वरतत्व से नीचे और मायातत्त्व से ऊपर एक अन्तरालवर्ती तत्त्व है। उसको 'शुद्धविद्या-तत्त्व' कहते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में शुद्धविद्या शब्द से उसका अभिप्राय नहीं है, अपितु यहाँ पर यह शब्द उसी पूर्वोक्त शुद्धविमर्श का द्योतक है जिसके उदय में आते ही योगी के हृदय में सर्वज्ञता सर्वकर्तृता इत्यादि छः माहेश्वरधर्म स्वयं ही निखर उठते हैं। शैवशास्त्रियों ने, प्रस्तुत [2]'विद्या' शब्द की व्युत्पत्ति लाभार्थक 'विद्लृ' धातु, विचारार्थक 'विद्' धातु और ज्ञानार्थक 'विद्' धातु इन तीन धातुओं से मानकर, इसका निर्वचन निम्नलिखित तीन प्रकारों से किया है।

१. विद्या (लाभार्थक 'विद्लृ' धातु)—विमर्श की वह उच्चतम भूमिका जिसके विकसित हो जाने पर, योगी को सर्वज्ञता इत्यादि शिवधर्मों का लाभ सहज ही में हो जाता हैं।

२. विद्या (विचारार्थक 'विद्' धातु)— विमर्श की वह उच्चतम भूमिका जिसके विकसित हो जाने पर, योगी में अकस्मात् यह विचार उत्पन्न हो जाता है कि मैं अनादिधर्मा हूँ अर्थात् स्वातन्त्र्यशक्ति ही मेरा वास्तविक स्वभाव है।

३. विद्या (ज्ञानार्थक 'विद्' धातु)—योगिसंवेदन की वह अवस्था जिस पर पहुँचकर योगी को, स्वयं ऐसा ज्ञान हो जाता है कि वास्तव में मैं स्वयं ही शक्ति-केन्द्र शिव हूँ और यह समूचा विश्व मेरे ही स्वरूप की स्पन्दनामात्र है।

---

१. नियतिप्राणतायोगात्सामग्रीतस्तु यद्यपि।
सिद्धयो भाववैमल्यं तथापि निखिलोत्तमम्॥
उक्तं श्रीसारशास्त्रे च निर्विकल्पो हि सिद्धयति।
क्लिश्यन्ते सविकल्पास्तु कल्पोक्तेऽपि कृते सति॥
'तदाक्रम्य बलं मन्त्रा'—'अयमेवोदयः स्फुटः'।
इत्यादिभिः स्पन्दवाक्यैरेतदेव निरूपितम्॥–(तं०, ३. ११०–१४)

२. द्रष्टव्य स्वच्छन्दोद्योतः (४. ३९५–९६)

संवेदन की ऐसी तीव्र अवस्था को शास्त्रीय शब्दों में 'उन्मना' अवस्था भी कहते हैं।

फलतः सूत्रकार के मन्तव्य का निष्कर्ष यह है कि योगी का संवेदन जब इतना परिपक्व हो जाता है कि मन्त्र का उच्चारण करते ही उसके चित्त, मन्त्र और मन्त्रदेवता की सघन संवेदनात्मक एकाकारता हो जाती है तब मन्त्र, लिखित वर्णों की विशेष रचनामात्र न रह कर, एक ऐसी अमोघ शक्ति बन जाता है कि उससे कोई भी अभीष्ट फल अवश्य प्राप्त किया जा सकता है॥ २६–२७॥

[आत्मसत्ता और संवेद्यविषय]

अगले तीन सूत्रों में यह समझाया जा रहा है कि वेदकरूप आत्मसत्ता की व्यापकता केवल मन्त्रसमुदाय तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत सारा वेद्यवेदक संक्षोभ ही स्वरूप का विकास है। फलतः जब भगवान शिव सर्वमय है तो उसी का पशुरूप जीव भी वास्तव में सर्वमय ही है। योगी लोग अपने विशुद्ध संवेदन के द्वारा इस बात की अनुभूति प्राप्त करके जीवन-मुक्त बन जाते हैं :—

यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात् ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥ २८ ॥

सर्वात्मक एवायमात्मा सर्वानुभावोत्पत्तिद्वारेण अनुभूयमानस्यैव संवेदनात् बाह्यार्थमनुभूयमानमेव शरीरत्वेन गृह्णाति, न तु शिरःपाण्यादिलक्षितम् एकमेवास्य शरीरम् ॥ २८ ॥

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥ २९ ॥

तेन तथाविधेन सर्वात्मकेन स्वभावेन, शब्दार्थयोः चिन्तासु न सा अवस्था या शिवस्वभावं न व्यञ्जयति, अतो भोक्तैव हि भोग्यभावेन सर्वत्रावस्थितो, न त्वन्यत् भोग्यमस्ति ॥ २९ ॥

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ ३० ॥

एवंस्वभावं यस्य चित्तं, यथा—'मन्मयमेव जगत् सर्वम् इति', स सर्वं क्रीडात्वेन पश्यन् नित्ययुक्तत्वात् जीवन्नेव ईश्वरवत् मुक्तो, न त्वस्य शरीरादि बन्धकत्वेन वर्तते ॥ ३० ॥

अनुवाद

सूत्र—जीव (पशुप्रमाता) सर्वमय ही है क्योंकि यह भी (पतिप्रमाता की तरह) संसार के सारे (घट, सुख इत्यादि) भावों के साथ संवेदनात्मक तादात्म्य प्राप्त करके उनकी [१]सर्जना करता रहता है ।। २८ ।।

वृत्ति—यह जीवात्मा सर्वमय है क्योंकि यह निजी संवेदन के द्वारा संसार के प्रत्येक भाव की सर्जना करता रहता है। जो ही पदार्थ अनुभव में आता है वही संवेदन का विषय बन जाता है। यह (जीवात्मा) किसी भी बाह्य पदार्थ का अनुभव करने के तत्काल ही, उसको अपने शरीर के रूप में ग्रहण कर लेता है। अतः इसका वही एक शरीर नहीं होता है जिसके साथ सिर, पैर इत्यादि अंगों के चिह्न लगे हुये हों ।। २८ ।।

सूत्र—अतः सारे वाचक और वाच्यरूप पदार्थों की संवेदनाओं की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं है जो शिवरूप नहीं है। वास्तविक स्थिति यह है कि प्रत्येक स्थान पर भोक्ता (आत्मा) ही भोग्य (प्रमेय) पदार्थों के रूप में उल्लसित होकर शाश्वतरूप में वर्तमान है ।। २९ ।।

वृत्ति—आत्मा का वैसा सर्वमय स्वभाव होने के कारण, शब्दों और अर्थों की संवेदनाओं की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं है जो शिवमय स्वभाव को अभिव्यक्त करने वाली नहीं है। अतः वस्तुस्थिति यही है कि प्रत्येक स्थान पर भोक्ता (वेदक सत्ता) ही भोग्य पदार्थों (वेद्यसत्ता) के रूप में आभासमान है। भोग्य पदार्थ चेतन भोक्ता से इतर नहीं हैं ।। २९ ।।

सूत्र—जिस योगी के संवेदन का ऐसा रूप विकास में आया हो, वह सारे विश्व को केवल अपनी खिलकौरी के रूप में देखता हुआ, नित्ययुक्त (स्वरूप के साथ तन्मय) होता है। अतः इस बात में कोई संशय नहीं है कि वही पुरुष जीवन्मुक्त है ।। ३० ।।

वृत्ति—जिस योगी के चित्त का ऐसा स्वभाव विकास में आया हो कि 'यह समूचा विश्व मेरा ही स्वरूप है', वह समूचे प्रमेयविश्व को अपनी खिलवाड़ के रूप में देखता हुआ, [२]नित्ययुक्त होने के कारण, पाञ्चभौतिक काया में रहता हुआ भी ईश्वर की तरह मुक्त है। ऐसे व्यक्ति के लिये शरीर इत्यादि की वर्तमानता बन्धक के रूप में नहीं होती है ।। ३० ।।

---

१. स्पन्दशास्त्र में 'सृष्टि', शब्द से सृष्टि, स्थिति, संहार विधान और अनुग्रह इन पांचों कृत्यों का अभिप्राय लिया जाता है।

२. प्रतिसमय स्वरूपसत्ता के साथ आंतरिक रूप में जुड़ा हुआ।

विवरण

प्रस्तुत सूत्रों में आत्मसत्ता की वास्तविक सर्वमयता का मन्तव्य प्रस्तुत किया गया है। इस मन्तव्य के अनुसार संसारी जीव भी वैसा ही विश्वशरीरी है जैसा कि स्वयं भगवान शिव है। जिस प्रकार भगवान अपनी नित्यस्पन्दमयी विमर्शशक्ति के द्वारा अनन्त प्रकार के वेदकों और वेद्यों से परिपूर्ण विश्व को सत्ता देकर, उसको अपने शरीर के रूप में धारण करके अवस्थित है, उसी प्रकार जीव भी पग पग पर अपने संवेदन के द्वारा प्रत्येक प्रकार के भूतात्मक या भावात्मक पदार्थों को सत्ता देकर, उनको अपने शरीर के रूप में ग्रहण करता हुआ अवस्थित रहता है। आत्मसत्ता चाहे शिवभाव पर अवस्थित हो या पशुभाव पर, स्वभावतः वेदक सत्ता है क्योंकि ज्ञान-क्रियामयी स्पन्दना ही इसका मात्र स्वरूप है। सारे वेद्य पदार्थों का अस्तित्व या अनस्तित्व मौलिक वेदक-सत्ता पर ही निर्भर है क्योंकि वही चेतन होने के कारण अपने स्वतन्त्र संवेदन के द्वारा उनको [1]सत्ता प्रदान करती है। फलतः विशेष अकार-प्रकार वाला और सिर पैर इत्यादि अङ्गों की सहकारिता से उपलक्षित, पाञ्चभौतिक शरीर ही जीवात्मा का मात्र [2]शरीर नहीं होता है अपितु उससे इतर जिन जिन पदार्थों के साथ उसकी संवेदनात्मक एकाकारता होती रहती है, उन उन में संवेदन के ही रूप में अनुप्रविष्ट होकर, उनको अपना शरीर बनाता रहता है। अतः इस दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि पर यदि दृढ अनुसंधान किया जाये तो स्वयं यह तथ्य अनुभव में आ जाता है कि जीवात्मा भी वास्तव में विश्वशरीरी (सर्वमय) है।

संसार के सारे संवेद्य विषय, जिनको जीवात्मा संवेदन के द्वारा शरीर रूप में स्वीकारता या नकारता रहता है, दो प्रकार के हैं—'भूतात्मक विषय' और 'भावात्मक विषय'। इनकी परिभाषा इस प्रकार है—

१. **भूतात्मक विषय**—वे विषय, जो पांच महाभूतों के मिश्रण से बने हुये, विचित्र एवं अनेक आकार-प्रकारों वाले, बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य, निश्चित सिर, पैर, हाथ इत्यादि अङ्गों से युक्त और स्थूल हैं। इनमें प्रत्येक प्रकार के स्थूल शरीर अन्तर्भूत हो जाते हैं।

२. **भावात्मक विषय**—वे विषय, जिनका कोई अङ्गों और उपाङ्गों वाला और स्थूल आकार-प्रकार वाला मूर्त शरीर नहीं है और केवल संवेदनात्मक

---

१. यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये।
वेदकं वेद्यमेकं तु........................॥

(उ० मै०, शिव सूत्र १.१ में उदाहृत)

२. एवञ्च यद् यदयं जीवः संवेत्ति तत्तदस्य शरीरमेव संपद्यते, न तु नियतशिरःपाण्याद्यवयवसन्निवेश एव॥ (स्प० का० वि०, ३.३)

अनुभूति से ही गम्य हैं। इनमें सुख, दुःख, धर्म, अधर्म इत्यादि अनन्त प्रकार के विषय अन्तर्भूत हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त संवेद्य विषयों के और भी दो रूप होते हैं 'भावरूप विषय' और 'अभावरूप विषय'।

भावरूप विषय—वे विषय, जिनका संसार में भावरूप में अस्तित्व विद्यमान है जैसे घट, पट, सुख दुःख इत्यादि।

अभावरूप विषय—वे विषय, जिनका अस्तित्व तो है परन्तु अभावरूप में जैसे—आकाश पुष्प, खरगोश के सींग, बांझ का बेटा, सांप के कान इत्यादि।

ऊपर की यह विभाग कल्पना मात्र औपचारिक है क्योंकि संवेदन में प्रत्येक प्रकार के विषय की स्थिति में कोई अन्तर नहीं है। संवेदन में मूर्त घट की जैसी अनुभूति होती है वैसी ही अमूर्त सुख-दुःखादि की भी। दूसरी बात यह है कि संवेदन में प्रत्येक प्रकार के विषय की अनुभूति हमेशा भावरूप में ही होती है, अभावरूप में नहीं। उदाहरणार्थ संवेदन में आकाशपुष्प इत्यादि अभावरूप पदार्थों का अस्तित्व भी घट-पट इत्यादि भावरूप पदार्थों का जैसा ही होता है। वास्तव में यह बात निर्विवाद है कि संवेदन में जो कुछ है उसी का अस्तित्व है, अन्य का नहीं।

[1]जीवात्मा को जिस समय जिस किसी विषय की ओर संवेदनात्मक उन्मुखता हो जाती है उस संवेद्यमानता के समय में वही विषय उसका शरीर बन जाता है क्योंकि उस समय संवेदन तद्-रूप ही बन जाता है। वास्तव में संवेद्य मानता[2] शब्द का अभिप्राय ही यह है कि उस समय संवेदन उसी विषय के रूप में प्रकाशमान होने लगता है।

संवेद्यमानता के समय में किसी विषय को शरीर के रूप में ग्रहण करने का ही अर्थ यह है कि उस समय जीवात्मा स्वतन्त्र संवेदन के द्वारा उस विषय को सत्ता देकर उसकी सृष्टि करता है। दूसरे ही क्षण किसी दूसरे विषय की ओर संवेदनात्मक उन्मुखता हो जाने पर पहले विषय का संहार और दूसरे की सृष्टि का कार्य सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार जीवात्मा भी विश्वात्मा की तरह ही क्षण क्षण अन्यान्य शरीरों को स्वीकारता या नकारता हुआ, उनकी सृष्टि और संहार[3] आदि करता रहता है।

---

१. एवञ्च............संवेद्यमानतावस्थायामेव शरीरी भवति।
(स्प० का० वि०, ३.३)

२. 'संवेद्यमानता च तेन तेन रूपेण प्रकाशमानता।' (तदेव)

३. शेष तीन कृत्यों की प्रक्रिया समझने के लिये विशेषरूप से द्रष्टव्य 'स्पन्द संदोह' क्षेमराजाचार्य।

वस्तुस्थिति तो यही है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु शोक इस बात का है कि पशुभाव के कारागार का बन्दी अपनी पाञ्चभौतिक काया की दृढ प्राचीरों के बाहर भी फैले हुये अपने रूपविस्तार को देखता हुआ भी देख नहीं पाता है। यही शक्ति-दरिद्रता की विडम्बना है ॥ २८–२९–३० ॥

[मन्त्रदेवता और चित्त]

अगले दो सूत्रों में यह समझाया जा रहा है कि आत्मसत्ता की ऐसी ही पूर्वोक्त व्यापकता का बार बार अनुसन्धान करने से योगी का संवेदन इतना तीव्र हो जाता है कि मन्त्र का उच्चारण करने के तत्काल ही उसका चित्त मन्त्र के देवता के साथ एकाकार हो जाता है। यह तीव्र एकाग्रता ही उसको अन्ततोगत्वा शिवभाव पर पहुँचा देती है—

अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायिचेतसि ।
तदात्मतासमापत्तिरिच्छतः साधकस्य या ॥ ३१ ॥

तत्संवेदनद्वारेण यः तदात्मग्रहो मन्त्रन्यासात्मकः स एवोदयः तस्य ध्येयस्य मन्त्रात्मनः साधकचेतसि, तादात्म्यं तत्स्वभावत्वप्राप्तिः मन्त्रदेवतया सह साधकस्य मन्त्रोच्चारणेच्छया संपादिता ॥ ३१ ॥

इयमेवामृतप्राप्तिरयमेवात्मनो ग्रहः ।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी ॥ ३२ ॥

इयमेव सा मिथ्याज्ञानशून्यस्य साधकस्य निरावरणस्वस्वरूपसंवित्तिः अमृतत्वप्राप्तिः, न तु रसास्वादरूपस्य धातुसारस्य स्थूलस्यास्वादनम् अमृतप्राप्तिरुक्ता, यैव मन्त्रोच्चारणमात्रेणैव मन्त्रस्वरूपावस्थितिप्राप्तिः सैवात्मनो ग्रहणमित्युक्ता। यस्मात् 'आत्मनो ग्रहण कुर्याद्दीक्षाकाले गुरुर्धिया' इति। न पुनर्लोष्टादिवत् हस्तेन तस्यामूर्तस्य ग्रहणं भवति, अत एव चेयमेव सा निर्वाणदीक्षा शिवसद्भावदायिनी, परमशिवस्वरूपाभिव्यञ्जिका ॥ ३२ ॥

अनुवाद

सूत्र—ध्यान करने वाले (योगी) के चित्त में, ध्येय (ध्यान का विषय बने हुये देवता) का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होना इसी को कहते हैं कि उसके चित्त को (मंत्र का उच्चारण करने की) इच्छा होने के तत्काल ही उसके साथ (देवता के साथ) तादात्म्य हो जाता है ॥ ३१ ॥

वृत्ति—संवेदन के द्वारा जो उस ध्येय अर्थात् मन्त्रस्वरूप अथवा मन्त्र के द्वारा ध्येय देवता का, मन्त्रात्मक या न्यासात्मक अर्थात् मन्त्र पढ़ने या न्यास करने के साथ ही, आत्मरूप में ग्रहण अर्थात् तादात्म्य हो जाता है, उसी को साधक के

चित्त में उस देवता का उदय होना अर्थात् प्रत्यक्ष साक्षात्कार होना कहते हैं। तादात्म्य हो जाने का अभिप्राय यह है कि साधक उस देवता के स्वभाव को ही प्राप्त कर लेता है। साधक को उस मन्त्रदेवता के साथ ऐसा तादात्म्य मन्त्र का उच्चारण करने की इच्छामात्र से ही सम्पन्न हो जाता है ॥ ३१ ॥

सूत्र—यही अमृत को प्राप्त करना होता है; इसी को आत्मा का ग्रहण[१] कहते हैं, यही वास्तविक निर्वाण दीक्षा होती है और यही (साधक को) शिवभाव की प्राप्ति करवा लेती है ॥ ३२ ॥

वृत्ति ज्ञानी होने की ढोंगबाजी से रहित योगी का ऐसा आवरणहीन और निर्मल स्वात्मसंवेदन ही उसके लिये वास्तव में अमृतत्व अर्थात् अविनश्वर शिवभाव को प्राप्त करना होता है। इसके प्रतिकूल किसी स्थूल और [२]धातुओं के संमिश्रण से बनाये गये, शरीर के अन्तर्वर्ती धातुओं को पुष्टि देने वाले और स्वादिष्ट (केवल जीभ को मीठा लगने वाला) [३]रस का आस्वाद लेना अमृतत्व को प्राप्त करना नहीं होता है। (साधनामार्ग में) आत्मग्रह अर्थात् आत्मा की अनुभूति प्राप्त करना ऐसी स्थिति को कहते हैं जब मन्त्र का उच्चारणमात्र करने से ही मन्त्रस्वरूप में अवस्थिति अर्थात् मन्त्रदेवता के साथ स्वरूपतादात्म्य की स्थिति प्राप्त होती है क्योंकि :—

'दीक्षा के समय गुरु आत्मा का ग्रहण करे अर्थात् अन्तर्विमर्श के द्वारा, शिष्य को दिये जाने वाले मन्त्र की देवता के स्वरूप में स्वयं अवस्थित रहे।' ऐसा कहा गया है।

निराकार आत्मा को मिट्टी के ढेले या दूसरे किसी स्थूल पदार्थ की तरह (हाथ से) पकड़ा नहीं जाता है। इस कारण से यह आत्म-अनुभूति ही वास्तविक 'निर्वाण-दीक्षा' होती है जो कि (साधक के अन्तर में ही) अनुत्तर शिवभाव को अभिव्यक्त कर देती है ॥ ३२ ॥

---

१. शांभव और शाक्त उपायों के अधिकारी योगियों के लिए 'आत्मग्रह' आत्मज्ञान या स्वरूपविकास होता है और आणव उपाय पर अवस्थित अवर अधिकारियों के लिये इस शब्द का अर्थ 'मानसिक-निग्रह' होता है।

२. यहाँ पर 'धातुओं' से वैद्यक के अनुसार धातुओं को फूँक कर बनाये गये भस्मों का अभिप्राय है।

३. वैद्यक के अनुसार धातुओं के भस्मों को मिलाकर बनाई गई स्वादिष्ट एवं पौष्टिक औषधियों को रस कहते हैं। यद्यपि वैद्यक में कहा गया है कि रस मनुष्य को अमर बना लेते हैं तथापि वह तो दीर्घायु को सूचित करने के लिये केवल एक औपचारिक प्रयोग है।

विवरण

प्रस्तुत सूत्रों का भाव अच्छी प्रकार समझने के लिये निम्नलिखित बातें ध्यान में रखना परम आवश्यक है—

सूत्र संख्या ३१ में मन्त्र देवता का ध्यान करने वाले साधक के चित्त में उस देवता के उदय होने की अथवा दूसरे शब्दों में उसका साक्षात्कार होने की चर्चा की गई है। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि विकल्प संस्कार के उपाय से योगी के संवेदन की विशुद्धता और एकाग्रता इतनी तीव्र हो जाती है कि वह इन्द्रियों के द्वारों से बाहिर की ओर स्पन्दित होती हुई संवित् की धारा को पूर्वोक्त अलंग्रास की युक्ति से अन्तर्हृदय के अवकाश में केन्द्रित कर सकता है। ऐसी अवस्था में उसको किसी भी मन्त्र का विमर्श करने के तत्काल ही उस मन्त्र देवता के साथ चित्त की एकाकारता हो जाती है। साधना के क्षेत्र में इसी को मन्त्रदेवता का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होना कहा जाता है। यह साक्षात्कार बिल्कुल संवेदनात्मक होता है क्योंकि देवता, स्वरूप से व्यतिरिक्त, और किसी विशेष कायिक आकार-प्रकार को धारण करके सामने नही आता है। स्मरण रहे कि यह शाक्त-उपाय की उच्चतर भूमिका है और इसपर परमेश्वर के तीव्र शक्तिपात से पवित्र बने हुए अन्तःकरणों वाले कुछ इने गिने व्यक्ति ही पहुँच सकते हैं। भगवान अभिनवगुप्त ने ऐसे सौभाग्यशाली साधकों की महत्ता का वर्णन करते हुये कहा है कि—"जिस प्रकार [१]केतकीपुष्प के सौरभ का रसिक भौंरा ही होता है, मक्खी नहीं, उसी प्रकार किसी विरले ही व्यक्ति के मन में भैरवीय अभेदभूमिका को प्राप्त करने के प्रति अतिशय रूचि होती है। ऐसे रुचिसम्पन्न योगी के लिये [२]संसार का आडम्बर स्वयं ही उसी प्रकार गलता जाता है जिस प्रकार ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप में सुदृढ हिमानियां स्वयं ही गलकर बह जाती है।

इसके अतिरिक्त भट्टकल्लट ने इसी सूत्र में उल्लिखित 'इच्छतः' शब्द का अर्थ मन्त्र का उच्चारण करने की इच्छा लगाया है। इस सम्बन्ध में यह समझना आवश्यक है कि किसी भी शब्द का उच्चारण करते समय उच्चारण की दो स्थितियाँ सक्रिय होती हैं। एक अव्यक्त ध्वनिरूपा आन्तरिक विमर्शमयी और दूसरी उसकी अनुगामिनी व्यक्त ध्वनिरूपा बाह्य वैखरीमयी स्थिति। इनमें से पहली विमर्शमयी स्थिति मूलभूत इच्छारूपा स्थिति होती है। यद्यपि यह स्थिति प्रति-समय प्रत्येक प्राणी के अंतस् में क्रियाशील रहती है परन्तु बहिर्मुख होने के कारण

१. केतकीकुसुमसौरभे भृशं भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यति महेशचोदितः॥ (तं०, ४. २७६)

२. अस्मिश्च यागे विश्रान्तिं कुर्वतां भवडम्बरः।
हिमानीव महाग्रीष्मे स्वयमेव विलीयते॥ (तदेव, ४.२७७)

वह उससे सचेत नहीं होता है। प्रस्तुत प्रकरण में मन्त्रोच्चारण के सम्बन्ध में, मन्त्रोच्चारण की इसी पहलो [1]विमर्शमयी अथवा इच्छारूपा स्थिति का ही अभिप्राय है क्योंकि शाक्त-उपाय पर चलने वाले साधकों की सारी क्रियायें विमर्शमयी ही होती हैं। वैखरीवाणी के द्वारा ऊँची आवाज़ में मन्त्रों का उच्चारण करना आणव उपाय पर चलने वाले अवर अधिकारियों के लिये ही लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। मन्त्रों के विमर्शमय उच्चारण में इतनी शक्ति होती है कि साधक का चित्त और परप्रकाशरूप [2]बिन्दु, उसी प्रकार तीव्रगति से एक दूसरे की ओर आकर एकाकार हो जाते हैं, जिस प्रकार धनुष के प्रचण्ड आघात से धकेला गया तीर अतिस्वनिक वेग में दौड़ कर लक्ष्य के साथ मिल जाता है।

सूत्र संख्या ३२ में 'निर्वाण दीक्षा' का उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान में रखना आवश्यक है।

आध्यात्मिक जगत् में 'दीक्षा' शब्द से ऐसे विशेष प्रकार के संस्कारों का अभिप्राय लिया जाता है जिनके द्वारा सिद्ध गुरु अपने शिष्यों में, उनकी मानसिक योग्यताओं के अनुसार, अनेक प्रकार की योग सम्बन्धी अनुभूतियों को संक्रमित करके, पलक भर में उनका उद्धार कर लेते हैं। शास्त्रों के अनुसार [3]'दीक्षा' शब्द के 'दी' वर्ण में ज्ञान के संक्रमण और, 'क्षा' वर्ण में कर्मवासनाओं का नाश किये जाने का अभिप्राय अन्तर्निहित है।

तंत्रशास्त्रों में अनेक प्रकार की दीक्षाओं और उनके साथ सम्बन्धित शास्त्रीय विधि-विधानों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। शिष्यों की मानसिक योग्यताओं को अच्छी प्रकार जांचने के अनन्तर ही गुरु यह निर्णय कर लेता है कि किस शिष्य को कैसी दीक्षा देना उचित है।

सारी दीक्षाओं में 'निर्वाण [4]दीक्षा' असामान्य और दुर्लभ मानी जाती है क्योंकि जिस सौभाग्यशाली को यह मिले, उसके मन में, युगयुगों से संचित और पिंड न छोड़ने वाली वासनायें, क्षणभर में विगलित हो जाती हैं और वह सहसा पुर्यष्टक के बन्धन से मुक्त होकर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

---

१. उच्चारेण विमर्शरूपेण न तु स्थानकरणप्रयत्नरूपबीजाक्षरोच्चारेण, तस्याणवोपायपर्यवसायित्वात् ॥ (शिव सूत्र वि०, २.२ की टिप्पणी)

२. यथा शरो धनुसंस्थो यत्नेनाताड्य धावति ।
तथा बिन्दुर्वरारोहे ! उच्चारेणैव धावति ॥
(तं० सं०, शिव सूत्र, २.२ में उदाहृत)

३. दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते कर्मवासनाः ।
दानक्षपण संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥ (तं० वि०, १.४३)

४. तथा इयमेव निर्वाणदीक्षा·········संस्कारविशेषः । (स्प० का०, ४.२)

अब प्रश्न यह है कि क्या आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये 'निर्वाण दीक्षा' संस्कार का और उसके शास्त्रीय विधि-विधानों का पूरा किया जाना एक अनिवार्य आवश्यकता है ? सूत्रकार ने इस शङ्का का समाधान मूलसूत्र में शब्दों को एक विशेष ढंग में रखने से ही किया है। उसने सूत्र के पहले और दूसरे चरण में जहां 'अमृतप्राप्तिः' और 'आत्मनो ग्रहः' इन दो शब्दों के साथ निश्चित रूप से 'एव' शब्द का प्रयोग किया है वहाँ तीसरे चरण में 'निर्वाण दीक्षा' शब्द के साथ जानबूझ कर 'एव' के बदले 'च' का प्रयोग किया है। ऐसा किये जाने का विशेष अभिप्राय यह है कि 'निर्वाण दीक्षा' नामक संस्कार के आश्चर्यजनक महत्व की उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती है परन्तु ईश्वरीय अनुग्रह के लोकोत्तर तौरतरीके मात्र शास्त्रीय विधि-विधानों के वशवर्ती भी नहीं हैं। जिन महान आत्माओं पर परमेश्वर का दृढ़ शक्तिपात हो उनको [1]देवियों ने अर्थात् पारमेश्वरी शक्तियों ने स्वयं अज्ञातरूप में दीक्षित किया होता है जिसके फलस्वरूप उनके मन में सांसिद्धिक रूप में सत्-तर्क (शुद्धविद्या) का उदय होता है। फलतः जिन व्यक्तियों को किसी भी अचिन्त्य या अज्ञात प्रकार से मन्त्रवीर्य की अनुभूति हो जाये तो वही उनके लिये निर्वाण दीक्षा होती हैं, भले ही [2]घी के दीये जलाकर और सामग्री के भण्डार जला कर संस्कार के शास्त्रीय विधि-विधानों को पूरा करने का आडम्बर न भी रचाया गया हो।

श्रीमद् सोमानन्दाचार्य, श्रीमद् उत्पलाचार्य या श्रीमद् अभिनवगुप्ताचार्य जैसे शैवदर्शन के उद्भट और वरिष्ठ सिद्धों का इस बात पर मतैक्य है कि आत्मशक्ति का प्रत्यभिज्ञान चाहे किसी भी [3]प्रमाण से, शास्त्रों के अध्ययन से, गुरुओं के उपदेश से या अन्य किसी अदृश्य प्रकार से यदि हो गया तो हो गया, फिर सारे उपायजालों या निर्वाणदीक्षा जैसे संस्कारों के शास्त्रीय विधि-विधानों का कोई प्रयोजन अवशिष्ट नहीं रहता है। एक बार यह ज्ञान हो गया कि अमुक पदार्थ खरा सोना है तो उसको परखने के लिये कसौटियों पर घिसने की आवश्यकता नहीं रहती है ॥३२॥

इति श्रीकल्लटाचार्यविरचितायां स्पन्दकारिकावृत्तौ 'सहजविद्योदयो'
नाम द्वितीयो निष्यन्दः ॥ २ ॥

श्रीमान् कल्लटाचार्य के द्वारा विरचित 'स्पन्दकारिकावृत्ति' का
'सहजविद्योदय' नामक दूसरा निःष्यन्द समाप्त हुआ ॥

—❀❀❀—

१. तत्र अतिदृढशक्तिपाताविद्धस्य स्वयमेव सांसिद्धिकतया सत्तर्क उदेति,
योऽसौ देवीभिः दीक्षित इति उच्यते ॥ (तं० सा०, २३ पृष्ठ)

२. एवं यो वेदतत्त्वेन तस्य निर्वाणदायिनी।
दीक्षा भवत्यसंदिग्धा तिलाख्याहुतिवर्जिता ॥ (प० त्रि०, २५)

३. द्रष्टव्य शिवदृष्टि आह्निक ७ और तंत्रालोक आह्निक २.

तीसरा निःष्यन्द

'विभूतिस्पन्द' नामक तीसरा निःष्यन्द

यहाँ तक के दो निःष्यन्दों में सामान्य स्पन्द-तत्त्व के स्वरूप का और, उसमें समाविष्ट होकर सुप्रबुद्ध प्रमातृभाव पर आरूढ़ होने के प्रक्रिया का यथावत् वर्णन किया गया। अब प्रस्तुत निःष्यन्द में इस विषय की चर्चा की जा रही है कि उल्लिखिक शाक्त-भूमिका की अनुभूति प्राप्त करके, अभ्यास की दृढ़ता से इस भाव पर स्थिर रहने के लिये सक्षम योगीश्वर में, अनेक प्रकार की पर एवं अपर सिद्धियाँ सहज ही में विकसित हो जाती हैं। इन सिद्धियों को दूसरे शास्त्रीय शब्दों में क्रमशः अमितसिद्धियाँ और मितसिद्धियाँ भी कहते हैं। अमितसिद्धियाँ तो उत्कृष्ट योगियों में अभिव्यक्त होने वाले सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता इत्यादि माहेश्वर धर्म ही होती हैं परन्तु जहाँ तक मितसिद्धियों का सम्बन्ध है वे तो साधारण सांसारिक फलों को देनेवाली तुच्छातितुच्छ सिद्धियाँ होती हैं। असावधान योगी उनके चक्कर में पड़कर निःसंशय अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। सांसारिक आसक्तियों में आकर्षण होता है अतः सच्चे मुमुक्षु साधकों को, असाधारण कुशलता से, उनसे बच कर निकलना पड़ता है। पहुँचे हुये अनुभवी योगियों में भी विरले ही इतने धीर होते हैं जो तीव्र आत्मशक्ति से सांसारिक आसक्तियों को कुचल कर आगे बढ़ते हुये, अन्ततोगत्वा; 'चक्रेश्वर पदवी'[1] पर पहुँच कर ही विश्रान्त हो जाते हैं॥

[योगियों का स्तर और स्वातन्त्र्य]

योगसिद्धियों का वर्णन करने के प्रसङ्ग में अब अगले तीन सूत्रों में जाग्रत्-स्वातन्त्र्य और स्वप्न-स्वातन्त्र्य नामक सिद्धियों का और असावधान योगियों में पाई जानेवाली स्वातन्त्र्य की हानि का वर्णन किया जा रहा है—

[2]यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रतोऽर्थान् हृदि स्थितम्।
सोमसूर्योदयं कृत्वा संपादयति देहिनः॥ ३३॥

---

१. द्रष्टव्य सूत्र सं० ५१ का विवरण.

२. इन तीनों सूत्रों और इनकी वृत्तियों में भी भावों को अत्यधिक सूत्रात्मक भाषा के आवरण में रखा गया है। अतः, पाठकों के सुभीते के लिये, इनका भाषानुवाद करने में कुछ मात्रा तक स्वतन्त्रता बरती गई है॥

तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थान् प्रणयस्यानतिक्रमात् ।
नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थितोऽवश्यं प्रकाशयेत् ॥ ३४ ॥
अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात् सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः ।
सततं लौकिकस्येव जाग्रत्स्वप्नपदद्वये ॥ ३५ ॥

यथास्यानभिव्यक्तस्वस्वरूपस्य योगिनो जाग्रदवस्थायां यथा यथा इच्छा भवति, तथैव तस्यानेकार्थसंनिधानेऽभिमतस्यैव कस्यचिदर्थस्य दर्शनं भवति नटमल्लप्रेक्षादिषु सोमसूर्योदयं कृत्वा चक्षुरादिष्ववधानेन ॥ ३३ ॥

तथा स्वप्नेऽपि अभीष्टार्थानेव पश्यति, प्रणयस्यानतिक्रमात् इच्छाभ्यर्थनाया अनतिक्रमात्, यच्च तन्मध्ये हृदयं स्फुटतरम् अभिव्यक्तम् नित्य तदेतत् 'स्वप्न-स्वातन्त्र्यम्' इत्युच्यते, अयमेव तमोवरणनिर्भेद इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अन्यथा तु स्वरूपस्थित्यभावे स्वतन्त्रा स्यात् स्वप्ने आलबिड़ालदर्शनरूपा सृष्टिः, यस्मात् तत्तत्वं सृष्टिस्वभावं प्रसवधर्मत्वात्; यथा सततं सर्वस्य लोकस्य जाग्रद्वृत्तौ स्वप्नावस्थायां च सबंन्धासंबन्धविकल्पाः ॥ ३५ ॥

अनुवाद

सूत्र— जिस प्रकार—[१]धाता, अभी [२]देहाभिमान में ही अवस्थित परन्तु नियमित रूप में योगाभ्यास करनेवाले योगी के द्वारा, (संकल्पात्मक) इच्छा के रूप में [३]अभ्यर्थना किये जाने पर, उसके [४]नेत्रों में अत्यन्त तीव्र अवधानात्मक शक्ति का उदय करके, उसको जाग्रत्-अवस्था में उन्हीं पदार्थों का दर्शन करवाता है जिनको देखने की इच्छा उसके हृदय में हो ॥ ३३ ॥

---

१. प्रत्येक प्राणी के अन्तर्हृदय में विद्यमान चित्-शक्ति ।

२. सूत्र में उल्लिखित 'देहिनः' शब्द से भट्टकल्लट ने यही अभिप्राय लिया है यद्यपि अन्य कतिपय टीकाकारों ने इस शब्द का अर्थ 'सर्वसाधारणदेहधारी' ही लगाया है ।

३. प्रस्तुत प्रकरण में योगी की आन्तरिक इच्छारूप अभ्यर्थना से उसके संकल्पमात्र का अभिप्राय है । इस स्तर के योगियों की योगिसंकल्पात्मक अभ्यर्थना को पारिभाषिक शब्दों में 'दिदृक्षारूपा, अभ्यर्थना' कहा जाता है ।

४. सूत्र में उल्लिखित 'सोमसूर्य' शब्द से भट्टकल्लट ने दो नेत्रों का अभिप्राय लिया है । साथ ही इसी शब्द से नेत्रों के अतिरिक्त अन्य अवशिष्ट चार ज्ञानेन्द्रियों का भी ग्रहण करके यह अभिप्राय निकाला है कि योगी को जिस किसी भी ज्ञानेन्द्रिय के ग्राह्य विषयों में से किसी मनोनीत विषय का साक्षात्कार करने की इच्छा हो तो धाता उसकी उसी ज्ञानेन्द्रिय में तदनुकूल अवधानात्मक शक्ति का उदय कर देता है ।

उसी प्रकार—

सूत्र—(परिपक्व योगियों को) स्वप्न-अवस्था में भी अवश्य अभिलषित पदार्थों का ही साक्षात्कार करवाता है। इसका कारण यह है कि (वह धाता इस स्तर पर अवस्थित योगियों के) मध्यधाम[१] (सुषुम्णाधाम) में प्रतिसमय स्फुटतर-रूप में प्रकाशमान रहता है और, उनके [२]प्रणय का कभी भी अतिक्रमण नहीं करता है ॥ ३४ ॥

इसके विपरीत—

सूत्र—यदि योगी, स्वरूप-साक्षात्कार प्राप्त कर लेने पर भी उस भाव पर निश्चलता से अवस्थित रहने के प्रति सावधान न रहे, तो उसके लिये जाग्रत् और स्वप्न दोनों पदों में भावों की सृष्टि उसी प्रकार स्वतन्त्ररूप में चलती रहती है जिस प्रकार वह सर्वसाधारण लौकिक प्राणियों के लिये चलती रहती है। स्वतन्त्र रूप में भावों की उत्तरोत्तर सर्जना करते रहना तो स्पन्द-शक्ति का अकाट्य स्वभाव ही है ॥ ३५ ॥

जिसप्रकार—

वृत्ति—एक ऐसे योगी को, जिसमें अभी स्वस्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति न भी हुई हो, जाग्रत्-अवस्था में अपनी इच्छा के अनुसार, कोई खास अभिलषित पदार्थ ही दिखाई देता है चाहे उसके सामने दूसरे अनेकों पदार्थ भी वर्तमान क्यों न हों। इसका कारण यह है कि ऐसे अवसरों पर धाता उस योगी में सोम-सूर्य का उदय करवा देता है, अर्थात् उसकी नेत्र इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों में (उस अभिलषित ग्राह्य-विषय के प्रति) तीव्र अवधानात्मक शक्ति का उदय करवाता है। (साधारण जीव-व्यवहार में भी किन्हीं अवसरों पर ज्ञानेन्द्रियों में पाई जाने वाली इस तीव्र अवधानात्मक स्थिति का आभास) [३]नटों या पहलवानों के सार्वजनिक प्रेक्षणों में मिलता है ॥ ३३ ॥

---

१. प्राणाभ्यास की दृष्टि से इसका अभिप्राय यह है कि मध्य नाड़ी का विकास हो जाने पर जिन योगियों के प्राण एवं अपान दोनों ऊर्ध्व-मार्ग में लय हुए हों उनको 'स्वप्नस्वातन्त्र्य' प्राप्त हुआ होता है।

२. इस स्तर पर अवस्थित योगियों की योगिसंकल्पात्मक अभ्यर्थना को 'प्रणय-रूपा अभ्यर्थना' की संज्ञा दी गई है। आगे विवरण को पढ़ने का कष्ट करें।

३. यहाँ पर वृत्तिकार ने ज्ञानेन्द्रियों में उदित होने वाली तीव्र अवधानात्मक स्थिति का अनुभव कराने के लिये नटों एवं पहलवानों के प्रेक्षण का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस उदाहरण की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है। एक यह कि साधारण जीव-व्यवहार में भी, ऐसे प्रेक्षणों के अवसरों पर दर्शकों की ज्ञानेन्द्रियों में एक खास अवधानात्मक वृत्ति का उदय हो जाता है जिससे

उसीप्रकार—

वृत्ति—(एक परिपक्व) योगी स्वप्न-अवस्था में भी अभिलषित पदार्थों का ही दर्शन कर लेता है। इसका कारण यह है कि धाता उसके प्रणय को अर्थात् आन्तरिक इच्छारूप अभ्यर्थना को कभी भी नहीं टालता है। ऐसे योगी के मध्य अर्थात् सुषुम्णा-धाम में प्रतिसमय हृदय अर्थात् चित्-शक्ति की अनुभूति स्फुटतर रूप में विद्यमान रहती है। इस अवस्था को (पारिभाषिक शब्दों में) 'स्वप्न-स्वातंत्र्य' कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि 'स्वप्न-स्वातंत्र्य' की अवस्था ही इस बात की सूचिका होती है कि योगी के हृदय पर विद्यमान तामसिक आवरण फट गया है ॥ ३४ ॥

इसके विपरीत—

वृत्ति—यदि योगी स्वस्वरूप में पूर्णतया अवस्थित रहने में सावधानी न बरते तो उसके लिये स्वप्न-अवस्था में ऊल-जलूल भावों की ही सृष्टि स्वतन्त्ररूप में चलती रहती है। इसका कारण यह है कि स्पन्द-शक्ति प्रसवधर्मा है अर्थात् उत्तरोत्तर भावों की सर्जना करते रहना उसका स्वभाव है। असावधान योगी को, जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में, आम लौकिक प्राणियों की तरह, उटपटांग विकल्पों का ही साक्षात्कार होता रहता है ॥ ३५ ॥

विवरण

प्रस्तुत सूत्रों के व्याख्यान में, स्पन्द-सूत्रों के प्राचीन टीकाकारों में मतैक्य नहीं पाया जाता है। वास्तव में इस सूत्रों की शब्दावलि के प्रयोग का ढंग ही कुछ इस प्रकार का है किसी भी व्याख्याकार के मन में, सूत्रों के अर्थ के विषय में, अनेकों शंकायें उत्पन्न हो सकती हैं। अस्तु, इन टीकाकारों के पारस्परिक मतभेद के झमेले में पडना प्रस्तुत प्रयास का लक्ष्य नहीं है। यहां पर केवल इतना ही समझना पर्याप्त है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में हमारे वृत्तिकार भट्टकल्लट का दृष्टिकोण क्या रहा है ?

भट्टकल्लट की वृत्ति का सूक्ष्म अध्ययन और गम्भीर मनन करने के उपरान्त, पाठक सहज ही में इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि मूल सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्रों में, योगियों को, आध्यात्मिक योग्यता के आधार पर 'अपरिपक्व', 'परिपक्व' और

वे, प्रेक्षास्थलों पर दूसरी शतशः वस्तुओं के विद्यमान होने पर भी, केवल अभिलषित प्रेक्षण को ही देख लेते हैं। दूसरी यह कि योगाभ्यासी पूरुषों की ज्ञानेन्द्रियों में किसी खास अवधानात्मक शक्ति का उदय हो जाता है जिससे वे, नटों या पहलवानों के सार्वजनिक प्रेक्षणों के जैसे कोलाहलपूर्ण एवं मानसिक विकारों को उपजाने वाले अवसरों पर भी अभिलषित स्वस्वरूप का ही साक्षात्कार कर सकते हैं।

'असावधान' इन तीन श्रेणियों में बांट दिया है। इस अभिप्राय को अभिव्यक्त करने के लिये, उसने पहले सूत्र में 'जाग्रतः देहिनः', दूसरे में 'नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थितः' और तीसरे में 'अन्यथा' शब्दों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त इन तीन सूत्रों में, तीनों प्रकार के योगियों की संकल्पशक्ति की व्यापकता की परिधि भी निश्चित की गई है। सूत्रकार के इस सारे अभिप्राय को वृत्ति में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

१. पहले सूत्र में उल्लिखित 'जाग्रतः देहिनः' शब्दों का अर्थ वृत्ति में 'अनभिव्यक्त-स्वरूपस्य योगिनः' इस प्रकार लगाया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत प्रकरण में 'जाग्रतः देहिनः' इन शब्दों से संसार के सर्वसाधारण देहधारियों का नहीं, अपितु ऐसे योगियों का अभिप्राय है जो जाग्रत् अर्थात् अभ्यास के विषय में सावधान तो रहते हों परन्तु अभी [1]देहाभिमान के पूर्णतया गल न जाने के कारण स्वरूप पर अवस्थित भी न हों। इस स्तर के योगियों को अपरिपक्व योगियों के वर्ग में रखा जा सकता है।

२. वृत्तिकार ने, दूसरे सूत्र में उल्लिखित 'नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थितः' इन शब्दों का अर्थ–'यच्च तन्मध्ये हृदयं स्फुटतरम् अभिव्यक्तं नित्यम्' इस प्रकार लगाया है। इसके अनुसार भट्टकल्लट का अभिप्राय यह है कि जिस योगी को पाञ्चभौतिक काया में रहते हुये और जीवन का प्रत्येक आदान-प्रदान करते हुये भी, प्रतिक्षण, 'मध्य' में अर्थात् सुषुम्नाधाम में 'हृदय' की अर्थात् स्वरूपभूत शाक्तस्पन्दना की अनुभूति स्फुटतर रूप में होती रहती हो, उसको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों पदों में समानरूप से, भावमण्डल के सृष्टि एवं संहार की स्वतन्त्र अधिकारिता प्राप्त हुई होती है। इस कारण से इस स्तर के योगियों को परिपक्व योगियों का वर्ग कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में प्राणाभ्यास की दृष्टि से मध्यनाडी के विकास और, ज्ञानमार्ग को दृष्टि से प्रमाणपद और प्रमेयपद के मध्यवर्ती प्रमातृपद पर अवस्थिति इत्यादि बातों पर पहले ही सूत्र १, १८ में थोड़ा–बहुत प्रकाश डाला गया है॥

३. तीसरे सूत्र में 'अन्यथा' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ भट्टकल्लट ने 'स्वरूपस्थित्यभावे, लिखा है इसका अभिप्राय यह कि किसी योगी को स्वरूप की अनुभूति तो हुई होती है परन्तु अभी उस पर स्थिर रहने की क्षमता प्राप्त करने से पहले ही वह संसार के शब्द आदि विषयों से आकृष्ट होकर अखण्ड आत्म-अनुसंधान की बात को सर्वथा भूल जाता है। ऐसे योगी और संसार के इतर सर्वसाधारण लोगों में कोई अन्तर नहीं है।

---

१. द्रष्टव्यः शिव सूत्र १. १६ की १५७ वीं टिप्पणी।

इस स्तर के योगियों को असावधान योगियों के वर्ग में रखना युक्तियुक्ति प्रतीत होता है।

उल्लिखित योगियों में स्वातन्त्र्य का तारतम्य—इनमें से पहले प्रकार के योगियों को केवल जाग्रत् अवस्था पर स्वतन्त्र अधिकार होता है अर्थात् वे केवल इसी अवस्था में मनोनीत भाववर्ग का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं। इस स्तर के स्वातन्त्र्य को शास्त्रीय शब्दों में 'जाग्रत्-स्वातन्त्र्य' कहते हैं।

दूसरे प्रकार के योगी जाग्रत् और [1]स्वप्न दोनों अवस्थाओं में, समानरूप से, अभिलषित भावों का अनुभव करने में स्वतन्त्र होते हैं। स्मरण रहे कि प्रस्तुत सन्दर्भ में 'स्वप्न' से स्वप्न और सुषुप्ति[2] इन दोनों अवस्थाओं का ग्रहण किया जाता है। जहां तक जाग्रत् अवस्था का सम्बन्ध है, इन योगियों को उसकी स्वतन्त्र अधिकारिता पहले से ही सिद्ध होती है। फलतः परिपक्व योगियों की संकल्पशक्ति इतनी दृढ और तीव्र होती है कि वे तीनों पदों में समानरूप से स्वरूप पर अवस्थित रह सकने के कारण, प्रत्येक पद में मनोनीत विषयों का ही अनुभव करते रहते हैं। इस स्तर के स्वातन्त्र्य को शास्त्रीय शब्दों में 'स्वप्न-स्वातन्त्र्य' कहते हैं।

तीसरे प्रकार के योगी नित्ययुक्त होकर स्वरूप का अखण्ड अनुसन्धान करने में आनाकानी बरतने के कारण किसी भी अवस्था के साथ सम्बन्धित स्वतन्त्र अधिकारिता से हाथ धो बैठते हैं। वे तो संसार के सर्व साधारण प्राणियों की तरह, अपनी इच्छा के प्रतिकूल, उन्हीं उटपटांग विषयों का प्रति समय अनुभव करते हैं जिनका अनुभव त्रिगुणात्मिका प्रकृति उनको हठात् करवाती है।

अपरिपक्व और परिपक्व योगियों की इच्छा का रूप—अपरिपक्व योगियों की आन्तरिक इच्छा का रूप 'दिदृक्षारूपा अभ्यर्थना' अर्थात् मन चाहे विषयों को ही देखने की इच्छारूपा अभ्यर्थना बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में स्वभावतः मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या योगी की आत्मा और सूत्र में निर्दिष्ट 'धाता' दो भिन्न सत्तायें हैं जिनमें एक प्रार्थी और दूसरी प्रार्थना का आलम्बन है? इस शङ्का का समाधान प्राप्त करने के लिये यह समझना आवश्यक है कि प्रस्तुत प्रकरण में न तो योगी की आत्मा और धाता दो भिन्न सत्तायें हैं और न 'अभ्यर्थना' शब्द का; किसी के द्वारा किसी को प्रार्थना किये जाने का ही अभिप्राय है। यहां पर 'अभ्यर्थना' शब्द का अभिप्राय केवल तीव्र संवेदनात्मक एकाकारता है। इसका भाव यह है कि योगी की आत्मा अपनी तीव्र संकल्पशक्ति के द्वारा अभिलषित पदार्थों के

---

१. स्वप्नपद में बाह्य इन्द्रियों का कार्यकलाप बन्द रहने के कारण केवल मन से ही भावों का ग्रहण होता है। (दृष्टव्य : स्प० का० वि०, ४. ३–४)

२. स्वप्नेन सौषुप्तमप्युपलक्षितम्। (स्प० नि०, ३. १–२)

साथ इस प्रकार [1]एकाकार हो जाती है कि उसकी ज्ञानेन्द्रियां दूसरे अनन्त पदार्थों के सामने होते हुये भी केबल उन्हीं पदार्थों का ग्रहण कर लेती हैं। फलतः प्रस्तुत संदर्भ में योगी की आत्मा स्वयं ही प्रार्थी और प्रार्थना का आलम्बन भी है।

परिपक्व योगियों की इच्छा का रूप 'तादात्म्य-प्रतिपत्तिरूप-प्रणय' बतलाया गया है। 'तादात्म्यप्रतिपत्तिः' शब्द विशुद्ध संवेदन की उस उच्चतर अवस्था का द्योतक है जिस पर पहुँचे हुये योगी को प्रतिसमय संसार के अनन्त भावमण्डल में केवल अपने ही रूपविस्तार की अखण्ड अनुभूति होती रहती है। ऐसे योगी के स्वतन्त्र्य की व्यापकता अपरिमित होती है। उसकी इच्छा साधारण इच्छामात्र नहीं अपितु स्वतन्त्र इच्छाशक्ति होने के कारण कभी अन्यथा हो ही नहीं सकती है। यही कारण हैं कि सूत्रकार ने ऐसे तीव्रतर योगिसंकल्प को प्रणय का नाम दिया है। अभ्यर्थना का पूरा होना कभी कभी संदेहास्पद हो सकता है परन्तु 'प्रणय' में टालमटोल के लिये स्थान ही नहीं है ॥ ३३–३५ ॥

[संवित् स्पर्श से सर्वज्ञता]

अगले दो सूत्रों में इस तथ्य को प्रस्तुत किया जा रहा है कि शाक्त-बल का अनुभव हो जाने से योगी में सर्वज्ञता का विकास हो जाता है। उसको [2]अतीत, व्यवहित और विप्रकृष्ट विषयों या घटनाओं का ऐसा स्वतःसिद्ध ज्ञान हो जाता है कि मानो वह उनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर रहा हो। इन दो सूत्रों में से पहला दृष्टान्त और दूसरा दार्ष्टान्तिक है :—

यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि ।
भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः ॥ ३६ ॥

यथा किल दूरस्थितः कश्चिदर्थः पुरुषेण पूर्वं सावधानेनापि न लक्ष्यते स एव स्फुटतरो भवति, प्रयत्नविशेषेण निरूप्यमाणस्तत्रैव स्थितस्य ॥ ३६ ॥

तथा यत्परमार्थेन यदा यत्र यथा स्थितम् ।
तत्तथा बलमाक्रम्य न चिरात् संप्रवर्तते ॥ ३७ ॥

१. संवेदनात्मक एकाकारता को शास्त्रीय शब्दों में 'यथाभिमतशरीरोत्पत्तिः' कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा निजी संवेदन के द्वारा जिन विषयों की ओर उन्मुख हो जाती है उनको तावत्कालपर्यन्त अपना शरीर ही बना लेती है ॥

२. 'अतीत'—बीता हुआ
'व्यवहित'—भविष्य में होने वाला; किसी आड़ के पीछे छिपा हुआ।
'विप्रकृष्ट'—बहुत दूर होने के कारण साधारण इन्द्रियबोध से ओझल।

तथा तेनैव प्रयत्नविशेषेण यत् वस्तु येन रूपेण यदा यस्मिन् काले, यत्र देशे, यथा येनाकारेण संस्थितं, तद् वस्तु तथा स्वबलं स्वस्वरूपमाश्रितस्याचिरेणैव कालेन प्रतिभाति निरावरणस्वरूपत्वात् तेनातीतानागतं ज्ञानं परिमितविषयं न किंचिदाश्चर्यम् ॥ ३७ ॥

अनुवाद

सूत्र—जिस प्रकार, किसी व्यक्ति को कोई दूरस्थित पदार्थ, चित्त के सावधान होने पर भी, पहली नज़र में स्पष्टरूप में दिखाई नहीं देता है, परन्तु तत्काल ही आत्मबल का प्रयोग करके देखे जाने पर, उसको, वही पदार्थ स्पष्टतर रूप में दिखने लगता है ॥ ३६ ॥

उसी प्रकार योगी को, स्पन्दात्मक आत्मबल पर आरूढ़ होने की दशा में, थोड़े समय में ही वे सारे पदार्थ, जो जिस समय, जिस देश और जिस आकार-प्रकार में वर्तमान हों, ठीक उसी अवस्था में बोध का विषय बन जाते हैं ॥ ३७ ॥

वृत्ति—जिस प्रकार, किसी व्यक्ति को कोई दूरस्थित पदार्थ, सावधानता से देखे लाने पर भी, पहले स्पष्टरूप में परिलक्षित नहीं होता है, परन्तु अनन्तर उसी स्थान पर खड़ा रहते हुये ही, विशेष प्रयत्न के द्वारा देखे जाने पर उसको, नही पदार्थ बिलकुल स्पष्टरूप में दिखाई देता है उसी प्रकार स्पन्दात्मक स्वरूप में अवस्थित योगी को, वैसा ही विशेष प्रकार का प्रयत्न काम में लाने पर, थोड़े समय में, सारे पदार्थों के ठीक उसी रूप का बोध हो जाता है जिस रूप में वे जिस किसी देश, जिस किसी काल और जिस किसी आकार-प्रकार में वर्तमान हों। इसका कारण केवल यही है कि उस योगी के स्वरूप पर से तामसिक आवरण हटा हुआ होता है। फलतः योगियों के लिये अतीत एवं अनागत पदार्थों का सही रूप में बोध होना एक छोटी सी बात है। इसको कोई महान आश्चर्य समझने की आवश्यकता नही है ॥३६-३७॥

विवरण

शैवशास्त्रियों का विचार है कि साधारण जीवव्यवहार में भी जिस समय किसी प्राणी को, अपने से दूरस्थ और इसलिये ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा स्पष्टतर रूप में ग्रहण किये जाने के अयोग्य, शब्द आदि विषयों को, स्पष्टतर रूप में अपने इन्द्रिय बोध का विषय बनाने के प्रति तीव्र उन्मुखता हो जाती है, उस समय उसकी बहिर्मुखीन रूप में प्रवाहमान स्पन्द-धारा सहसा अन्तर्मुख होकर अपने मूल उद्‌गमस्थान सामान्य स्पन्द सागर में डुबकी लगा लेती है और पलकभर में फिर बहिर्मुख हो जाती है। सामान्य स्पन्द सागर तो चतुर्दिक-बोध-सागर ही है अतः उसके स्पर्शमात्र से ही केवल चित्त में ही नहीं, अपितु समूची ज्ञानेन्द्रियों में भी ऐसे आन्तरिक बोधबल का संचार

हो जाता है कि वे उन्हीं अस्पष्ट विषयों को स्पष्ट और यथावत् रूप में ग्रहण कर लेती हैं। पहले[1] बताया जा चुका है कि स्पन्द-शक्ति की इस आकस्मिक, अपरिलक्ष्य और विद्युत्सम अन्तःबहिः गतिशीलता को शास्त्रीय शब्दों में 'आत्मबल का स्पर्श' कहते हैं।

यद्यपि स्पन्द-शक्ति की यह गतिशीलता प्रतिक्षण आंतरिक रूप में चलती है तथापि साधारण प्राणियों को इसकी चेतना नहीं होती है। इसके प्रतिकूल योगियो को सद्-गुरुओं के अनुग्रह से इसका अनुभव हुआ होता है। वे तीव्रतर विमर्शात्मक अनुसन्धान और विशेष प्रकार के साधनात्मक प्रयत्नों के द्वारा इन अन्तरालवर्ती संवित् स्पर्शों को पकड़ कर उन पर स्थिर रह सकने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। फलतः उनकी संकल्प-शक्ति में इस मात्रा तक तीव्रता का उदय हो जाता है कि वे आवश्यकता पड़ने पर थोड़ी सी संवेदनात्मक एकाग्रता के द्वारा अतीत, अनागत और विप्रकृष्ट विषयों यथावत् रूप में जान सकते हैं ॥ ३६–३७ ॥

[संवित् स्पर्श से सर्वकर्तृता]

अगले दो सूत्रों में, शाक्त-बल पर अधिष्ठित रहने वाले योगी में उदित होने वाली सर्वकर्तृता पर प्रकाश डाला जा रहा है। दोनों सूत्रों में अलग-अलग दार्ष्टान्तिक बातों को दृष्टान्तों के द्वारा समझाया जा रहा है :—

दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते।
आच्छादयेद् बुभुक्षां च तथा योऽतिबुभुक्षितः॥ ३८ ॥

क्षीणधातुरपि तद्बलमुत्साहलक्षमाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते, यथा च कश्चित् अशक्तोऽपि व्यायामाभ्यासेन महतीं शक्तिं प्राप्नोति उद्योगबलेन, तथानेन स्वभावानुशीलनेन बुभुक्षामपि आच्छादयति योऽतिबुभुक्षितः स्यात्, यतः सर्वत्रैवात्मस्वरूपस्य कार्यकारणसंपादनसामर्थ्यमविलम्बम् ॥ ३८ ॥

अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः।
तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात् सर्वत्रैवं भविष्यति॥ ३९ ॥

अनेनात्मस्वभावेन अधिष्ठिते व्याप्ते शरीरे सर्वज्ञतादयो यस्मात्, तत्र स्वल्पयूकाभक्षणमपि क्षिप्रमेव जानाति, तथा स्वात्मन्यवहितस्य सर्वत्र सर्वज्ञता भविष्यति ॥ ३९ ॥

अनुवाद

सूत्र—(जिस प्रकार) दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति भी, किसी अशक्य कार्य को (आवेश के द्वारा कर डालने की परिस्थिति में) अलक्ष्य आत्मबल की प्रेरणा से

---

१. विवरण : १.८ सूत्र

निष्पन्न कर लेता है, साथ ही अत्यन्त क्षुधित होने पर (परिस्थिति वश) अपनी क्षुधा को दबा भी लेता है। (उसी प्रकार) परिपक्व योगी शरीर के अत्यन्त निर्बल होने पर भी, स्पन्दात्मक आत्मबल पर आरुढ़ होकर बड़े बड़े दुष्कर काम सहज ही में कर लेता है और अत्यन्त भूखा होने पर अपनी [1]क्षुधा को (अभिलषित अवधि तक) नियन्त्रण में भी रख लेता है ॥ ३६ ॥

वृत्ति—जिस प्रकार कोई निर्बल व्यक्ति अपने उद्योग-बल का आश्रय लेकर लगातार व्यायाम करने से महान शारीरिक बल को (दुबले पतले शरीर के द्वारा भी भारी कामों को करने की शक्ति) प्राप्त कर लेता है।

उसी प्रकार योगी [2]क्षीणधातु होने पर भी, उत्साह के रूप में अभिव्यक्त होने वाले आत्मबल को वश में लाकर, दुष्कर कामों को करने की ओर प्रवृत्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह इसी स्वभाव का निरन्तर अनुशीलन करने से, अत्यन्त क्षुधित होने की अवस्था में, अपनी क्षुधा को (स्वतन्त्रता से) दबा भी लेता है। इन सारी बातों का मात्र कारण यही है कि स्वरूप में सर्वत्र कार्यों और उनके कारणों को सत्ता प्रदान करने का सामर्थ्य प्रकट होने में देर नहीं लगती है ॥३६॥

सूत्र—जहाँ यह एक तथ्य है कि जिस किसी भी सर्वसाधारण शरीर में (जड़ पाञ्चभौतिक काया में) यह चेतयिता स्पन्दतत्त्व अधिष्ठित हो, उसमें (तदनुकूल देश, काल और आकार की परिधि में) सर्वज्ञता इत्यादि धर्म अभिव्यक्त होते हैं, वहाँ यह बात भी [3]सुनिश्चित है कि (देहाभिमान से हटकर) सीधा उस आत्म-तत्त्व को ही अहंरूप में अनुभव करने वाले योगी में, सार्वत्रिक सर्वज्ञता इत्यादि धर्म अवश्य अभिव्यक्त हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

वृत्ति—जहाँ यह एक तथ्य है कि इस चेतयिता स्वभाव के द्वारा अधिष्ठित सर्वसाधारण जड़ शरीर में भी (तदनुकूल देश, काल और आकार की सीमा में) सर्वज्ञता इत्यादि धर्म विद्यमान होते हैं जिनसे वह (जड़ शरीर) एक छोटी सी जूँ के ढंग को भी तत्काल ही अनुभव कर लेता है, वहाँ यह भी निश्चित है कि उस स्वरूप में ही अवहित अर्थात् पूर्णतया अधिष्ठित रहने वाले योगी में सार्वत्रिक (सारे भुवनों में समान रूप से कार्यक्षम) सर्वज्ञता अवश्य अभिव्यक्त हो जाती है ॥ ३६ ॥

---

१. यहाँ पर 'क्षुधा' शब्द सारे देहधर्मों का प्रतीक है अतः सूत्र का तात्पर्य यह है कि योगी को क्षुधा, निद्रा, स्त्रीचिन्ता इत्यादि देहधर्म विचलित नहीं कर सकते हैं।
२. बुढ़ापा अथवा रोग जैसे कारणों से जिसके शरीर में धातुओं की कमी हो गई हो।
३. सूत्र में उल्लिखित 'भविष्यति' क्रिया में प्रयुक्त लृट् लकार निश्चय को ध्वनित करता है।

विवरण

बहुधा ऐसा देखने में आता है कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अत्यन्त निर्बल शरीर वाले व्यक्ति भी अल्पकालावस्थायी आवेशों के बल से ऐसे दुष्कर काम कर डालते हैं जो सर्वथा उनकी शक्ति से बाहर होते हैं। उदाहरण के तौर पर जहाजों पर काम करनेवाले और साधारण मानव शरीरों को ही धारण करनेवाले नाविक अकस्मात् उठनेवाले प्रलयंकर सामुद्रिक तूफानों में, अथवा रणभूमि में लड़नेवाले साधारण सिपाही प्रबल शत्रुओं के प्रचण्ड एवं आकस्मिक आक्रमणों में, कभी कभी ऐसे अभूतपूर्व कार्य कर डालते हैं कि बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है। आमतौर पर ऐसी अवस्थाओं को 'आवेश' का नाम देकर ही संतोष किया जाता हैं परन्तु यह देखना है कि 'आवेश' क्या वस्तु है ? आवेश, किसी भी जीवित प्राणी में, किसी विशेष क्षण पर अकस्मात् प्रकट होने वाली एक ऐसी दुर्दान्त और प्रबल वेगी-वृत्ति होती है जिससे कि उसके मानसिक क्षेत्र में और उसके द्वारा शरीर के प्रत्येक भाग में भी किसी अलक्ष्य शाक्त-प्रेरणा का तीव्र संचार हो जाता है। शाक्त-प्रेरणा कहीं बाहर से नहीं आती है अपितु यह प्रत्येक प्राणी के अन्तर्हृदय में विद्यमान असीम आत्मशक्ति के स्पर्शमात्र का परिणाम होती है। इस सम्बन्ध में यह बात बिल्कुल अनुभव सिद्ध है कि आवेशात्मक क्षणों पर प्रत्येक प्राणी तत्काल पर्यन्त अपने देहाभिमान को पूर्णतया भूल कर विशुद्ध शाक्त-स्वरूप पर अवस्थित होता है। यही कारण है कि वह शरीर के क्षीण होने पर भी दुष्कर कार्यों को झोंक में निष्पन्न कर लेता है।

साधारण प्राणिवर्ग में पाया जाने वाला आवेश पूर्ण-आवेश नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यह मौलिक आत्मबल का नगण्य स्पर्शमात्र होता है। यही कारण है कि साधारण जीवभाव में ऐसी आवेशात्मक अवस्थायें क्षणपर्यवसायी होती हैं।

योगियों के विषय में बात कुछ भिन्न होती है। उनका 'अहं' अभिमान शरीर, प्राण इत्यादि पर नहीं प्रत्युत सीधा आत्मा पर ही होता है। अतः उनको शाक्त-बल का स्पर्शमात्र ही नहीं अपितु पूर्ण-समावेश ही हुआ होता है। ऐसी परिस्थिति में यदि उनकी सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता इत्यादि सार्वत्रिक और सार्वकालिक हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। भगवान रामचन्द्र के प्रिय दूत मारुति का समुद्रलंघन भी तो एक ऐसा ही शाक्त-शमावेश ही था।

फलतः साधारण प्राणियों में विद्यमान ज्ञान-क्रियात्मक स्पन्दना उनके शरीरों के अनुकूल देश, काल एवं आकार की परिधि तक ही सीमित रहती है जबकि परिपक्व योगियों की स्पन्दता देश, काल आदि के प्राचीरों को तोड़कर विश्व-व्यापिनी हुआ करती है।। ३८–३९ ।।

[ग्लानि और उसका निवारण]

अगले दो सूत्रों में यह बात समझाई जा रही है कि ग्लानि अर्थात् मानसिक शिथिलता या उदासीनता ही आधि-व्याधियों की जन्मदात्री है। वह स्वयं अज्ञान से उत्पन्न हो जाती है। उन्मेष से अर्थात् अज्ञान का समूल उच्छेद हो जाने से वह और तज्जन्य आधि-व्याधियाँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं। यही कारण है कि योगियों के शरीर [1]वलीपलितादि से रहित, तेजस्वी और स्वस्थ हुआ करते हैं :—

ग्लानिर्विलुम्पिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः।
तदुन्मेषविलुप्तं चेत् कुतः सा स्यादहेतुका ॥ ४० ॥

ग्लानिः किल शरीरस्य विनाशिनी। सा च ग्लानिरज्ञानादुत्पद्यते। तदज्ञानम् उन्मेषेणात्मस्वभावेन यदि नित्योज्झितं तदा सा कुतः, कारणरहिता भवेत्? अनेनैव कारणेन वलीपलिताभावः शरीरदार्ढ्यं च योगिनाम् ॥ ४० ॥

एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥ ४१ ॥

एकत्र विषये व्यापृतचित्तस्य यतो यस्मात् स्वभावात् झगित्यन्या चिन्तोपद्यते, स चिन्तायाः कारणम् उन्मेषो ज्ञातव्यः। स तु स्वयमेव योगिना लक्षणीयः, चिन्ताद्वयान्तर्व्यापकतयानुभूयमानः ॥ ४१ ॥

अनुवाद

सूत्र—मानसिक उदासीनता, शरीर में (धातु, सामर्थ्य, उत्साह, तेज इत्यादि) सब कुछ चौपट कर देने वाली होती है। वह स्वयं अज्ञान से ही प्रसार में आती है। यदि उन्मेष के द्वारा अज्ञान का समूल उच्छेद किया जाये तो वह, कारण के न रहने पर, कहाँ से उत्पन्न हो सकती है? ॥ ४० ॥

वृत्ति—ग्लानि अर्थात् मानसिक शिथिलता या उदासीनता निश्चय पूर्वक शरीर अर्थात् शरीर के धातु, बल, तेज इत्यादि का नाश करने वाली होती है। वह स्वयं केवल अज्ञान से ही उत्पन्न हो जाती है। यदि उन्मेष अर्थात् चित्-चमत्कारमय स्वरूप विकास के उपाय से उस अज्ञान का सदा के लिये उच्छेद किया जाये तो वह कहाँ से पैदा हो सकती है क्योंकि उसके पैदा होने का कोई कारण ही नहीं रहता है। यही कारण है कि योगियों के शरीर दृढ़ होते हैं। उनमें न कभी झुर्रियां ही पड़ जाती हैं और न कभी उनके बाल ही पक जाते हैं ॥ ४० ॥

---

१. बुढ़ापा या अन्य कारणों से मुख में झुरियाँ पड़ना और बालों का सफेद हो जाना ॥

सूत्र—किसी व्यक्ति का चित्त कभी किसी एक प्रकार की चिन्ता में डूबा हुआ होता है और तत्काल ही उसमें जिस अलक्षित आत्मबल से सहसा दूसरी चिन्ता उभर आती है उसको (आत्म-बल के आकस्मिक विकास को) उन्मेष समझना चाहिये। उस तत्व की, निजी अनुसन्धान के द्वारा, स्वयं टोह लगानी चाहिये ॥४१॥

वृत्ति—यदि किसी चिन्तक का चित्त किसी एक विषय के साथ सम्बन्ध रखने वाली चिन्ता में एकाग्रभाव से डूबा हुआ हो, तो उसमें जिस स्वभाव के द्वारा सहसा कोई दूसरी चिन्ता उभर आती है, वह दूसरी चिन्ता के उत्पन्न होने का कारण उन्मेष समझना चाहिये। योगी को अपने अनुसंधान से स्वयं उसकी टोह लगानी चाहिये। वह तत्व दोनों चिन्ताओं के अन्तरालवर्ती सन्धिक्षण में (सावधान योगियों को), व्यापक रूप में, अनुभव में आता रहता है ॥ ४१ ॥

विवरण

प्रस्तुत सूत्रों का भाव समझने में कोई विशेष कठिनता नहीं आती है। केवल उन्मेष के सम्बन्ध में निम्नलिखित बात ध्यान में रखने के योग्य है।

सूत्र ४१ में उल्लिखित 'एक-चिन्ता-प्रसक्तस्य' शब्द की व्याख्या करने में टीकाकारों का दृष्टिकोण भिन्न भिन्न रहा है। कई टीकाकारों के विचारानुसार इसका अर्थ यह है कि "[१]जब योगी दैनिक जीवन के सारे आवश्यक कृत्यों को तिलाञ्जलि देकर और अलग-अलग किसी एक आलम्बन विशेष को अपनी धारणा का विषय बनाकर, अनुसन्धान करते करते मानसिक एकाग्रता की चरम सीमा पर पहुँच जाता है तब उसमें स्वयं ही चित्-चमत्कारमय उन्मेष का उदय हो जाता है॥"

ऐसी व्याख्या के अनुसार उन्मेष-तत्व की अनुभूति का पूर्ण स्वाधिकार केवल जंगल में जाकर आसन जमाने वाले और संसार के प्रति सर्वथा निरपेक्ष व्यक्तियों के लिये ही सुरक्षित बन जाता है। ऐसी परिस्थिति में आज के भौतिकयुगीन अघात-प्रतिघातों में फंसे हुये व्यक्ति के लिये इसके प्रति कोई भी आकर्षण अवशिष्ट नहीं रहने पाता है। इस सम्बन्ध में यह बात अतीव विचारणीय है कि शैवदर्शन कभी भी पलायनवादी वृत्ति में विश्वास नहीं रखता है। संसार और उसके आघात-प्रतिघात दोनों के प्रति निरपेक्ष कैसे रहा जा सकता है क्योंकि दोनों शिवत्व का ही विकास हैं, अतः सत्य हैं। सत्य को नकारा कैसे जा सकता है? उन्मेषतत्त्व की उपलब्धि संसार को अलग रखकर नहीं, प्रत्युत उसके कण कण में इसकी व्यापकता को अनुभव करने से ही हो सकती है। हाँ उसके लिये महान साहस और तीव्र आन्तर अनुसन्धान की आवश्यकता है।

---

१. द्रष्टव्य, स्प० नि०, ३. ८ की व्याख्या

शायद भट्टकल्लट ने इसी विचार की पृष्ठभूमि पर उपरिनिर्दिष्ट शब्द की सीधी व्याख्या करके यह तथ्य समझाया है कि प्रतिक्षण मन में उदित और अस्त होने वाली असंख्य चिन्ताओं के अन्तरालवर्ती संधिक्षणों में नित्योदित उन्मेषतत्त्व की व्यापकता अनुभव में आ सकती है। उसके लिये उत्सुक व्यक्ति को संसार छोड़कर जंगल में जाने की नहीं, अपितु संसार का सारा कार्यकलाप करते हुये भी आन्तर विमर्श के द्वारा उस तत्त्व के साथ नित्ययुक्त रहने की आवश्यकता है ॥ ४०–४१ ॥

यहाँ तक योगियों में अभिव्यक्त होने वाली अमित सिद्धियों का वर्णन किया गया। अब अगले सूत्र में अवरकोटि की अपरसिद्धियों का संकेतरूप में उल्लेख करके यह समझाया जा रहा है कि इस प्रकार की सिद्धियाँ असावधान योगियों को क्षोभ में डालकर वास्तविक लक्ष्य से च्युत कर देती हैं—

अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः ।
प्रवर्तन्तेऽचिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ॥ ४२ ॥

अतः अस्माद् उन्मेषाद् अनुशील्यमानात् 'बिन्दुः' तेजोरूपः, 'नादः' प्रणवाख्यः शब्दः, 'रूपम्' अन्धकारे दर्शनम् रसः अमृतास्वादो मुखे, एते क्षोभकत्वेन प्रवर्तन्ते अचिरेण कालेन ॥ ४२ ॥

अनुवाद

सूत्र—उन्मेष का अनुशीलन करने से, थोड़े ही समय में, बिन्दु, नाद, रूप और रस नामवाली अमित सिद्धियां अभिव्यक्त हो जाती हैं, परन्तु जिस योगी का देहाभिमान पूर्णतया गला हुआ न हो, उसको ये क्षोभ में डाल देती हैं ॥ ४२ ॥

वृत्ति—लगातार अनुशीलन किये जाने वाले उन्मेष के द्वारा, योगी में, अति अल्प समय में ही, बिन्दु अर्थात् एक प्रकार का विशेष तेज, नाद अर्थात् प्रणव नामवाला अनाहत शब्द, रूप अर्थात् प्रगाढ़ अन्धकार में भी पदार्थों को देख सकने की शक्ति और रस अर्थात् मुख में अमृत का जैसा आस्वाद, इस प्रकार की सिद्धियां अभिव्यक्त हो जाती हैं परन्तु (देहाभिमान में ही अवस्थित योगियों को) ये क्षोभ में डाल देती हैं ॥ ४२ ॥

विवरण

सूत्र में चार प्रकार की अपरसिद्धियों के पारिभाषिक नामों का उल्लेख किया गया है। स्पन्दशास्त्र के आचार्यो ने इनका स्वरूप वर्णन इस प्रकार किया है—

१. बिन्दु :–[1]पृथिवीतत्त्व की धारणा देनेवाले योगियों को, एकाग्र ध्यान करने की प्रखरता से भ्रूमध्य–स्थान पर एक प्रकार का विशेष और उत्तरोत्तर बढ़ता

१. 'बिन्दुः'—भ्रूमध्यादौ प्रदेशे ध्यानाभ्यासप्रकर्षप्रवर्धमानोत्तरोत्तरप्रसादस्तेजोविशेषो, यो बिन्दुभेदाभ्यासात् धरातत्त्वध्यायिनामभिव्यज्यते ।
(स्प० का० वि०, ४. १२)

हुआ तेज प्रकट हो जाता है। इसको बिन्दु कहते हैं। इस धारणा का पारिभाषिक नाम 'बिन्दुभेद' है॥

२. नाद—[1]आकाशतत्त्व की धारणा का अभ्यास करने वाले योगी एक विशिष्ट प्रकार के स्वयं उच्चारित ध्वनि को सुनते हैं। यह ध्वनि पहले, प्रखर वेग में बहने वाली नदी की घरघराहट के समान सुनाई देती है और अनन्तर धीरे धीरे सूक्ष्म होती हुई, मकरन्द पीने से मस्त बने हुये भौंरे की गुनगुनाहट जैसी प्रतीत होती है॥

३. **रूप**—[2]तेजस्-तत्त्व की धारणा का अभ्यास करने वाले योगियों को प्रगाढ़ अन्धकार में भी द्रष्टव्य वस्तु स्पष्टतर रूप में दिखाई देते हैं॥

४. रस—जल [3]तत्त्व की धारणा देने वाले योगी, अपने जिह्वाग्र या उसके निकटवर्ती लंबिका (गले के अन्दर की घंटी) पर धारणा का अभ्यास करते हैं। धारणसिद्धि हो जाने पर उनको कोई स्वादिष्ट पदार्थ खाने के बिना ही मुख में अमृत के जैसे आस्वाद की अनुभूति होती रहती हैं।

इसके अतिरिक्त योगियों में दिव्य [4]स्पर्श और गन्ध की अभिव्यक्ति भी हो जाती है परन्तु उनके विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए तन्त्रालोक में वर्णित भगवान अभिनवगुप्त का दृष्टिकोण समझना आवश्यक है। प्रस्तुत सूत्र में इन दो सिद्धियों का उल्लेख नहीं किया गया है। अतः यहाँ पर इस विषय को छेड़ना प्रसङ्गानुकूल नहीं है।

यद्यपि मालिनीविजय एवं विज्ञानभैरव जैसे रहस्य शास्त्रों में भिन्न-भिन्न धारणाओं का अभ्यास करने वाले योगियों में अभिव्यक्त होने वाली शतशः सिद्धियों के वर्णन मिलते हैं तथापि प्रस्तुत सूत्र में ग्रन्थकार ने केवल चार ही सिद्धियों का मात्र नाम निर्देश किया है। शायद उसको ऐसा करने का विशेष अभिप्राय यह रहा होगा कि अवर-सिद्धियों के अतिरंजित वर्णन से कहीं शिष्यों के मन प्रलोभन में न पड़ जायें। स्पन्द-गुरुओं के विचारानुसार स्पन्दात्मक शाक्तभूमिका की अनुभूति

---

१. 'नादो'—वेगवन्नद्यौघनिर्घोषघनोपक्रमः क्रमसूक्ष्मीभावाभिव्यज्यमानमधुमत्तधुकर-ध्वनितानुकारी स्वोच्चरितो ध्वनिविशेषो, यं व्योमतत्त्वाभ्यासिनः शृण्वन्ति॥ (स्प० का० वि०, ४. १२)

२. 'रूपं'—सन्तमसाद्यावरणेऽपि सति तत्तद् दृश्यवस्त्वाकारदर्शनं, यत् तेजस्तत्त्वन्यक्ष-निक्षिप्तमतयो निरीक्षन्ते॥ (तदेव)

३. 'रसो'—रसवद्वस्तुविरहेऽपि अमृतास्वादो मुखे लोलाग्रलम्बिकादिधारणानिरतैर् अप्तत्वध्यायिभिर्य उपलभ्यते। (तदेव)

४. 'स्पर्श' के विषय में विशेषरूप से द्रष्टव्य तन्त्रालोक का ग्यारहवाँ आह्निक।

प्राप्त करना ही सारी साधनाओं का मात्र लक्ष्य होना चाहिये। इससे इतर अन्य सारी तथाकथित [1]योगसिद्धियाँ मायीय उपरागों से रंजित होने के कारण अवर-कोटि की और सर्वथा हेय हैं। इनका स्वरूप सर्वसाधारण मनुष्यों में पाई जाने वाली अल्पज्ञतारूप अशुद्ध विद्या से तनिक भी बढ़कर नहीं है। ये तो थोड़े समय तक ही अभ्यास करने से प्रकट हो जाती हैं परन्तु अपरिपक्व योगी कभी इनके भ्रमजाल में पड़कर घमंड में इतराता हुआ मदारी जैसा बन जाता है। लोग उनके मदारी-खेलों को बड़ी योगसिद्धियाँ समझकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए, अपने को चेला या चेलिन मुँडवाने के लिखे हमेशा उसके पीछे पड़े रहते हैं। परन्तु अनुभवी सिद्धों ने डंके की चोट कहा है कि [2]मितसिद्धियों की सौदाबाजी, योगी को स्वरूप-समाधि से बहुत दूर भटका कर अन्धगर्त में गिरा देती है।

इस विषय में भगवान आशुतोष का आदेश यह है कि मितसिद्धियाँ विनायक[3] अर्थात् दिव्य योगभूमिकाओं की अध्यक्षा दिव्यशक्तियाँ होती हैं। ये गम्भीर साधना में निरत योगियों को पथभ्रष्ट करने के लिये प्रतिक्षण उद्यत रहती हैं।

भगवान पतञ्जलि का मत भी बिल्कुल यही है। उनका कथन है कि ये दिव्य-शक्तियाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा से युक्त योगी की सत्त्वशुद्धि को देखकर उसको शतशः सांसारिक सुखभोगों के प्रलोभनों में फँसाने का प्रयत्न करने लगती हैं। वे उसको बार-बार प्रेरणा देती रहती हैं :—

"हे आयुष्मन्, आपने अपने सद्गुणों से अमुक दिव्य भोगों का अर्जन किया है। ये सुन्दरता और सौरभ-संसार को बिखेरने वाली सुरबालायें आपके दर्शनों को तरस रही हैं। आपके अंग दिव्य आभा से झलक रहे हैं। ये जरा और जीर्णता को दूर रखने वाले अमृत-रसायन आपके सामने प्रस्तुत हैं। कृपया इनको स्वीकार कीजिये। [4]अष्ट-सिद्धियाँ, नव-[5]निधियां कल्पवृक्ष, मन्दाकिनी, नंदनवन, दिव्ययान इत्यादि दिव्यरत्नों के संभार आपके कृपा कटाक्ष की प्रतीक्षा कर रहे है इत्यादि।"

---

१. गर्भः अख्यातिर्महामाया तत्र तदात्मके मितसिद्धिप्रपञ्चे यश्चित्तस्य विकासः तावन्मात्रे प्रपञ्चे संतोषः असावेव............किञ्चिज्ज्ञत्वरूपा अशुद्धविद्या ....विकल्पात्माः भ्रमः ॥ (शिव सूत्र वि०, २. ४)

२. ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः। (पा० यो० द०, ३. ३७)

३. वासनामात्रलाभेऽपि योऽप्रमत्तो न जायते।
तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः।
तस्मान्न तेषु संसक्तिं कुर्वीतोत्तमवाञ्छया।
(मा० वि०, शिवसूत्र २.१० में उदाहृत)

४. आठ सिद्धियां—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाश्य, ईशित्व, वशित्व।

५. नवनिधियां—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छव, मुकुन्द, कुन्द, नील, खर्व।

साधक कहीं असावधान बनकर एक बार इन प्रलोभनों की मृगमरीचिका में भटक गया कि उसकी आत्मा का [1]घात हो गया। अतः सिद्ध गुरुओं ने स्वरूप-लाभ को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों को सचेत करने के अभिप्राय से बार बार इस उपदेश को दोहराया है कि जिस महान धैर्यशाली व्यक्ति के स्थिर मन में अपने [2]ज्ञेयविषय अर्थात् स्पन्दात्मक-स्वभाव को छोड़कर किसी दूसरे कनक-कामिनी जैसे अस्थायी प्रलोभन का विचार टिकने नहीं पाता है, वह चाहे किसी भी अवस्था में ही क्यों न पड़ा हो, अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता है ॥ ४२ ॥

[प्रथमाभास]

अगले सूत्र में स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषणा की जा रही है कि जो योगी स्वयं सामने आती हुई मितसिद्धियों के प्रलोभनों को ठुकरा कर केवल विश्वात्मभाव को प्राप्त करने के लिये तत्पर रहते हों, उनके लिये महान रहस्य के अवरुद्ध कपाट स्वयं ही खुल जाते हैं :—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते।
तदा किं बहुनोक्तेन [3]स्वयमेवावभोत्स्यते ॥ ४३ ॥

दिदृक्षा द्रष्टुमिच्छा, तदवस्थास्थ इव सर्वान् भावान् यदा व्याप्यावतिष्ठते, तदा किं बहुना उक्तेन, स्वयमेव तत्त्वस्वभावम् अवभोत्स्यते ज्ञास्यति ॥ ४३ ॥

अनुवाद

सूत्र—जब योगी प्रत्येक भाव में केवल और केवल स्पन्दात्मक स्वरूप को निभालने का अटल संकल्प धारण करके, उनमें स्वरूपतः व्याप्त होकर अवस्थित रहता है तब वह स्वयं ही उस तत्व का साक्षात्कार करने में अवश्य सफल हो जाता है। इसमें बत–बढ़ाव करना बेकार है ॥ ४३ ॥

वृत्ति—देखने की तीव्र इच्छा को 'दिदृक्षा' कहते हैं। दिदृक्षा की अवस्था में वर्तमान होकर, जब योगी सारे भावों में स्वरूपतः व्याप्त होकर अवस्थित रहता है तब स्वयं ही उस स्वभावभूत स्पन्द तत्त्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है। इसमें अधिक बतियाने का कोई प्रयोजन नही है ॥ ४३ ॥

---

१. प्रसह्य चञ्चलीत्येव योगिनामपि यन्मनः (स्व० तं०, ४.३११)

२. यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः।
मनो न चलते तस्य सर्वावस्थागतस्य तु ॥ (तदेव, ४.३१२)

३. लृट् लकार का प्रयोग निश्चय को ध्वनित करता है।

विवरण

[१]किसी भी भाव का साक्षात्कार करने के समय दो प्रकार के आभास कार्य-निरत होते हैं। एक वह जो कि इन्द्रिय और भाव का संयोग होने के प्राथमिक क्षण का 'विकल्पहीन आभास' होता है और दूसरा वह जो कि दूसरे क्षण पर उसी भाव के साथ सम्बन्धित विशेषताओं को स्पष्टरूप में परिलक्षित कराने वाला 'सविकल्प-आभास' होता है। इनमें से पहला आभास इतना स्वरूप संकुचित होता है कि इसकी बिजली की जैसी तीव्रतम कौंध में, उस भाव में सामान्यरूप में परिनिष्ठित स्वरूप सत्ता के अतिरिक्त कोई भी अन्य जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छात्मक विशेषता परिलक्षित नहीं होती है। इस आभास को शास्त्रीय शब्दों में 'प्रथमाभास', 'स्वरूपाभास', 'निर्विकल्पाभास' अथवा 'स्वलक्षणाभास' इत्यादि कहते हैं। दूसरा आभास अनेक आभासों की मिश्रण के रूपवाला और स्थूल अभिलाप के द्वारा वाच्य होता है। उदाहरणार्थ प्रथमाभास पर 'घट' नामक भाव का साक्षात्कार, 'घट' इस शब्द के द्वारा वाच्य और गोलाई, लालाई इत्यादि अनेक विकल्पों से युक्त घट के रूप में नहीं, अपितु सामान्य-प्रकाशात्मकता के रूप में होता है। दूसरे क्षण पर अर्थात् प्रथमाभास के ठीक अनन्तरवर्ती सविकल्पाभास पर ही इन सारे आभासों की मिश्रणा से, उसका साक्षात्कार, विशिष्ट नामरूपात्मक 'घट' के रूप में होता है। ऐसी ही संवेदनात्मक आभास प्रक्रिया के द्वारा घटाभास, पटाभास, सुखाभास, दुःखाभास इत्यादि अनन्त प्रकार के विकल्परूप (इसीलिये भेदपूर्ण) आभासों के वैचित्र्य की सर्जना हो जाती है; इन्हीं को प्रमेय जगत् कहते हैं।

संक्षेप में इस प्रकार कहना ठीक है कि प्रथमाभास की भूमिका पर सारे भाव सामान्य स्पन्दरूप अथवा चित्-रूप ही हैं। अतः उनकी संवेदना भी विशुद्ध अहं रूप है। सविकल्प-आभास की भूमिका पर सारे भाव एक दूसरे से स्वरूपतः, देशतः, कालतः और आकारतः भिन्न होने के कारण विकल्परूप हैं। अतः उनका संवेदन भी "इदं रूप" है।

संसार की प्रत्येक अर्थक्रिया सविकल्प-आभास पर ही चल सकती है क्योंकि इसके लिये भावों में भिन्नता का होना आवश्यक है। प्रस्तुत प्रकरण के साथ सम्बन्धित मितसिद्धियों का प्रदर्शन भी बाह्य-अर्थक्रिया होने के कारण सविकल्पक-आभास ही है अतः यह संसारभाव ही है, शिवभाव नहीं।

प्रथमाभास पर यद्यपि संसार के अणु अणु में भी स्वरूप की अभिव्यक्ति प्रति-समय होती रहती है तथापि वह साधारण इन्द्रिय बोध के द्वारा गम्य नहीं है।

---

१. यहाँ पर शैव दर्शन की प्रसिद्ध आभास प्रक्रिया का संकेतमात्र दिया जा रहा है। विशेष जानकारी के लिये 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' का ज्ञानाधिकार द्रष्टव्य है।

योगियों में अदृश्य प्रेरणा से अतीन्द्रियबोध अथवा प्रातिभ-ज्ञान विकसित हुआ होता है। अतः वे भावों के प्रथमाभास पर ही स्वरूप का साक्षात्कार करने में सक्षम होते हैं। फलतः वे प्रति समय प्रथमाभास पर ही अवस्थित रहने के कारण स्वरूप की चतुर्दिक् व्यापकता का अनुभव करते रहते हैं। प्रथमाभास पर अवस्थित रहकर प्रत्येक भाव में व्याप्त स्वरूप का साक्षात्कार करने की तीव्र इच्छा को ही सूत्र में 'दिदृक्षा' का नाम दिया गया है। यही वह पूर्वोक्त संकल्प शक्ति है जो साधक को स्वयं ही शाक्त-भूमिका पर पहुँचा देती है।

इस सम्बन्ध में कई मित्रों को यह आपत्ति है कि यदि योगी सदा निर्विकल्प आभास पर ही अवस्थित रहते हैं तो वे संसार का आदान-प्रदान किस प्रकार कर सकते हैं? संसार में दिखाई देनेवाले भाववैचित्र्य की अनुभूति उनमें रहती ही नहीं होगी। अतः वे संवेदनाहीन ठूंठ जैसे पड़े रहते होंगे।

इस शंका का समाधान पाने के लिये यह समझना आवश्यक है कि प्रथमाभास पर अवस्थित रहने का कदापि यह अर्थ नहीं है कि योगियों को व्यक्त नामरूपात्मक जगत् का भाव वैचित्र्य दिखता ही नहीं है। वे अपने प्रातिभ-ज्ञान के द्वारा बाह्य प्रकृति के भाव वैचित्र्य का इतना सूक्ष्म और गम्भीर पर्यवेक्षण कर सकते हैं जितना कि साधारण रूप में कुशाग्रबुद्धि समझा जानेवाला पुरुष भी नहीं कर सकता है। बात केवल इतनी है कि वे लोग भाववैचित्र्य के जिस जिस पक्ष का साक्षात्कार करते हैं वह उन्हें आत्मरूप का विकासमात्र ही प्रतीत होता है। फलतः वे किसी भी अवस्था में अखण्ड स्वरूपभावना से गिरकर भेदभावना के पचड़े का शिकार नहीं बन जाते हैं। प्रथमाभास पर अवस्थित रहने का यही अभिप्राय है ॥ ४३ ॥

[अनुभूति का उपाय]

अगले सूत्र में प्रबुद्ध योगियों को प्रत्येक भाव में स्वरूप की व्यापकता की अनुभूति प्राप्त कर सकने का उपाय समझाया जा रहा है :—

प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेज्ज्ञानेनालोच्य गोचरम् ।
एकत्रारोपयेत् सर्वं ततोऽन्येन न पीड्यते ॥ ४४ ॥

प्रबुद्धोऽसंकुचितशक्तिः सर्वंकालं तिष्ठेत्, ज्ञानेनालोच्य गोचरम्–ज्ञेयं परिच्छिद्य। एवमेकत्र तत्त्वसद्भावे विद्यात्मके आरोपयेत् सर्वम्। ततोऽन्येन वक्ष्यमाणेन कलासमूहेन न पीड्यते ॥ ४४ ॥

अनुवाद

सूत्र—(योगी को) प्रत्येक अनुभवदशा में अपने संवेदन के द्वारा प्रत्येक ज्ञेय-विषय का विश्लेषण करते करते (उसमें अनुस्यूत) स्पन्दतत्त्व का निभालन करते

रहना चाहिये। इस विधि से सारे प्रमेयवर्ग को एक ही तत्त्व में लय करना चाहिये। ऐसा करने से दूसरे के द्वारा पीड़ा नहीं पहुँचाई जा सकती है ॥ ४४ ॥

वृत्ति—(योगी) विशुद्ध संवेदन के द्वारा प्रत्येक ज्ञेय विषय की विश्लेषणा करके, [1]प्रतिसमय प्रबुद्ध अर्थात् स्वरूपविकास की अवस्था में अवस्थित रहे। इस प्रकार (भावना के बल से) प्रत्येक विषय को एक ही तत्त्व के सद्भाव पर अर्थात् शुद्ध-विद्यात्मक स्पन्दसत्ता पर चढ़ाये अर्थात् दोनों को अभिन्न बनाये। ऐसा करने से उसको दूसरे अर्थात् आगे कहे जानेवाले कलासमूह के द्वारा पीड़ा नहीं पहुँचाई जा सकती है ॥ ४४ ॥

विवरण

प्रस्तुत सूत्र में 'प्रबुद्धः' और 'सर्वदा' इन दो शब्दों की पृष्ठभूमि में विशेष अभिप्राय है। उनको समझना अतीव आवश्यक है, क्योंकि तभी सूत्र का अर्थ अच्छी प्रकार हृदयङ्गम हो सकता है।

'प्रबुद्धः' शब्द से यहाँ पर ऐसे सावधान और जागरूक योगी का अभिप्राय है जिसकी दिव्यदृष्टि किसी भी ज्ञेय विषय का साक्षात्कार करने के समय, उसके वास्तविक स्वरूपभूत स्पन्दतत्त्व को पहचानने में [2]पटु हो। साथ ही वह ऐसा प्रमाता हो जिसको अपने स्वातन्त्र्य की असीमता का अनुभव [3]हुआ हो।

'सर्वदा' शब्द से किसी भी ज्ञेयविषय की साक्षात्कारकालीन तीन कोटियों का अभिप्राय है। किसी भी ज्ञेयविषय के साक्षात्कार की तीन कोटियाँ होती हैं जिनको पारिभाषिक शब्दों में आदिकोटि, मध्यकोटि और अन्तकोटि कहते हैं। इनको दूसरे शब्दों में 'बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने से पहले का तद्विषयक इच्छाकाल', 'इन्द्रियों के द्वारा बाह्य स्थूल रूप में ग्रहण काल' और ग्रहण किये जाने के उपरान्त फिर भी संवेदन में 'विश्रान्तिकाल' कहते हैं। आदिकोटि और अन्तकोटि पर प्रत्येक ज्ञेयविषय अहंविमर्शात्मक प्रमातृभाव के साथ तादात्म्यरूप में अवस्थित रहता है। मध्यकोटि अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के द्वारा स्थूलरूप में ग्रहण किये जाने के समय पर ही वह, मायाशक्तिरूप स्वातन्त्र्य के द्वारा, अहंरूपता से अलग होकर 'इदं' के द्वारा वाच्य, स्थूल पाञ्चभौतिक रूप में स्थिति प्राप्त कर लेता है। शब्द, स्पर्श आदि विषयों के इसी रूप को 'संसार-भाव' कहा जाता है क्योंकि यही रूप परिवर्तन-शील होता है।

---

१. यहाँ पर 'प्रतिसमय' शब्द से ज्ञेयविषय की आदिकोटि, मध्यकोटि और अन्तकोटि–इन तीन अनुभवदशाओं का अभिप्राय है।

२. अनिमीलिनसम्यग्ज्ञानदृष्टिः जाग्रदेव ॥ (स्प० का० वि०, ४. १४)

३. असंकुचितस्वातन्त्र्यशक्तिः। (शिवसूत्र, २. ९ की ६५वीं टिप्पणी)

साधारण रूप में संसारी 'पशु' ज्ञेयविषयों के आदिकोटि और अन्तकोटिवाले रूप से परिचित नहीं होते हैं, क्योंकि उनको स्वरूप-परिचय ही नहीं होता है। ऊपर से वे उनके मध्यकोटिवाले स्थूल एवं परिवतर्नशील रूप को ही उनका वास्तविकरूप समझ कर प्रमाद में पड़े रहते हैं। यही एक महती विडम्बना है। अतः सूत्रकार ने उपरि-निर्दिष्ट 'प्रबुद्धः' और 'सर्वदा' शब्दों का प्रयोग करके सम्यक् ज्ञानदृष्टि से युक्त योगियों को, साक्षात्कार की तीनों कोटियों पर ज्ञेयविषयों के वास्तविक स्वरूप को ही दृष्टि में रखने का उपदेश दिया है।

इसके अतिरिक्त सूत्र में उस उपाय को भी समझाया गया है जिसको अपनाने से योगीजन प्रत्येक प्रकार की अनुभवदशा में केवल स्वरूपाभास पर ही अवस्थित रहने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। वह उपाय है—'अपने सद्विमर्श के द्वारा प्रत्येक ज्ञेयविषय का स्वरूप विश्लेषण करके उसके वास्तविक रूप को पहचानना'। उदाहरण के तौर पर यदि 'घट' का स्वरूपविश्लेषण किया जाये, तो यह समझने में देर नहीं लगती है कि स्थूल आकार, ऊँचाई, गोलाई, ललाई इत्यादि इसका वास्तविक स्वरूप नहीं बन सकते हैं, क्योंकि ये सारे कल्पित, परिवर्तनशील और नश्वर हैं। फलतः इन सबों को काटकर शेष जो कुछ बचता है, वह इसका संवेद-नात्मक रूप है जो कि [1]चित्कला की अहंविमर्शमयी स्पन्दना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी प्रकार, स्वरूप-विश्लेषणात्मक पद्धति का अभ्यास करनेवाले योगी को किसी समय स्वयं ही यह अनुभूति हो जाती है कि सारा विश्व वास्तव में स्वरूपस्पन्दना ही है।

भगवान [2]आशुतोष ने इसी सिद्धान्त को अपनी सूत्रात्मक भाषा में इस प्रकार समझाया है—

"सावधान योगी, प्रत्येक अनुभवदशा में अन्यथा उपपत्तिरूप अज्ञानात्मक ज्ञान का अन्न खाते रहते हैं"। इसका भाव यह है कि योगी लोग प्रत्येक भाव पर चढ़ी हुई, तथाकथित प्रमेयता की कालिमा को, स्वरूप-विश्लेषणात्मक अनुसन्धान की मसकली से घिस घिस कर, उसके वास्तविक निर्मल स्वरूप का साक्षात्कार करके ही दम लेते हैं। फिर उनके लिये तथाकथित जन्म-मरण अथवा सांसारिक द्वन्दात्मकता का कोई भी बखेड़ा [3]अवशिष्ट नहीं रहता है ॥ ४४ ॥

१. चिता सिद्धं यत्तु न तदचिदिति वक्तुं समुचितम्।
तयासिद्धं नाचिन्नचिदपि कदाचित् क्वचिदपि ॥
चितो द्वारैः सिद्धं यदपि च समस्तं तदपि चित्। (भा० प्रथम भाग, ४१२ पृष्ठ)

२. ज्ञानमन्नम्। (शिवसूत्र, २.९)

३. मृत्युश्च कालश्च कलाकलापं विकारजालं प्रतिपत्तिसात्म्यम्।
ऐकात्म्यनानात्म्यवितर्कजातं तदा स सर्वं कवलीकरोति ॥
(भर्गशिखा, शिवसूत्र। १.६ में उदाहृत)

[ब्राह्मी आदि शक्तियाँ]

पूर्वसूत्र में कहा गया कि जागरूक योगियों को 'दूसरा' पीड़ा नहीं पहुँचा सकता है। अतः अगले सूत्र में इसी रहस्य का उद्घाटन किया जा रहा है कि पीड़ा पहुँचानेवाला वह दूसरा कौन है और वह किस प्रकार पीड़ा पहुँचाता है? :—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥ ४५ ॥

शब्दराशिरकारादिक्षकारान्तः तत्समुद्भूतस्य कादिवर्गात्मकस्य ब्राह्म्यादिशक्तिसमूहस्य; भोग्यतां गतः पुरुषो, ब्राह्म्यादीनां कलाभिः ककाराद्यक्षरैर्विलुप्तविभवः स्वस्वभावात् प्रच्यावितः पशुरुच्यते ॥ ४५ ॥

अनुवाद

सूत्र—(ज्ञानीलोगों ने) शब्दराशि से उद्भूत शक्तिवर्ग की वश्यता में पड़े हुए (स्वतन्त्र) पतिप्रमाता को ही पशुप्रमाता का नाम दिया है। (उसके वश्यता में पड़ने का कारण यह है कि) कला समूह ने उसके असीम वैभव (स्वातन्त्र्य) को पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है ॥ ४५ ॥

वृत्ति—'अकार' से लेकर 'क्षकार' तक के वर्णसमुदाय को शब्दराशि कहते हैं। पुरुष (स्वतन्त्र पतिप्रमाता) उसी शब्दराशि से उद्भूत और 'कवर्ग' इत्यादि वर्गों का रूप धारण करनेवाली ब्राह्मी इत्यादि (पशु) शक्तियों के समुदाय का वशवर्ती बना है। इस अवस्था में उसको 'पशु' कहते हैं, क्योंकि इन्हीं ब्राह्मी इत्यादि शक्तियों के साथ सम्बन्धित कलाओं ने अर्थात् 'ककार' इत्यादि स्थूल अक्षर समुदाय ने उसके विभव को नष्ट-भ्रष्ट किया है अर्थात् उसको स्वभाव से च्युत किया है। ॥४५॥

विवरण

तांत्रिक शैवदर्शन का यह एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पतिप्रमाता की अभिन्न एवं स्पन्दमयी विमर्शशक्ति (सर्वस्वतन्त्र संवित् शक्ति) ही भेदरूप बहिर्विमर्श की अवस्था में, वैखरी वाणी के द्वारा उच्चार्यमाण स्थूल वर्णसमुदाय के रूप में प्रसृत होती है। यह वर्णसमुदाय वस्तुतः शक्तिरूप होने के कारण पदों, वाक्यों, बड़े-बड़े ग्रन्थों या संसार के सारे आदान-प्रदानों की बातों का रूप धारण करके विकल्प कल्पनाओं का एक ऐसा अंडबंड जंजाल उत्पन्न कर देता है कि स्वयं स्वतन्त्र पतिप्रमाता ही उसमें उलझ–पुलझ कर अस्वतन्त्र पशुप्रमाता बन जाता है। वर्ण चूंकि शक्तिरूप ही हैं, अतः हलचल को जन्म देना उनका स्वभाव है। वे अच्छी या बुरी जैसी भी हलचल उत्पन्न करें, पशु तदनुसार कार्य करने के लिये मजबूर होता है। प्रतिक्षण बातों के बतंगड़ बनते रहते हैं, विकल्पों की शृंखलायें उलझती रहती हैं और संसारभाव में पड़ा हुआ पशुवर्ग अशान्ति की भट्ठी में घुसता जा रहा है।

सूत्र में इसी सिद्धान्त का उल्लेख सूत्रात्मक शब्दों में किया गया है कि– 'कलासमूह ने स्वतन्त्र की स्वतन्त्रता को मलियामेट कर रखा है।' शास्त्रीय शब्दों में 'क' से लेकर 'ह' तक के सारे सस्वर व्यञ्जनसमुदाय को कलासमूह कहते हैं। फलतः कलासमूह ही वह 'दूसरा' है जो असावधान पशुप्रमाता को पग-पग पर शतशः बाधाओं में डाल देता है।

इस सम्बन्ध में, स्थूल शब्दराशि के रूप में, विमर्शशक्ति की बहिर्मुखीन प्रसार-प्रक्रिया की अतीव गम्भीर और दुरूह सैद्धान्तिक विवेचना आगम-शास्त्रों में प्रस्तुत की गई है। उसका विस्तृत एवं सर्वाङ्गीण वर्णन करना यहाँ पर संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से प्रस्तुत विषय के दुरूह और अरुचिकर बन जाने की आशंका है। अतः पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिये निम्नलिखित पंक्तियों में कई प्रमुख बातों का आंशिक रूप में उल्लेख किया जा रहा है।

'अकार' से लेकर 'क्षकार' तक के वर्णसमुदाय को 'शब्दराशि' कहते हैं। इसका शास्त्रीय नाम [1]'मातृका' है। वास्तव में मातृकाशक्ति, सारी भेदपूर्ण वाचक और वाच्यरूप स्थूल शब्दराशि को अपने गर्भ में, अभेदरूप में अर्थात् केवल स्पन्दनामय [2]विमर्श रूप में, धारण करनेवाली पराशक्ति ही है। इसका रूप पूर्ण [3]अहन्तारूप स्वातन्त्र्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वतन्त्र चेतनारूप होने के कारण यह स्वयं 'अ' से 'क्ष' तक के [4]स्थूल एवं सूक्ष्म वर्णसमुदाय के रूप में प्रसृत होकर, अनन्त प्रकार के वाचकों और वाच्यों के विश्व को अवभासित कर लेती है। फलतः यह सारे विश्व की माता तो है, परन्तु ऐसी माता है जिसका परिचय सिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त और किसी को नहीं है। न जानी [5]हुई माता को ही 'मातृका' कहते हैं।

दूसरी ओर कई आचार्यों ने इस शब्द को मातृवाचक के स्थान पर परिवार-वाचक मानकर, इसकी दूसरी प्रकार की व्याख्या भी प्रस्तुत की है—

१. मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में शब्दराशि का 'न' से लेकर 'फ' तक का दूसरा क्रम भी प्रस्तुत किया गया है। इसको 'मालिनी' कहते हैं। भट्टकल्लट को शायद वर्णमाला का यह क्रम मान्य नहीं रहा होगा, क्योंकि उसने अपनी वृत्ति में मातृका-क्रम (अ से क्ष तक) का ही उल्लेख किया है।
२. सा हि भगवती अशेषवाच्यवाचकात्मकजगदभेदचमत्कारात्मकशब्दराशिविमर्श-परमार्था .... ॥ (स्व० तं०, ११.१६६)
३. स्वातन्त्र्यशक्तिरेवास्य सनातनी पूर्णाहन्तारूपा ॥ (स्प० नि०, ३.१३)
४. 'स्थूल' से व्यक्त ध्वनिरूप और 'सूक्ष्म' से अव्यक्त ध्वनिरूप अर्थात् क्रमशः मुख से बोले जानेवाले और मन में चिन्त्यमान वर्णों का अभिप्राय है। वैखरीरूप और मध्यमारूप होने के कारण दोनों व्यक्त पदवी पर ही अवस्थित हैं॥
५. अज्ञाता माता मातृका विश्वजननी। (शिवसूत्र वि०, १.४)

'अ' से 'क्ष' तक की स्थूल शब्दराशि सर्वस्वतन्त्र चित्शक्ति का ही बहिर्मुखीन प्रसार है। भेद-पदवी पर उतरते ही यह शब्दराशि आठ वर्गों में बँट जाती है और शक्ति स्वयं भी ब्राह्मी इत्यादि आठ प्रकार के विकल्परूप शक्ति-परिवार का रूप धारण करके, प्रत्येक वर्ग की एक एक अधिष्ठात्री देवी के रूप में अवस्थित रहती है। इन शक्तियों का प्रधान काम यह है कि ये अपने वास्तविक चित्-रूप को चारों ओर से घेरकर उसको आड़ में रखती हैं। परिवार वही होता है जो अपने जन्मदाता को चारों ओर से घेरकर बैठता हो। [1]ब्राह्मी इत्यादि शक्तियों का परिवार भी पशुभूमिका पर अपनी ही जन्मदात्री चित्-शक्ति को घेरकर इस प्रकार बैठा रहता है कि सर्वसाधारण जीवों को उसका (चित्-शक्ति का) आभास भी नहीं मिलता है। फलतः आठ शक्तियों के परिवार को 'मातृका' कहते हैं।

मातृका शक्ति के उपरिनिर्दिष्ट बहिर्मुखीन प्रसार की प्रक्रिया का लेखा-जोखा भगवान शङ्कर ने स्वयं प्रस्तुत किया है।

प्रकाशरूप शिव और विमर्शरूपा शक्ति की सामरस्य अवस्था ही सारे विश्व की आत्मभूत और आधारभूत सत्ता है। इस सत्ता का स्वरूप केवल महामन्त्ररूप 'अहं-विमर्श' ही है। 'अ'[2] अर्थात् अनुत्तर-तत्त्व और 'ह' अर्थात् अनाहत-शक्तितत्त्व की संपुट-दशा अर्थात् प्रत्याहार-दशा ही 'अहंता' है। उसके गर्भ में सारी शब्दराशि, मोर के अण्डरस के न्याय से, भेदरहित अहंरूप में ही अवस्थित है। पारिभाषिक शब्दों में इसी को 'परावाणी' कहते हैं। स्थूल वाच्यवाचकमय विश्व का अवभासन करने की ओर उन्मुख होने की दशा में यह अहंरूपा विमर्शशक्ति 'इच्छाशक्ति' का रूप धारण कर लेती है। अनन्तर ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति-इन दो रूपों में अङ्कुरित हो जाती है। इन दो रूपों में अङ्कुरित होते ही वह मायापदवी पर उतरकर स्वयं उत्पादित अनन्त उपाधियों के रंगों से, अपने को ही रंगकर, न जाने कितने अतर्क्यरूपों में प्रसृत होती है। इसी बहिर्मुखीन प्रसार प्रक्रिया में वह मातृका का रूप धारण करके दो [3]प्रकार, नव प्रकार और पचास प्रकार के भेदों में विभक्त हो जाती है। इन भेदों का लेखा-जोखा इस प्रकार हैं।

---

१. एतदेव च ब्राह्म्यादिमातॄणां मातृत्वं तत्तस्य परिवारभावेन तिष्ठन्ति, विकल्पा हि चिद्रूपस्य जीवस्य परितो वारणात् परिवार एव, मातृशब्दो ह्यत्र परिवार-वाच्येव न जननीवाचकः। (ई० प्र० भा०, ३.१.१)

२. अत एव प्रत्याहारयुक्त्या अनुत्तरानाहताभ्यामेव शिवशक्तिभ्यां गर्भीकृतम्, एतदात्मकमेव विश्वम्, इति महामन्त्रवीर्यात्मनोऽहंविमर्शस्य तत्त्वम्।
(शिवसूत्र वि०, २. ७)

३. तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते।
द्विधा च नवधा चैव पञ्चाशद्धा च मालिनी ॥ (मा० वि०, ३. ९–१०)

दो प्रकार के भेद [1]बीज और योनि–'अ' से 'अः' तक के सारे स्वरसमुदाय को 'बीज' और 'क' से 'क्ष' तक के सारे व्यंजन-समुदाय को 'योनि' कहते हैं। [2]बीज से शिवभाग और योनि से शक्तिभाग का अभिप्राय है। व्याकरण में वर्णित संस्थानताके नियम से दोनों एक दूसरे में अन्तर्निहित हैं।

नव[3] प्रकार के भेद

१.	अवर्ग	'अ' से 'अः' तक	(अमा)
२.	कवर्ग	'क' से 'ङ' तक	(कामा)
३.	चवर्ग	'च' से 'ञ' तक	(चार्वङ्गी)
४.	टवर्ग	'ट' से 'ण' तक	(टङ्कधारिणी)
५.	तवर्ग	'त' से 'न' तक	(तारा)
६.	पवर्ग	'प' से 'म' तक	(पार्वती)
७.	यवर्ग	'य' से 'व' तक	(यक्षिणी)
८.	शवर्ग	'श' से 'ह' तक	(शारिका)
९.	क्षवर्ग	'क्ष'	(अनुत्तर एवं अनाहत के संघट्ट को अभिव्यक्त करनेवाला कूटबीज)

वर्गभेद के विषय में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वास्तव में वर्णसमाम्नाय के १ से ८ तक के ही वर्ग मुख्य हैं। 'क्ष' को मात्र औपचारिकता से ही एक पृथक् वर्ग में रखा गया है, क्योंकि इसका अन्तर्भाव 'क' और 'स' के रूप में पहले ही आठ वर्गों में हो जाता है। इन दो वर्णों का संयुक्त-रूप होने के कारण यह स्वयं कोई स्वतन्त्र वर्ण नही है। इसको अलग वर्गरूप में रखने का कारण केवल इतना है कि यह अनुत्तर वाचक 'ककार' और विसर्गवाचक 'सकार' का संयुक्तरूप एक [4]कूटबीज है जो कि इस बात को अभिव्यक्त करता है कि मातृका का प्रत्येक वर्ण, शिवभाग और शक्तिभाग का संघट्टरूप है। यही कारण है कि इसको शब्दराशि के अन्त पर रखा गया है।

पचास प्रकार के भेद—शब्दराशि के [5]प्रत्येक अक्षर को अलग-अलग शक्तिरूप

---

१. बीजयोन्यात्मकाद्भेदाद्द्विधा बीजं स्वरा मताः।
कादिभिश्च स्मृता योनिः.................. ॥ (मा० वि० ३. १०–११)

२. बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते ॥ (तदेव, ३. १२)

३. नवधा वर्गभेदतः ॥ (तदेव)

४. तदियत्पर्यन्तं यन्मातृकायास्तत्त्वं तदेव ककार-सकारप्रत्याहारेण, अनुत्तर-विसर्गसंघट्टसारेण कूटबीजेन प्रदर्शितमन्ते। (शिवसूत्र वि०, २. ७)

५. प्रतिवर्णविभेदेन शतार्धकिरणोज्ज्वला। (मा० वि०, ३. ११)

मानकर सोलह स्वरों और चौंतीस व्यंजनों के रूप में पचास भेदों की कल्पना की गई है।

वर्णसमाम्नाय के आठ वर्ग वास्तव में भेदभूमिका पर अवतीर्ण विमर्शशक्ति के ही आठ[1] रूप हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—'माहेशी, ब्राह्मी, कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री, याम्या, चामुण्डा और योगेशी'।

इन आठ शक्तियों को पारिभाषिक शब्दों में 'पीठेश्वरियाँ' कहते हैं। इनकी क्रिया द्विमुखी है। साधारण पशुओं के लिये ये प्रतिक्षण अधिकाधिक विकल्प-परम्पराओं को जन्म देती रहती हैं। ये अतीव भयजनक हैं और ब्रह्मरंध्र में वर्तमान चिद्-शक्ति को आड़ में रखकर, अनन्त प्रकार के स्थूल अर्थात् वाणी के द्वारा अभिलापात्मक और सूक्ष्म अर्थात् मानसिक संकल्प-विकल्पात्मक वाचकों और वाच्यों के इशारों पर, अज्ञानी जीवों को न जाने कितने और कैसे नाच नचवाती[2] रहती हैं।

दूसरी ओर जिन भाग्यशाली पुरुषों में ईश्वरीय अनुग्रह से सद्विवेक का उदय हुआ हो उनको ये इसी शब्दराशि में अन्तर्निहित शाक्तबल की अनुभूति करवा कर शिवभाव पर पहुँचाने में पथप्रदर्शन भी करती हैं। आखिरकार वाणी ही मनुष्य को मार भी लेती है और तार भी लेती है।

मातृका-शक्ति के ये उपर्युक्त आठ भेद केवल विषय को सुगम बनाने के लिये प्रधानरूप में स्वीकारे गयें हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि संसार में प्रतिक्षण वाच्य-वाचकात्मक विकल्प-परम्पराओं की जितनी भी अगणित श्रृंखलाओं की अनन्त कड़ियाँ प्रसर में आती हैं, वे तो शक्ति के ही अनन्त रूप हैं। अतः उनको यथावत् रूप में गिना नहीं जा सकता है।

यह अनन्त प्रकार का शक्तिवर्ग भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले प्रमाताओं को भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं का विषय बना लेता है। साधारणतया तीन गुणों के आधार पर प्रकृति तीन प्रकार की है अतः शास्त्रकारों ने तदनुकूल [3]कार्यभेद के अनुसार इस शक्तिवर्ग के भी तीन रूप स्वीकार किये हैं। इनका विवरण इस प्रकार है।

---

१. तदेव शक्तिभेदेन माहेश्वर्यादि चाष्टकम्। (मा० वि०, ३. १३)

२. करन्ध्रचितिमध्यस्था ब्रह्मपाशावलम्बिकाः।
पीठेश्वर्यो महाघोरा नर्तयन्ति मुहुर्मुहुः॥
(तिमिरोद्घाट शिवसूत्र, १.१४ में उदाहृत)

३. अनन्तस्यापि भेदस्य शिवशक्तेर्महात्मनः।
कार्यभेदान्महादेवि ! त्रैविध्यं समुदाहृतम्॥ (मा० वि०, ३.३०)

१. [1]**घोरतरा (अपरा)**—प्रधानतया तामसिक प्रकृतिवाले पशुवर्ग के लिये शक्तिवर्ग का रूप महान भयजनक है। यह उनको प्रतिसमय केवल कनक-कामिनी अथवा दूसरे प्रकार के सांसारिक विषयोपभोग की वारुणी पिला-पिला कर अचेत बना देता है और निरन्तर अधोगति की निचली सीढ़ी की ओर लुढ़काता रहता है।

२. [2]**घोरा (परापरा)**–प्रधानतया राजसिक प्रकृतिवाले पशुवर्ग के लिये शक्तियों का रूप घोर अर्थात् भयजनक ही है परन्तु घोरतर रूप जैसा भयंकर नहीं है। अभिप्राय यह कि इस स्तर पर अवस्थित व्यक्ति पर, यदि ईश्वरीय अनुग्रह हो तो वह अपना उद्धार भी कर सकता है। घोरा शक्तियाँ पशुओं के मन में मिश्रित (शुभ एवं अशुभ) कर्मफलों के प्रति आसक्ति उत्पन्न करती हैं और साधारणतया उनके लिये मुक्ति का द्वार बन्द ही रखती हैं।

३. [3]**अघोरा (परा)**—अनुभूतिशील एवं सात्विक प्रकृतिवाले योगियों के लिये शक्तिवर्ग का रूप अघोर अर्थात् अतीव सौम्य एवं कल्याणकारी है। जिस प्रकार यह राजसिक या तामसिक प्रकृतिवाले व्यक्तियों को तदनुकूल कर्मफलों की ओर प्रेरित करती हैं उसी प्रकार योगियों को शिवभाव पर पहुँचा देती हैं।

अब सूत्र में उल्लिखित 'कलासमूह' के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक है। अन्तर्विमर्श की अवस्था में अ, इ, उ, ऋ, लृ–ये पांच मूल-स्वर क्रमशः चित्, निर्वृत्ति, इच्छा, ज्ञान और क्रिया–इन पांच माहेश्वर शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। [4]बहिर्विमर्श की अवस्था में इन्हीं पाँच मूल स्वरों की अवतारणा क्रमशः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग के रूप में होती है। इन्हीं ककार आदि अक्षरों को पारिभाषिक शब्दों में 'कलासमूह' कहते हैं क्योंकि ये कलातत्त्व, विद्यातत्त्व इत्यादि मायीय प्रपञ्च का प्रतिनिधित्व करते हैं।

शास्त्रों में कलासमूह की परिगणना स्वरवर्ग को अलग छोड़कर 'क' वर्ण से आरम्भ करने का अभिप्राय यह है कि जब स्वर और व्यंजन पारस्परिक संमिश्रणा की अवस्था में पड़ जाते हैं तभी विकल्प परम्पराओं का क्षोभ उत्पन्न हो जाता है,

---

१. विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून्।
रुद्राणून्या समालिङ्ग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः॥ (मा० वि०, ३.३१)

२. मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति याः।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यास्ताः स्युर्घोराः परापराः॥ (तदेव, ३.३२)

३. पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः।
पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः॥ (तदेव, ३.३३)

४. बहिर्विमर्शेन तु कादिमान्तं पञ्चपञ्चकं अ, इ, उ, ऋ, लृ
शक्तिभ्यः पुरुषान्तं समस्तं प्रपञ्चयति॥ (शिवसूत्र वि०, २.७)

अन्यथा केवल स्वर या केवल व्यंजन अलग अलग किसी क्षोभ को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। इन दोनों के पारस्परिक संमिश्रण को शास्त्रीय शब्दों में बीजयोनि-संक्षोभ कहते हैं।

इस सारे प्रसङ्ग का निष्कर्ष यही निकलता है कि प्रत्येक शब्द केवल एक जड़ ध्वनिमात्र ही नहीं, अपितु स्पन्दमयी चेतना शक्ति है। प्रत्येक जीव तबतक इस शक्ति का दास है जबतक उसे अपने भोक्तृभाव की अनुभूति प्राप्त न हो ॥ ४५ ॥

[शक्ति का अवरोह और आवरणात्मक स्वभाव और क्रियाशक्ति का दो रूप]

अगले तीन सूत्रों में इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया जा रहा है कि स्वतन्त्र आत्मा में पूर्वोक्त स्वशक्ति-अज्ञान 'प्रत्ययोद्भव' के रूप में प्रकट हो जाता है। 'प्रत्ययोद्भव' ही त्रिविध मल है। इसी से शिव, शिवभाव से अवतीर्ण होकर, जड़ भाव की अन्तिम कोटि पृथिवीतत्त्व तक पहुँच जाता है—

परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः ।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः ॥ ४६ ॥

परामृतरसात् स्वरूपात् अपायः प्रच्युतिः, तस्य यः प्रत्ययोद्भवो विषय-दर्शने स्मरणोदयो यतः, तेन पुरुषोऽस्वतन्त्रताम् असर्वगत्वं च प्राप्नोति, स च प्रत्ययः तन्मात्रगोचरो रूपाद्यभिलाषात्मकः ॥ ४६ ॥

स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः ।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः ॥ ४७ ॥

स्वरूपस्य स्वभावस्याच्छादने चास्य पुरुषस्य शक्तयो ब्राह्म्याद्याः पूर्वमुक्ता याः, ताः सततम् उद्युक्ताः। यतः शब्दरहितस्य प्रत्ययस्य ज्ञानस्य नास्त्येव कस्यचिदुद्भवः ॥ ४७ ॥

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥ ४८ ॥

सा चेयं क्रियास्वभावा भगवतः पशुवर्तिनी शक्तिः। यदुक्तम्—

'न सा जीवकला काचित्सन्तानद्वयवर्तिनी ।
व्याप्त्री शिवकला यस्यामधिष्ठात्री न विद्यते ॥'

इति। सैव च बन्धकारणम् अज्ञाता, ज्ञाता सा च पुनः परापरसिद्धिप्रदा भवति पुंसाम् ॥ ४८ ॥

अनुवाद

सूत्र—(निर्विकल्प स्वरूप में) [1]विकल्पज्ञानों का उदित होना ही, उसका परामृतरस (शिवशक्ति सामरस्य) की पदवी से लुढ़क जाना है। इसी से वह अस्वतन्त्र बन जाता है। इसके (विकल्प ज्ञान के) विषय पाँच [2]तन्मात्र हैं ॥४६॥

वृत्ति—वह (स्वतन्त्र पतिप्रमाता) परामृतरस की पदवी से लुढ़क जाता है क्योंकि उसमें प्रत्ययोद्भव अर्थात् ग्राह्य विषयों की उपलब्धि होनेपर तद्विषयक [3]स्मरण का उदय हो जाता है। उससे वह पुरुष परतन्त्रता और असर्वव्यापकता की अवस्था पर पहुँच जाता है। प्रत्ययोद्भव के विषय तन्मात्र हैं। रूप इत्यादि के प्रति अभिलाषा का उत्पन्न होना, उस विषयता का स्वरूप है ॥ ४६ ॥

सूत्र—यह निश्चित है कि पूर्वोक्त शक्तियाँ (ब्राह्मी इत्यादि शक्तियाँ) इसके स्वरूप पर आवरण डालने के लिये प्रतिसमय उद्यत रहती है। इसका कारण यह है कि (स्थूल और सूक्ष्म) शब्दों की अनुस्यूतता के विना 'प्रत्ययोद्भव' संभव नहीं है ॥ ४७ ॥

वृत्ति पहले जिन ब्राह्मी इत्यादि शक्तियों का उल्लेख किया गया है वे इस पुरुष के स्वरूप अर्थात् स्वभाव को ढाँपने के लिये प्रतिसमय उद्यत रहती हैं। इसका कारण यह है कि शब्द की सहकारिता के विना किसी भी 'प्रत्यय' अर्थात् विकल्प ज्ञान का उत्पन्न होना संभव ही नहीं है ॥ ४७ ॥

सूत्र—यह (मातृका) वास्तव में शिव की वह क्रियाशक्ति ही है जो कि (बहिर्विमर्श की अवस्था में) पशुवर्तिनी (पशु में विद्यमान स्थूल क्रिया) बन जाने के कारण बन्धन में डाल देनेवाली है, परन्तु (इसके प्रतिकूल) अपने मार्ग पर (शिवमार्ग पर) अवस्थित होती हुई, वास्तविक रूप में ज्ञात होनेपर, सिद्धियाँ प्रदान करती है ॥ ४८ ॥

वृत्ति—यह (मातृका) वास्तव में भगवान की क्रियात्मक स्वभाववाली शक्ति ही है जो पशुवर्तिनी बन गई है। जैसा कहा गया है—

---

१. सूत्र में उल्लिखित 'प्रत्ययोद्भव' एक पारिभाषिक शब्द है। स्वशक्ति विरोध के फलस्वरूप विकल्पहीन स्वरूप में ज्ञेय विषयों से सम्बन्धित विकल्पज्ञानों का उदय हो जाने को 'प्रत्ययोद्भव' कहते हैं।

२. यहाँ पर 'तन्मात्र' शब्द से सारी प्राधानिक सृष्टि का अभिप्राय है।

३. यहाँ पर 'स्मरण' से स्मरण, संशय, भ्रम, अध्यवसाय, अनुमान, इत्यादि विकल्पज्ञानों की परम्परा का अभिप्राय है।

'दो [1]सन्तानों के रूप में चलनेवाली ऐसी कोई भी 'जीवकला' नहीं है जिसमें 'शिवकला' अधिष्ठात्री बनकर व्याप्त न हो ।।'

अतः वही (ईश्वरीय क्रियाशक्ति ही) अज्ञात होने की दशा में बन्धन का कारण है । परन्तु वास्तविक रूप में ज्ञात होने की दशा में मनुष्यों को पररूप और अपररूप सिद्धियाँ प्रदान कर देती है ।। ४८ ।।

विवरण

प्रस्तुत तीन सूत्रों में विमर्शरूपा स्पन्दशक्ति के बहिर्मुखीन प्रसार की क्रीडा का सूत्रात्मक रूप में वर्णन किया गया है । यह शाक्त-प्रसर तीन रूपों में प्रसृत होकर स्वतन्त्र को अस्वतन्त्र बना देता है । वे तीन रूप इस प्रकार हैं—

१. प्रत्ययोद्भव २. स्वरूप-आवरण ३. पशुवर्तिनी स्थूलक्रिया के रूप का ग्रहण ।

इन तीन रूपों को शास्त्रीय शब्दों में क्रमशः पूर्वोक्त आणवमल, मायीयमल और कार्ममल कहते हैं ।

शाक्त-प्रसर की क्रीडा बराबर चैतन्य की अनुत्तरकोटि 'शिवभाव' से लेकर जड़भाव की निम्नतमकोटि 'पृथिवीतत्त्व' तक चलती रहती है । शिव से लेकर पृथिवी तक छत्तीस तत्त्व हैं । इनमें सारा जड़चेतनात्मक विश्व अन्तर्भूत है । अतः प्रस्तुत सूत्रों में से पहले सूत्र के शब्दों से छत्तीस तत्त्वों का अभिप्राय भी निकलता है ।

इन सारी बातों को स्पष्टरूप में समझने के लिये प्रत्येक सूत्र पर अलग-अलग प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है ।

सूत्र ४६—

इस सूत्र में यह समझाया गया है कि बाह्य प्रसार की ओर उन्मुख होते ही शक्ति 'प्रत्ययोद्भव' के रूप में विकसित हो जाती है । विकल्पपरम्परा ही 'प्रत्ययोद्भव' का रूप होता है । इसका अभिप्राय यह है कि शिव की निजी अभिन्न स्वातन्त्र्यशक्ति ज्यों ही मायाशक्ति का रूप धारण कर लेती है त्यों ही उसमें (शिव में) अपनी पूर्णता और स्वतन्त्रता के विषय में शङ्का उत्पन्न हो जाती है । अपनी स्वतन्त्रता को अन्यथा रूप में समझना ही सबसे पहला 'प्रत्ययोद्भव' है । स्वतन्त्रता की डाँवाडोल परिस्थिति दो रूपों में स्फुरित होती है १. स्वतन्त्र-ज्ञातृता की हानि, (२) स्वतन्त्रकर्तृता का अबोध । दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी

---

१. जीवकला दो संतानों के रूप में चलती है—१. ज्ञानसन्तान और २. क्रिया-सन्तान । ज्ञानसंतान में मनस्, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्तःकरण और, क्रियासंतान में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और प्राणशक्ति अन्तर्भूत हैं । फलतः 'ज्ञानसन्तान' तीन प्रकार का और 'क्रियासन्तान' ग्यारह प्रकार का है । (द्रष्टव्य स्प० का०, ४.१८)

कहा जा सकता है कि स्वरूप से भिन्न ग्राह्यविषयों की उपलब्धि होते ही स्वतन्त्र आत्मा को अपने अनात्मविश्वास और अनात्मभूत शरीरादि पर आत्मविश्वास हो जाता है। यही तो सबसे बड़ा 'प्रत्ययोद्भव' है और यही मौलिक स्वातन्त्र्यहानि है। यही 'आणवमल' कहा जाता है।

प्रत्ययोद्भव के द्वारा स्वातन्त्र्य के संदेह में पड़ने के साथ ही आत्मा की सर्वतोमुखी अवरोहन-प्रक्रिया का उद्भव हो जाता है। चेतन ही जड़ बन जाता है; परावाणी ही स्थूल वैखरी-वाणी का रूप धारण कर लेती है। स्वतन्त्रज्ञातृता और कर्तृता ही संकुचित ज्ञान और क्रिया बन जाते हैं, इत्यादि। फलतः छत्तीस तत्त्वों का बहिर्मुख अवभासन सम्पन्न हो जाता है। इस सारी प्रक्रिया को सूत्रकार ने 'परामृतरसापाय' की संज्ञा दी है।

अभी ऊपर कहा गया है कि प्रस्तुत सूत्र के शब्दों में, छत्तीस तत्त्वों का अर्थ भी व्यंग्यरूप में अन्तर्निहित है। संक्षेप में वह इस प्रकार है :—

परामृत—१. अनुत्तर, अविनाशी, सर्वस्वतन्त्र, प्रकाशरूप शिव।

रस—२. शिव की अभिन्न अहंविमर्शमयी स्पन्दशक्ति। (इन दो तत्त्वों में द्वित्व औपचारिक है। वास्तव में यह एक ही शिवशक्ति-सामरस्य की अवस्था है। इसी को प्रकाश की प्रधानता से शिव और विमर्श की प्रधानता से शक्ति कहा गया है)।

परामृत—३. सदाशिव-तत्त्व।
-४. ईश्वर-तत्त्व।
५. शुद्धविद्या-तत्त्व।

(ये तीन तत्त्व भी 'परामृत' शब्द से ही वाच्य हैं क्योंकि यहाँ तक भी अभेद प्रथा उपजानेवाली तत्त्वरूपा माया का उल्लास नहीं हुआ होता है। हाँ इन तत्त्वों में पूर्वोक्त उन्मेष-निमेषात्मक उतार-चढ़ाव से ही पारस्परिक भेद माना जाता है)।

प्रत्ययोद्भव—६. माया–तत्त्व। ९. राग–तत्त्व।
७. कला–तत्त्व। १०. नियति–तत्त्व।
८. विद्या–तत्त्व। ११. काल–तत्त्व।

(ये छः तत्त्व भेदप्रथा को उपजानेवाली तत्त्वरूपा माया का प्रसार-रूप है। शास्त्रीय शब्दों में इनको 'षट्-कञ्चुक' भी कहा जाता है)।

अस्वतन्त्र—१२. पुरुष–तत्त्व।

(षट्-कञ्चुक में फँसा हुआ जीव अथवा शास्त्रीय शब्दों में 'पशु') अब आगे प्रत्ययोद्भव के विषयभूत तन्मात्रप्रपञ्च अर्थात् जड़ ग्राह्यवर्ग का उल्लेख एक ही शब्द के द्वारा किया गया है :—

तन्मात्रगोचरः—१३. प्रकृति–तत्त्व । २५. पायु–तत्त्व ।
१४. बुद्धि–तत्त्व । २६. उपस्थ–तत्त्व ।
१५. मनस्–तत्त्व । २७. शब्द–तत्त्व ।
१६. अहंकार–तत्त्व । २८. स्पर्श–तत्त्व ।
१७. श्रोत्र–तत्त्व । २९. रूप–तत्त्व ।
१८. त्वक्–तत्त्व । ३०. रस–तत्त्व ।
१९. नेत्र–तत्त्व । ३१. गन्ध–तत्त्व ।
२०. जिह्वा–तत्त्व । ३२. आकाश–तत्त्व ।
२१. घ्राण–तत्त्व । ३३. वायु–तत्त्व ।
२२. वाणी–तत्त्व । ३४. तेजस्–तत्त्व ।
२३. हस्त–तत्त्व । ३५. जल–तत्त्व ।
२४. पाद–तत्त्व । ३६. पृथिवी–तत्त्व ।

सूत्र ४७—

इस सूत्र में शक्ति के 'स्वरूप-आवरणात्मक' स्वभाव का वर्णन किया गया है। पहले भी इस तथ्य को समझाने का प्रयत्न किया गया है कि स्वरूप पर प्रतिसमय किसी न किसी प्रकार का आवरण डालकर, उसको आड़ में कर देना शक्ति का अकाट्य स्वभाव है। इस सम्बन्ध में यह दृष्टि में रखना आवश्यक है कि शिवभूमिका पर शक्ति का रूप अहंविमर्शमयी स्पन्दना अथवा पूर्णस्वातन्त्र्य है अतः उस भूमिका पर स्वरूपगोपन का प्रश्न ही नहीं उठता है। परन्तु ज्यों ही शक्ति बहिर्मुख होकर मायाशक्ति का रूप धारण करती है त्यों ही इसकी स्वरूपगोपनात्मक प्रक्रिया का आरम्भ हो जाता है। यही कारण है कि मायाशक्ति को शास्त्रों में, 'स्वरूपगोपन-व्यग्रा' अर्थात् स्वरूप को तिरोहित करने में व्यस्त, की संज्ञा दी गई है।

स्वरूप-आवरण को ही दूसरे शब्दों में मायीय-मल कहा जाता है, क्योंकि मायीय आवरणों के द्वारा आवृत होने के कारण से ही, शिव, अपने ही अङ्गभूत वेद्यपदार्थों को, स्वरूप से भिन्न समझने के संकोच की परवशता में पड़ जाता है।

इसके अतिरिक्त इसी सूत्र में उल्लिखित 'शब्दानुवेध' के विषय में यह समझना आवश्यक है कि संसार के प्रत्येक अर्थ के साथ उसके वाचकभूत शब्द का, नीर–क्षीर का जैसा संश्लेष शाश्वतरूप में वर्तमान है। शास्त्रीय शब्दों में इस प्रकार कहा जाता है कि प्रत्येक अर्थ (ज्ञेयविषय) प्रकाशरूप है और उसका वाचक शब्द उसके अणु-अणु में व्याप्त रहनेवाली विमर्शना है। शब्द ही प्रत्येक अर्थ को ज्ञान के रूप में सत्ता प्रदान कर देता है क्योंकि संसार में किसी ऐसे अर्थ या उसके ज्ञान का सद्भाव ही नहीं है जिसके साथ शब्द अर्थात् अभिलापात्मकता न हो। फलतः शब्द और अर्थ का साहचर्य साक्षात् शिव-शक्ति का संघटन ही है।

सूत्र ४८—

इस सूत्र में क्रियाशक्ति के दो रूपों का उल्लेख किया गया है (१) शिववर्तिनी क्रियाशक्ति और (२) पशुवर्तिनी स्थूल-क्रिया। इनमें से पशुवर्तिनी क्रिया बन्धन में डाल देनेवाली है और इसी को शास्त्रीय शब्दों में 'कार्ममल' कहते हैं। इस कथन का आशय निम्नलिखित विचारों को ध्यान में रखने से स्पष्ट हो सकता है—

शिव में जिस प्रकार ज्ञातृता है उसी प्रकार कर्तृता भी है। यह कहना ठीक होगा कि वास्तव में उसकी स्वतन्त्र इच्छा ही उसकी ज्ञातृता और कर्तृता भी है। अस्तु, शिवसम्बन्धिनी कर्तृता को 'शिववर्तिनी क्रियाशक्ति' कहते हैं। विमर्शमयी स्पन्दना ही इसका मात्र स्वरूप है। दूसरे शब्दों में इसको पारमेश्वरी निर्माण[१]शक्ति भी कहते हैं, क्योंकि यही वह शाक्तस्पन्दना है, जो [२]मूर्तिभेद से जनित देशक्रम और, क्रियाभेद से जनित कालक्रम से उपलक्षित, अनन्त प्रकार के शून्य, प्राण, पुर्यष्टक इत्यादि प्रमाताओं और उनके नील, सुख आदि ज्ञेयविषयों को स्वरूप से और एक दूसरे से भेदरूप में अवभासित करती है। इस प्रकार अनन्त वैचित्र्यों से परिपूर्ण विश्व का अवभासन ही, ईश्वर की 'निर्माणशक्ति' अथवा 'क्रियाशक्ति' है। यह [३]निर्माण भगवान की स्वतन्त्र इच्छा से ही यथावत् रूप में निष्पन्न हो जाता है और इसमें उसको किसी भी प्रकार के उपादान-संभार की अपेक्षा नहीं रहती है। वह ऐसी क्रिया का स्वयं ही स्वतन्त्र कर्ता है, क्योंकि वह ऐसे निर्माण को स्वयं जानता भी है। उसका ज्ञाता के रूप में स्फुरित होना ही स्वतः [४]क्रिया भी है।

शिववर्तिनी क्रियाशक्ति का कोई क्रम नहीं है क्योंकि इस अवस्था पर इसका वास्तविकरूप–'मैं [५]स्फुरित हो जाऊँ; मैं घूर्णित हो जाऊँ', इस प्रकार के देश-काल-क्रम से हीन 'अहंरूप इच्छास्पन्द' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

---

१. किन्तु निर्माणशक्तिः साप्येवं विदुष ईशितुः।
तथा विज्ञातृविज्ञेयभेदो यदवभास्यते ॥ (ई० प्र०, २.१.८)

२. स्वरूपभेदेन देशक्रमकारिणा क्रियाभेदेन च कालक्रमसंपादकेन उपलक्षितो यो विज्ञातुः शून्यादेः प्रमातुः भेदोऽन्योन्यं ज्ञेयाच्च, एवं घटादेः परस्परं ज्ञातुश्च स भगवता अवभास्यते, यत् तदवभासनं सा ईशितुरपि निर्माणशक्तिः क्रियाशक्तिः। (ई० प्र० वि०, २.१.८)

३. इच्छयैव भुवनानि भावयन् यः प्रियोपकरणग्रहोऽपि सन्।
अप्रियोपकरणग्रहोऽभवत्तं स्वशक्तिसचिवं शिवं स्तुमः ॥ (स्तु० कु०, १.१५)

४. यतश्च तन्निर्मितं ज्ञातृज्ञेयक्रियावैचित्र्यभेदम् असौ विद्वान् वेत्ति अविरतं तत्रैव, हि तत् स्फुरति ततोऽपि तस्य सा क्रियाशक्तिः' (ई० प्र० वि०, २.१.८)

५. ईश्वरस्यापि 'ईशे, भासे, स्फुरामि, घूर्णे, प्रत्यवमृशामि', इत्येवंरूपं यदिच्छात्मकं विमर्शनम् 'अहम्' इत्येतावन्मात्रतत्त्वं, न तत्र कश्चित् क्रमः। (तदेव)

[1]"चिन्मात्र भगवान की स्वतन्त्र इच्छात्मक स्फुरणा ही सारे विश्व की स्फुरणा है; स्वरूप की विमर्शना अर्थात् निजरूप की आनन्दमयता का आस्वाद लेना ही विश्व का आमर्शन है और अपने चिदानन्दरस की पूर्णता के कारण हिलकोरें लेना ही सारे भावमण्डल का उल्लसित होना है'।

अभी ऊपर कहा गया कि शिववर्तिनी क्रियाशक्ति का स्वरूप विमर्शात्मक स्पन्दना है। इस विषय में यह समझना आवश्यक है कि विमर्श के साथ अभिलापात्मकता का साहचर्य एक शाश्वत यथार्थ है। फलतः पारमेश्वर विमर्श के साथ भी अभिलापात्मकता अवश्य है परन्तु उस भूमिका पर वह भी तद्रूप ही है। भाव यह है कि उस पदवी पर 'अ' से 'क्ष' तक के ध्वनिसमुदाय का रूप भी 'अहंविमर्श' ही है, जिसको शास्त्रीय शब्दों में 'अव्यक्त-परावाणी' कहते हैं।

बाह्यप्रसार की प्रक्रिया में यह उपर्युक्त शिववर्तिनी और क्रमहीन क्रियाशक्ति ही पशुवर्तिनी स्थूल एवं सक्रम क्रिया का रूप धारण कर लेती है। पारमेश्वरी [2]क्रियाशक्ति स्वतन्त्र चेतनाशक्ति है, अतः अपने सामर्थ्य से अपने को ही, पशुभूमिका पर सक्रम स्थूल क्रिया के रूप में विकसित कर लेती है और अपने अक्रमस्वरूप पर सक्रम क्रियात्मक उपराग भी धारण करती है। स्वतन्त्र इच्छा तो स्वतन्त्र इच्छा है; जो कुछ भी करना चाहे कर लेती है।

वास्तव में पशुभूमिका पर भी प्रत्येक क्रिया का मूलरूप इच्छात्मक-स्पन्दना ही है, परन्तु यह स्पन्दना मानसिक संकल्प-विकल्प के रूप में होती है। यदि [3]सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो संसार के किसी भी प्राणी के हृदय में जो आन्तरिक इच्छा होती है वही बाह्य रूप में उसकी क्रिया होती है। जबतक यह मानसिक संवेदन के रूप में अवस्थित रहती है तबतक इसमें कोई क्रम नहीं होता है, क्योंकि वहाँ तक कहीं विच्छेद नहीं पड़ता है ज्यों ही यह [4]इच्छात्मक स्पन्दना, पञ्चभौतिक काया के द्वारा, बाह्य स्थूल-क्रिया के रूप में पर्यवसित होती है त्यों ही इस पर कालक्रम और

---

१. स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्विश्वमामृशसि रूपमामृशन्।
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम्॥
(शिव स्त्रो०; १३.१५)

२. अस्य क्रियाशक्तिः 'क्रमरूपक्रियानिर्माणसामर्थ्यं, क्रमरूपक्रियोपरागयोगश्च' इति।
(ई० प्र० वि०, २.१.८)

३. चैत्रमैत्रादेरपि पचामि इति यैव अन्तरिच्छा सैव क्रिया, तथा च अधिश्रयणादिबहुतरस्पन्दनसम्बन्धेऽपि पचामि इति नास्य विच्छिद्यते। यत्तु इच्छारूपं तदेव तथास्पन्दनात्मतया भाति। तत्र तु न कोऽपि क्रमः तत्त्वतः। (तदेव)

४. इच्छारूपं 'पचामि' इति स्पन्दनात्मतां कार्यपर्यन्तां गतं क्रमारुषितम् आभाति।
(ई० प्र० वि०, २.१.८)

तद्वारा देशक्रम का रंग चढ़ता है और परिणामतः अक्रम क्रियाशक्ति ही सक्रम स्थूलक्रिया बनती है। उदाहरणतः नाना प्रकार की पकाने, लिखने या पढ़ने इत्यादि क्रियाओं की मुलरूप इच्छात्मक-स्पन्दना में कोई तद्रूप क्रम नहीं होता है, परन्तु ज्यों ही वह कायिक व्यवहार में पर्यवसित हो जाती है त्यों ही उस पर 'मैं पकाता हूँ, मैं कल लिखता था; मैं अगले वर्ष शैवदर्शन पढ़ूँगा' इत्यादि रूपों में देहाभिमान और, तदनुकूल संकुचित कालक्रम और देशक्रम का उपराग चढ़ जाता हैं। स्थूल क्रिया की अभिलापात्मकता भी स्थूल ही होती है। यह [1]अभिलापात्मकता वही पूर्वोक्त अहंविमर्शमयी परावाणी ही पश्यन्ती और मध्यमा के मार्ग से वैखरी पदवी पर उतर कर 'अ' से 'क्ष' तक के स्थूल–वर्णसमुदाय (मातृका) के रूप में विकसित हुई हीती है। फलतः ऐसी स्थूल–अभिलापमयी और सक्रम पशुवर्तिनी क्रिया संसार के पशुवर्ग को पग–पग पर तथाकथित शुभ एवं अशुभ कर्मों की ग्राह्यता और हेयता की शङ्काओं के पाशों से जन्मजन्मान्तरों तक जकड़ कर रख देती है। स्थूल अभिलाप अथवा पारिभाषिक शब्दों में 'ककार' आदि स्थूल वर्णसमुदाय में अधिष्ठित ब्राह्मी इत्यादि पशुशक्तियों के द्वारा बुद्धि भेद में डाला गया पशु, प्रति-समय की जाने वाली स्थूलक्रियाओं के वास्तविक रूप को भूल कर, उनको केवल अपने देह, प्राण आदि के अभिमान के साथ जोड़कर ही करता रहता है।

सूत्र के अन्तिम चरण में इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि यदि किसी अलक्ष्य अनुग्रह से पशु में यह सद्ज्ञान उदित हो जाये कि वास्तब में सारी क्रियायें शिववर्तिनी क्रियाशक्ति का बहिर्मुखीन विकासमात्र हैं और 'मैं' अर्थात् 'मेरा शरीर, मेरी बुद्धि' इत्यादि इनके कर्ता नहीं हैं। तो उसके ये स्थूल क्रियात्मक पाश स्वयं ही छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यथार्थरूप में ऐसी अनुभूति प्राप्त कर लेने पर, वह जो कुछ भी करे, उसमें उसे शिवत्व की ही उपलब्धि होती रहती है॥ ४६–४८॥

[पूर्यष्टक]

पूर्वसूत्र में यह कहा गया है कि आत्मा को अपनी ही शक्ति, अज्ञात होने की अवस्था में बन्धन में डाल देती है। इस सम्बन्ध में अब अगले दो सूत्रों में यह समझाया जा रहा है कि वह बन्धन कैसा होता है और उससे आत्मा कैसी दुर्गति में पड़ जाती है :—

[2]तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिवर्तिना।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थं प्रत्ययोद्भवम्॥ ४९॥

---

१. इस विषय में द्रष्टव्य शिवसूत्रविमर्शनी का १–४

२. 'यहाँ पर पहले 'तन्मात्ररूप' ऐसा शव्दखण्ड लेकर उससे सूक्ष्मपुर्यष्टक (कारण शरीर) और फिर 'तन्मात्रोदयरूप' ऐसा शब्दखण्ड लेकर उससे स्थूल-पुर्यष्टक (पञ्चभौतिक स्थूल शरीर) का अभिप्राय समझना चाहिये।

तन्मात्रोदयः, तन्मात्राणां शब्दादीनाम् अनुभवरूपेण, मनोऽहंकारबुद्धिभिः इति त्रिभिः परामृश्यमानेन पुर्यष्टकेन बद्धः, तदुत्थं तस्मादुद्भूतं सुखदुःखसंवेदनरूपं तदा ॥ ४६ ॥

भुङ्क्ते परवशो भोगं तद्भावात्संसरत्यतः ।
संसृतिप्रलयस्यास्य कारणं संप्रचक्ष्महे ॥ ५० ॥

भुङ्क्ते अश्नाति, अस्वतन्त्रो भोगं सुखदुःखसंवेदनरूपं, तस्य पुर्यष्टकस्य भावात् संसरति संसारशरीरे, अतः संसृति प्रलयस्य जन्ममरणप्रवाहरूपस्य संसारस्य विनाशकारणं संप्रचक्ष्महे वक्ष्यामः ॥ ५० ॥

अनुवाद

सूत्र—(पशुभाव में पड़ा हुआ शिव) तन्मात्रों के ही रूपवाले सूक्ष्म और उनके कार्यरूप-स्थूल, तथा मनस्, अहंकार और बुद्धि इनके द्वारा परामर्श किये जाने वाले, पुर्यष्टक के बन्धन में पड़ा है । पुर्यष्टक से ही 'प्रत्ययोद्भव' को जन्म मिलता है । फलतः ॥ ४६ ॥

(वह) परवश बनकर सांसारिक भोगों को भोगता है । पुर्यष्टक की विद्यमानता से ही बार बार जन्मता और मरता है । इसलिये संसृति के बखेड़े को एक बार ही मिटा देने वाले कारण (उपाय) का वर्णन (अगले सूत्र में) करेंगे ॥५०॥

वृत्ति—'तन्मात्रोदयः' इस शब्द के दो खण्ड हैं—'(१) तन्मात्र और तन्मात्रोदय (क्रमशः सूक्ष्मपुर्यष्टक और स्थूल-पुर्यष्टक) । इसका अभिप्राय यह है कि (पशुभाव में पड़ा हुआ शिव) शब्द आदि तन्मात्रों की अनुभूति के ही रूपवाले, और मनस्, अहंकार और बुद्धि इन तीनों के द्वारा परामर्श किये जाने वाले, पुर्यष्टक के बन्धन में पड़ा है । पुर्यष्टक से ही सुखात्मक या दुःखात्मक संवेदना को जन्म मिलता है । फलतः—॥ ४६ ॥

(वह) अस्वतन्त्र बनकर, सुख और दुःख की संवेदना के रूपवाले भोगों को भोगता है । उस (पुर्यष्टक की विद्यमानता से संसार-शरीर में (पञ्चभौतिक काया में) संसरण करता है । अतः संसृति के नाश का अर्थात् जन्म-मरण के प्रवाहरूप संसार का नाश करने वाले कारण का वर्णन (अगले सूत्र में) करेंगे ॥ ५० ॥

विवरण

प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित तन्मात्र, पुर्यष्टक इत्यादि शास्त्रीय शब्दों का आंशिक पर्यालोचन पहले भी कुछ एक स्थानों पर किया गया है । कुछ बातें रह गई हैं । अतः यहाँ पर इन बातों का संक्षिप्त परन्तु यथा सम्भव सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत करना आवश्यक है क्योंकि तभी सूत्र का अभिप्राय समझने में सुगमता होगी ।

संसार में प्रत्येक प्राणी की काया के दो रूप होते हैं–(१) सूक्ष्म शरीर और (२) स्थूल शरीर । इनमें से सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर का कारणरूप और स्थूल

शरीर, सूक्ष्म शरीर का कार्यरूप होता है। सूक्ष्म-शरीर त्रिगुणमय मनस्, बुद्धि और अहंकार इन तीन अन्तःकरणों और, इनके द्वारा [1]संवेद्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच सूक्ष्म तन्मात्रों के योग से बना होता है। तन्मात्र अवस्था, शब्द आदि पाँच ज्ञेय विषयों की मूलभूत सामान्य अवस्था को कहते हैं। इस अवस्था में उनमें किसी प्रकार की [2]विशेषता उत्पन्न नहीं हुई है। उदाहरणतः [3]'गन्धतन्मात्र' गन्ध की उस सामान्य-अवस्था को कहते हैं। जिसमें अभी सुगन्ध, दुर्गन्ध, तीव्रगन्ध, मन्दगन्ध, तेल का गन्ध, इत्र का गन्ध, सड़ी लाश का गन्ध इत्यादि विशेषतायें प्रकट न हुई हों, अपितु सामान्य रूप में मात्र गन्धत्व की वर्तमानता हो। 'रस' इत्यादि के विषय में भी यही सिद्धान्त है। तन्मात्ररूप में वर्तमान शब्द आदि विषयों का बाह्य स्थूल इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है जब कि विशिष्टरूप में विकसित होने पर; बाह्य इन्द्रियों के द्वारा, इनका ग्रहण सहजरूपों में किया जा सकता है। ऐसे ही तन्मात्ररूप शब्द आदि पाँच ज्ञेय विषयों और, मनस् इत्यादि तीन अन्तःकरणों से बने हुये, सूक्ष्म शरीरर को पारिभाषिक शब्दों में 'सूक्ष्म-पुर्यष्टक' कहते हैं। दूसरे शब्दों में इनको 'वासना-पिंड' भी कहते हैं।

स्थूल-शरीर भी त्रिगुणमय मनस्, बुद्धि, अहंकार इन तीन अन्तःकरणों और इनके संवेद्यविषय तन्मात्रों के ही कार्यरूप आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इन पाँच स्थूलमहाभूतों के मिश्रण से बना हुआ होता है। सूक्ष्मतन्मात्र ही जब अपनी सामान्य-अवस्था को छोड़ कर विशिष्ट-अवस्था में अभिव्यक्त होते हैं तब स्थूल, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध कहलाते हैं और इन्हीं के कार्य स्थूल-पञ्चमहाभूत होते हैं। फलतः स्थूलभूतों की मूलावस्था भी तन्मात्र ही होते हैं। [4]स्थूलभूतों का रूप धारण करते समय, ये तन्मात्र आपस में एक निश्चित क्रम के अनुसार मिल जाते हैं। वह क्रम इस प्रकार है—

---

१. एषां ग्राह्यो विषयः सूक्ष्मः प्रविभागवर्जितो यः स्यात्।
तन्मात्रपञ्चकं तत् शब्दः स्पर्शो महो रसो गन्धः॥ (प० सा०; २१)

२. अनुद्भिन्नविशेषतया सा गन्धादिरेव केवलस्तन्मात्र इत्युक्तम्॥
(तं० वि०; ६.२८१)

३. पृथिव्यां सौरमान्यादि विचित्रे गन्धमण्डले।
यत्सामान्यं हि गन्धत्वं गन्धतन्मात्रनाम तत्॥
(तं० ६, २८०. ८१)

४. एतत्संसर्गवशात् स्थूलो विषयस्तु भूतपञ्चकताम्। अभ्येति नभःपवनस्तेजः सलिलं च पृथिवी च। (प० सा०, २२)
द्रष्टव्य इसी कारिका की विवृति भी।

	सामान्य रूप	विशेषरूप
१.	शब्द–तन्मात्र	शब्दगुणवाला स्थूल आकाश ।
२.	शब्द–स्पर्श तन्मात्र	स्पर्श गुण वाला स्थूल वायु ।
३.	शब्द–स्पर्श–रूप तन्मात्र	रूप गुण वाला स्थूल तेज ।
४.	शब्द–स्पर्श–रूप–रस तन्मात्र	रस गुण वाला स्थूल जल ।
५.	शब्द–स्पर्श–रूप–रस गन्ध तन्मात्र	गन्ध गुण वाली स्थूल पृथिवी ।

स्थूलशरीर में इन पाँच महाभूतों की अवस्थिति निम्नलिखित प्रकार से मानी जाती है—

१. नाडियों इत्यादि के पोले भाग जिनके मध्य में शून्य अवकाश होता है; आकाश के रूप में 'शब्द-तन्मात्र' की अभिव्यक्ति हैं ।
२. पाँच स्थूल प्राण, वायु के रूप में 'स्पर्श-तन्मात्र' की अभिव्यक्ति हैं ।
३. गर्मी चमक और आकार इत्यादि, तेज के रूप में 'रूप-तन्मात्र' की अभिव्यक्ति हैं ।
४. खून पसीना इत्यादि तरल पदार्थ, जल रूप में 'रस-तन्मात्र' की अभिव्यक्ति हैं ।
५. शरीर में पाये जाने वाले विभिन्न गन्धों के अतिरिक्त कठिन हड्डियाँ; मांस के लोथड़े इत्यादि, पृथिवी के रूप में 'गन्ध-तन्मात्र' की अभिव्यक्ति हैं ।

अब यह बात स्पष्ट हो गई कि पञ्चभौतिक काया भी पुर्यष्टक ही है क्योंकि इसके आधार भी वही पाँच तन्मात्र और तीन अन्तःकरण हैं । हाँ सूक्ष्म-तन्मात्रों का स्थूल कार्यरूप होने के कारण इसकी (काया की) स्थूल-पुर्यष्टक की संज्ञा दी गई है। इन्हीं दो प्रकार के शरीरों को दूसरे शब्दों में क्रमशः भावात्मक और भूतात्मक शरीर कहते हैं । इनके विषय में पहले ही उल्लेख हो चुका है ।

स्थूल-पुर्यष्टक अल्पकालावस्थायी है अतः प्रत्येक मरने के समय सूक्ष्मशरीर इसको छोड़कर दूसरे भूतशरीर को धारण कर लेता है । सूक्ष्मशरीर तब तक आत्मा का पिंड नहीं छोड़ता है जब तक उसको स्वरूप-ज्ञान प्राप्त न हो । संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त है कि सूक्ष्म शरीर आठ प्रकार की शलाकाओं से निर्मित एक पिंजरा है जिसमें आत्मा नामक विहङ्गम महती रुचि से बैठा रहता है क्योंकि स्वनिर्मित विषयोपभोग की द्राक्षा का आस्वादन, उसमें, मुक्ताकाश की स्वच्छन्दमयी भूमिका की विस्मृति उत्पन्न करा देता है । साथ ही यह शरीररूपी पिंजरा केवले पिंजरा ही नहीं है, अपितु आत्मा को एक स्थूल-शरीर से दूसरे में पहुँचाने वाला वाहन भी है।

उपर्युक्त तथ्यों की पृष्ठभूमि पर, सूत्रकार का यह कथन ठीक ही है कि वास्तव में पुर्यष्टक ही आत्मा का बन्धन है और, यही उसको स्वरूप-लाभ होने तक शतशः बुर्गतियों में डाल देता है ॥ ४९–५० ॥

[चक्रेश्वरता की उपलब्धि]

अब अगले सूत्र में संसृति के टंटे को सदा-सर्वदा के लिये समाप्त कर देने वाले कारण का वर्णन किया जा रहा है :—

यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोदयौ ।
नियच्छन्भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥ ५१ ॥

यदा पुनस्त्वेकत्र स्थूले सूक्ष्मे वा संरूढो लीनचित्तः, तदा तस्य प्रत्ययोद्भवस्य लयोद्भवौ ध्वंसप्रादुर्भावौ नियच्छन् कुर्वन् भोक्तृतां प्राप्नोति । ततः चक्रेश्वरो भवेत् सर्वाधिपतिर्भवति ॥ ५१ ॥

अनुवाद

सूत्र—जब (साधक) इनमें से (स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकों में से) किसी एक में भी अवस्थित होता हुआ ही चित्त को लीन करके, अन्तःबहिःएकाकार-स्पन्दतत्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है तब स्वतन्त्रतापूर्वक, उसके (प्रत्ययोद्भव के), सृष्टि और संहार को सम्पन्न करता हुआ, (अपनी खोई हुई) भोक्तृभाव की पदवी पर पहुँच जाता है । अनन्तर शक्तिचक्र का ईश्वर (पूर्ण-शिव) बन जाता है ॥ ५१ ॥

वृत्ति—जब स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकों में से किसी एक में भी अवस्थित होता हुआ ही, अपने चित्त को स्पन्दतत्त्व में लीन कर लेता है तब उस प्रत्ययोद्भव के संहार और सृष्टि को स्वतन्त्रता पूर्वक सम्पन्न करता हुआ, (खोये हुये) भोक्तृभाव को प्राप्त कर लेता है । अनन्तर चक्रेश्वर बन जाता है अर्थात् सारे शक्तिचक्र का अधिपति (संयोजन और वियोजन का स्वतन्त्र कर्ता पूर्ण-शिव) बन जाता है ॥ ५१ ॥

विवरण

प्रस्तुत सूत्र जहाँ एक ओर इस सारे स्पन्दशास्त्र का उपसंहार-सूत्र है वहाँ दूसरी ओर इसका संग्रह-सूत्र भी है । सूत्र के साथ साथ इस सारे स्पन्द-प्रकरण का आद्योपान्त मनन एवं अनुसंधानात्मक पर्यालोचन करने पर, कोई भी पाठक सहज ही में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँच सकता है ।

[1]'विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक रूप में केवल एक ही सर्वस्वतन्त्र चेतनसत्ता विद्यमान है । वह सत्ता प्रकाशरूप शिव और उसकी अभिन्न विमर्शशक्ति की समरस-अवस्था हैं । शक्ति ही शिव है और शिव ही शक्ति है । अहंविमर्शमय स्पन्द ही

१. ग्रन्थ के प्रारम्भिक सूत्र, विशेषकर पहला सूत्र ।

शक्ति का स्वरूप है। यह सारा नामरूपात्मक व्यक्त विश्व शिव की बहिर्मुखीन शाक्त-स्पन्दना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यद्यपि अभेद भूमिका पर पूर्णाहन्तारूप स्पन्दशक्ति एक ही है तथापि वह बहिर्मुखीन भेदभूमिका के अवभासन करने का शाश्वत स्वभाव होने के कारण, स्वतन्त्रता से, सामान्यभूमिका से विशेषभूमिका पर उतर कर, अनन्त भावात्मक और भूतात्मक रूपों में स्पन्दायमान है। इसके ये अनन्त विशेष-स्पन्द ही विश्व के अनन्त चेतन और जड़ भाव हैं। इन्हीं अनन्त शाक्त-स्पन्दों को शास्त्रीय शब्दों में 'शक्तिचक्र' कहते हैं। शिव अपनी इच्छात्मक विमर्शना से ही प्रतिसमय इस शक्तिचक्र के [1]संयोजन और वियोजन (निमेषोन्मेष) के रूप में, सारे भाववर्ग के, सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान एवं अनुग्रह, इन पाँच कृत्यों को युगपत् और स्वतन्त्रता से करता रहता है। फलतः वह इस सम्पूर्ण शक्ति-चक्र का स्वतन्त्र अधिपति होने के कारण '[2]चक्रेश्वर' है।

[3]शिव और पशु में कोई मौलिक स्वरूपगत भेद नहीं है। शिव अपनी शक्ति के द्वारा उद्भासित पुर्यष्टक में अपने ही आप को बन्दी बनाकर पशु बना है। इस अवस्था में पड़कर वह स्वरूप को पूर्णतया भूल जाने के कारण अविवेकी, असहाय और परवश बना है। उसको पुर्यष्टक का भूत इस प्रकार से चिमट गया है कि वह आविष्ट जैसा बन कर, इसी को वास्तविक स्वरूप समझता हुआ, सांसारिक विषयोपभोग के मधुमिश्रित हलाहल को मजा ले लेकर पी रहा है और इसके जन्ममरणरूप कटु परिणाम को परवश बनकर भोग रहा है। ऊपर से ब्राह्मी इत्यादि पशुशक्तियों का वर्ग इसको, स्थूल एवं सूक्ष्म अभिलाषात्मक विकल्प परम्पराओं में पग-पग पर उलझा कर, स्वरूप-चिन्तन से दूर रखने पर तुला हुआ है। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि इसने अपने भोक्तृभाव के चिन्तामणि को भोग्यभाव की कौड़ियों के दाम बेच डाला है। कितना दुःख, कितना अज्ञान और कितनी विडम्बना है?

[4]पशुशक्तियों से अधिष्ठित पुर्यष्टक (वासनापिंड) से पिंड छुड़ाकर, अपनी इच्छा से ही खोयी हुई चक्रेश्वरता को प्राप्त कर लेना ही मानवजन्म का मुख्य उद्देश है। इस प्रकार की अर्थसिद्धि संसार के आघात-प्रतिघातों से भागकर, दिन

१. द्रष्टव्य तन्त्रालोक नवम आह्निक और ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के ज्ञानाधिकार में आभासवाद।

२. द्रष्टव्य तंत्रलोक का चौथा आह्निक।

३. ग्रन्थ के मध्यवर्ती सूत्र, विशेषकर निम्नलिखित सूत्र—'निजाशुद्धयासमर्थस्य', 'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः', 'अप्रबुद्धधियः', 'शब्दराशिसमुत्थस्य', 'तन्मात्रोदयरूपेण'॥

४. प्रस्तुत सूत्र में वर्णित उद्देश।

रात केवल पुर्यष्ट का दुःखड़ा रोते रहने से ही सम्भव नहीं हो सकती है, अपितु जीवनक्षेत्र में सारे व्यवहार करते करते और पुर्यष्टक में रहते रहते ही लगातार, अहंविमर्शात्मक अनुसन्धान के द्वारा, संसार, पुर्यष्टक, मल, अज्ञान, बन्धन, संकोच इत्यादि सारे जड़-चेतन भावों में, केवल और केवल, शाश्वत-स्पन्दमयी स्वरूपसत्ता की व्यापकता की यथार्थ अनुभूति प्राप्त करने से ही सम्भव हो सकती है। निर्मल एवं चिद्-रूप विश्वात्मभाव प्राप्त कर लेने पर कोई भी तथाकथित बन्धन, [१]बन्धन नहीं रहता है। इस भाव को प्राप्त करने के लिए संकल्प-विकल्पात्मक चित्त को 'चित्-शक्ति' में ही निलीन करना आवश्यक है।

निरन्तर तीव्र-अनुसन्धान के द्वारा स्वरूप-अनुभूति को प्राप्त करनेवाले सुप्रबुद्ध योगी, अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार कितने ही पुर्यष्टकों, प्रत्ययोद्भवों या दूसरे द्वन्दात्मक भावों के सृष्टि-संहार की क्रीडा स्वयं सम्पन्न करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं अतः वे इनके भोग्य न बन कर भोक्ता बन जाते हैं।

भोक्तृभाव की स्थिर उपलब्धि ही 'चक्रेश्वरता' की उपलब्धि है। यही शिवत्व की प्राप्ति है। यही जन्म-मरणरूप संसृति का अन्त है ॥ ५१ ॥

शैवशास्त्रों में गुरुशक्ति का महत्व मुक्तकंठ से स्वीकारा गया है। स्वरूप-अनुभूति के विषय में बड़ी पोथियाँ पढ़ने अथवा लम्बे व्याख्यान सुनने पर भी, मानव-पशु के संशयग्रस्त मन को तब तक संतोष प्राप्त नही हो सकता है जब तक अनुग्रहमूर्ति गुरु-रूप में अवतीर्ण होकर, स्वयं, उसके अन्धकारावृत हृदय को लोकोत्तर प्रकाश-पुञ्ज से प्रकाशित न करे। अतः उस महामहिमामयी गुरुशक्ति के समाने नतमस्तक होना आवश्यक है :—

[गुरुभारती की वन्दना]

अगाधसंशयाम्भोधिसमुत्तरणतारिणीम् ।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ॥ ५२ ॥

अगाधो ह्यप्रतिष्ठोऽनन्तः ॥ ५२ ॥

अनुवाद

सूत्र—मैं उस, विचित्र शब्दों और अर्थों से युक्त एवं अतीव अद्भुत, गुरु-वाणी की वन्दना करता हूँ जो कि गहरे और अपार संशय-सागर के पार उतारने वाली नैयी है ॥ ५२ ॥

वृत्ति— अगाध अर्थात स्वतः निराधार होने पर भी, अंतहीन ॥ ५२ ॥

१. यो निश्चयः पशुजनस्य जडोऽस्मि कर्मसंपाशितोऽस्मि मलिनोऽस्मि परेरितोऽस्मि ।
इत्येतदन्यदृढनिश्चय लाभसिद्धया सद्यः पतिर्भवति विश्ववपुश्चिदात्मा ॥
(तं० सा०, ४ आह्निक)

विवरण

प्रस्तुत सूत में वृत्तिकार ने 'अगाध' शब्द के 'अप्रतिष्ठ' और 'अनन्त' ये पर्याय देकर आशय अभिव्यक्त किया है कि वास्तव में संशय नामक किसी वस्तु का सद्भाव ही नहीं है। कारण यह है कि अज्ञान ही दूसरे शब्दों में संशय है और गुरु-कृपा से मन में शुद्ध-विद्या का उदय होते ही सारे संशय स्वयं निवृत्त हो जाते हैं। पशु-भूमिका पर जब तक मन में सद्-ज्ञान का उदय न हो तब तक ही संशय-सागर का अन्तहीन विस्तार मानवों को दिग्भ्रम में डाल देता है। फलतः इसकी अन्तहीनता केवल तथाकथित है, वास्तविक नही।

ऐसा लगता है कि वृत्तिकार को 'अगाध' शब्द से ऐसे दो अर्थ लिखने की प्रेरणा इसके दो प्रकार के विग्रहों से मिली है जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट किया जा रहा है :

१. अगाध—(न अस्ति गाधो विश्रान्ति भूमिका यस्य) जिसकी अपनी कोई आधारभूत टिकान नहीं है।

२. अगाध—(न अस्ति गाधो विश्रान्ति भूमिका यस्मिन्) जिसमें कहीं भी दम भरने के लिये कूल-किनारा नहीं है।

ऐसे दुष्पार संशय-सागर को पार करने के प्रति उत्सुक व्यक्तियों के लिये, सारे अभिमानों को छोड़ कर, केवल सद्-गुरुओं के चरण-कमलों की सेवा करना प्रथम कर्तव्य है॥

इति श्रीभट्टकल्लट विरचितायां स्पन्दकारिकावृत्तौ
'विभूतिस्पन्दः' तृतीयो निःष्यन्दः॥

श्रीमान् भट्टकल्लट के द्वारा विरचित स्पन्दकारिका वृत्ति का
'विभूति-स्पन्द' नामक तीसरा निःष्यन्द समाप्त हुआ।

[1]गुरुशक्तिर्जयत्येका मद्रूपप्रविकासिका।
स्वरूपगोपनव्यग्रा शिवशक्तिर्जिता यया॥

—इति शिवम्—

परिपूर्णेयं 'स्पन्दवृत्तिः' कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्य
भट्टश्रीकल्लट पादानाम्॥

परम आदरणीय, महामाहेश्वराचार्य श्रीमान् भट्टकल्लटपाद की
प्रस्तुत 'स्पन्दवृत्ति' पूर्ण हो गई।

---

१. ई० आ० गुरुस्तुति (वाराणसीय श्री रामेश्वर झा द्वारा निर्मित)

परिशिष्ट I

सूत्रों की अनुक्रमणिका

परिशिष्ट II

पारिभाषिक शब्दों की अनुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कल्लहवृत्ति	कल्लटवृत्ति	१	शीर्षक
कौमारी, ऐन्द्री	कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री	९	१९
निरोधऽस्ति	निरोधोऽस्ति	१२	१६
अवभासित)	अवभासन)	१२	२३
१. स्वप्न	२ स्वप्न	२०	१
अवस्था के	अवस्थाता के	२१	१९
सूत्र २ और १२	सूत्र ९ और १९	२८	१२
वेद	वेद्य	३२	१२
शक्ति	शान्ति	४५	शीर्षक
,,	,,	४५	८
,,	,,	४७	शीर्षक
,,	,,	४९	शीर्षक
विधान	विद्यान	५०	५
शक्ति	शान्ति	५१	१
१	३	५२	७ फुटनोट
२	४	५२	८ ,,
अनन्ह्यमुखापेक्षी	अनन्यमुखापेक्षी	५६	१५
अलग-फलग	अलग-थलग	५८	१०
अनिस्तित्व	अनस्तित्व	७७	६
अवस्थाओं ने	अवस्थाओं में	८८	२०
क रूप	के रूप में	८९	२१
प्रस्तृत	प्रस्तुत	९०	८
प्रतिष्ठा	प्रतिष्ठित	१०२	३२
आदा-प्रदान	आदान-प्रदान	१०३	९
आते हैं उस	आते हैं कि उन	१०३	१०
स्वन्दरूप	स्पन्दरूप	११२	५
विधान	पिधान	११९	२९ फुटनोट
स्वस्धरूप	स्वस्वरूप	१२२	१८
स्थितम्	स्थितान्	१२७	२२
ऊल-जजूल	ऊल-जलूल	१३०	११
लक्षमा	लक्षणमा	१३५	१९
देते हैं	देती है	१४१	९
सौरभ-संसार	सौरभ-संभार	१४२	१९
बुर्गतियों	दुर्गतियों	१६५	३
विधान	पिधान	१६६	९
निर्मित	रचित	१६८	३० फुटनोट

—:o:—

विज्ञान-भैरव

व्रजवल्लभ द्विवेदी

आज की भाषा में योगशास्त्र को धर्मनिरपेक्ष शास्त्र कहा जा सकता है क्योंकि इसमें धर्म, लिंग, जाति आदि भेदभाव के बिना ही मानवमात्र के शारीरिक परिष्कार के साथ-साथ मन के भी परिष्कार का मार्ग दिखाया गया है। आधुनिक युग के दार्शनिक मनीषी श्रीगोपीनाथ कविराज को योगशास्त्र के तीन ग्रंथ परम प्रिय रहे हैं : १––पातंजल योगसूत्र का व्यासभाष्य, २––विज्ञान-भैरव और ३––विरूपाक्ष-पंचाशिका। प्रत्येक भारतीय दर्शन की अपनी योगविधि है और अपने चरम लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए उसका आचरण आवश्यक माना गया है। इन योगविधियों की पृथक् सत्ता रहते हुए भी इनमें अद्‌भुत साम्य है। विज्ञान-भैरव भारतीय मनीषा के द्वारा बटोरी गई इन सभी उत्कृष्ट मणियों का एक उज्ज्वल संग्रह है। इस ग्रन्थ में वर्णित ११२ धारणाओं में प्रायः सभी पूर्ववर्त्ती यौगिक पद्धतियों का उल्लेख समाविष्ट है। योगवासिष्ठ के समान यह भी मुख्यतः अनुपाय प्रक्रिया या सहज योग का प्रतिपादक ग्रंथ है

"स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा" सरीखे आगमिक एवं तान्त्रिक दर्शन के प्रतिपादक वाक्यों के सहारे अपने में विश्वाहन्ता का विकास कर अरविन्द जैसे महायोगी इसी धरती पर दिव्य मानवता के अवतार की बात कहते हैं और मनीषी गोपीनाथ कविराज अखण्ड महायोग के माध्यम से इस स्थिति को लाना चाहते हैं। पुरुषार्थ की महत्ता के प्रतिष्ठापक योगवासिष्ठ सरीखे और विश्वाहन्ता का उपदेश देने वाले विज्ञान-भैरव सरीखे योगशास्त्र के ग्रन्थ उनके इस कार्य में सहायक रहे हैं।

प्रसिद्ध समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्रदेव ने संस्कृति को चित्तभूमि की खेती बताया है। योगशास्त्र भी वस्तुतः चित्तभूमि की खेती ही है। इसकी सहायता से प्राच्य और पाश्चात्य प्राचीन और नवीन में समन्वय स्थापित कर एक विश्वसंस्कृति का निर्माण किया जा सकता है।

(अजिल्द) २० (सजिल्द) ३५

पातञ्जलयोगदर्शनम्

स्वामी हरिहरानन्द आरण्य

स्वामी हरिहरानन्द का 'बंगला-योगदर्शन' पातञ्जल योग-सूत्र के व्यास भाष्य का बंगला रूपान्तर है। प्रस्तुत कृति स्वामी जी के शिष्यों द्वारा किये गए हिन्दी रूपान्तर का संशोधित संस्करण है जिसमें डा० रामशंकर भट्टाचार्य ने आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन भी किया है।

काल और देश पर परिशिष्ट के साथ विशिष्ट शब्दों और विषयों की अनुक्रमणी भी जोड़ दी है। (अजिल्द) २० (सजिल्द) ३०

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना